

शिक्षा

१

सिद्धान्त

तत्त्वज्ञानिक

एवं

सामाजिक

प्रस्तावना

शिक्षा के सिद्धान्त

[दार्शनिक एवं सामाजिक]

शिक्षा के सिद्धान्त

[दार्शनिक एवं सामाजिक]

The Bases of Education

A Philosophical and Sociological approach

डा० धीरेन्द्र वर्मा पुस्तक-संग्रह

डा० प्रेमनाथ एम० ए०, पी० एच० डी०

अध्यक्ष, दर्शन विभाग, पंजाब युनिवर्सिटी

न. क. प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित



प्रथम संस्करण : १९६९



कापीराइट
डॉ० प्रेमनाथ



इण्डियन प्रेस प्रा० लिमिटेड
३६, पन्नालाल मार्ग,
इलाहाबाद-२ द्वारा मुद्रित

मूल्य : १०००

विद्यार्थी संस्करण : ७.५०

सम्मति ।

“प्रकाशक द्वारा भेजी गई आपकी पुस्तक ‘शिक्षा के सिद्धान्त’ (दी बेसिज़ ऑव एजुकेशन) की एक प्रति प्राप्त हुई जिसके लिए मैं आभारी हूँ। समस्त ग्रंथ को मैंने बड़ी तन्मयता से पढ़ा है—जो वस्तुतः अत्यंत ही प्रशंसनीय कार्य है। मुझे लगता है कि यह पुस्तक अद्वितीय है। मुझे विश्वास है कि यह विद्यार्थियों के लिए उपादेय एवं रुचिकर प्रतीत होगी। समस्त सामग्री का सांगोपांग ढंग से प्रस्तुतीकरण उन समस्याओं से सीधा सम्बन्धित है जिनका सामना सभी विद्यालयों को आजकल करना पड़ रहा है। इस सम्बन्ध में आपकी सिद्धहस्तता अत्यंत सराहनीय है। आपने शैक्षिक कार्यपद्धति की किंचित् महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक प्रकाश डालने का सफल प्रयास किया है। विषय-सामग्री का कार्य-क्षेत्र एवं चयन तथा उसके अध्यापन के ढंग—दोनों ने मुझे भावाभिभूत कर दिया है। अपने विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करते समय मुझे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

यूनिवर्सिटी ऑव लन्दन इन्स्टीच्यूट
ऑव एजुकेशन
लन्दन ।

जे० ए० लाअरेज़
प्रोफेसर ऑव एजुकेशन

दो शब्द ।

‘शिक्षा के सिद्धान्त’—डॉ० प्रेमनाथ जी द्वारा लिखित ‘दी बेसिज़ ऑव एजुकेशन’ का हिन्दी रूपान्तरण है जिसमें शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्तुत अनेकानेक दार्शनिक एवं सामाजिक समस्याओं का विवेचन सरल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत ग्रंथ मूल पुस्तक का मात्र उल्था नहीं है अपितु विचारों एवं भावों के सही प्रस्तुतीकरण के लिए शाब्दिक अनुवाद से बिलगाव की प्रवृत्ति को अपनाया गया है। अत्यधिक प्रचलित अंग्रेजी के शब्दों को कहीं-कहीं वैसा ही अपना लिया गया है, जिसके बिना भावों की गहराई एवं जटिलता तक पहुँच पाना सम्भव नहीं था। आशा है हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत यह ग्रंथ शैक्षिक जगत में उचित सम्मान का अधिकारी होगा जिससे दार्शनिक एवं सामाजिक शैक्षिक समस्याओं से जानकारी की इच्छा रखने वाला विद्यार्थी अपनी ज्ञान-पिपासा को शांत कर सकेगा।

दार्शनिक एवं सामाजिक विचारधारा के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा से युक्त जिज्ञासुओं के लिए प्रस्तुत ग्रंथ का प्रणयन किया गया है। इस पाठ्य-पुस्तक में बी० टी०, बी० एड० एवं एम० एड० की कक्षाओं में निर्धारित पाठ्य-क्रम को सामने रखा गया है और तत्सम्बन्धी सभी समस्याओं पर सूक्ष्म रूप से विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। समस्याओं के समाधान में ऊपरी-स्तर पर चिंतन से बिलगाव रहा है—इसीलिए गम्भीरतापूर्वक किए गए विश्लेषण से विषय के प्रतिपादन में कहीं-कहीं अधिक सूक्ष्मता आ गई है। इससे पाठकवृन्द को कहीं-कहीं कठिनाई का सामना भी करना पड़ेगा परन्तु यदि वे सूक्ष्म विषय-वस्तु सम्बन्धी अध्यायों को छोड़ सर्वप्रथम अन्य अध्यायों का अध्ययन करेंगे तो समस्त प्रयास सहज हो जाएगा।

प्रस्तुत ग्रंथ में शैक्षिक क्षेत्र में नवीनतम प्रयोगों के आधार पर उपलब्ध निष्कर्षों का भी सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिससे शिक्षण-क्षेत्र का विद्यार्थी बदलते हुए संदर्भों में शैक्षिक प्रवृत्तियों का सही-सही अन्दाज़ लगा सकता है। पुस्तक की उपादेयता तथ्यों के प्रस्तुतीकरण, उनके वस्तुपरक दृष्टि से विश्लेषण में निहित है—इसलिए प्रयत्न यह रहा है कि समस्याओं के दोनों पहलुओं को पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना। इस दृष्टि से यह पाठ्य-पुस्तक न केवल विश्वविद्यालयीय विभिन्न शैक्षिक परीक्षाओं के ही लिए उपयोगी सिद्ध होगी अपितु तथ्यों से जानकारी प्राप्त करने में भी सहायक होगी—जिससे पाठकवृन्द की अनेकानेक समस्याओं का समाधान हो सकेगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

विषय-सूची

अध्याय

पृष्ठ-संख्या

१. दर्शन तथा शिक्षा का सम्बन्ध

९-५१

दर्शन से तात्पर्य—दर्शन-शास्त्र तथा विज्ञान का सम्बन्ध—ज्ञान-मीमांसा अथवा ज्ञान का सिद्धान्त—इंद्रिया-नुभववाद—तर्कबुद्धिवाद या हेतुवाद—ऐन्द्रिय-तर्कबुद्धिवाद—योग सिद्धान्त—तत्त्वमीमांसा तथा यथार्थ की समस्या—दर्शन-शास्त्र एक जीवन-शैली है—शिक्षकों का दार्शनिक-करण क्यों होना चाहिए?—शैक्षिक दर्शन-शास्त्र

२. दर्शन-शास्त्र के तीन सिद्धान्त

५२-८९

आदर्शवाद—प्लेटो का आदर्शवाद—शैक्षिक दर्शन के रूप में आदर्शवाद—प्रकृतिवाद—स्वच्छन्द प्रकृतिवाद—विकासवादी प्रकृतिवाद—समकालीन प्रकृतिवाद—उपयोगितावाद (व्यवहारवाद)

३. शिक्षा के उद्देश्य

९०-११४

शिक्षा के उद्देश्य या स्वभाव—व्यक्तिगत और सामाजिक उद्देश्य—दोनों उद्देश्यों की सैद्धान्तिक व्याख्या—शारीरिक स्वास्थ्य—मानसिक स्वास्थ्य

४. शैक्षिक समाज-विज्ञान—क्षेत्र और प्रभाव

११५-१४५

शैक्षिक समाज-विज्ञान—अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध—अनुसंधान—महत्त्व और उसकी पद्धतियाँ—समुदाय विद्यालय—विद्यालयीय पाठ्यक्रम और कार्यक्रम

५. शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन

१४६-१७४

संस्कृति—लोकरीतियाँ, लोकाचार और संस्थाएँ—सांस्कृतिक लक्षण और ग्रन्थियाँ—प्रसरण—सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त—भौगोलिक घटक—पर्यावरण घटक

अध्याय

पृष्ठ

—जनसंख्या—युद्ध—मनोसामाजिक घटक—शिल्प-शास्त्रीय
घटक—सैद्धान्तिक घटक—यांत्रिकी के सम्बन्ध में—सैद्धान्तिक प्रणालियों के सम्बन्ध में—सामाजिक मूल्यों के सम्बन्ध में

६. नागरिकता के लिए शिक्षा और समाजीकरण १७५-२०५

अध्यापक का कार्य—नागरिकता के लिए शिक्षा

७. शिक्षा के अभिकरण २०६-२२१

परिवार—चर्च—बालकों और युवकों के सामूहिक क्रियाकलाप

८. विद्यालय २२२-२३३

विद्यालय एवं अन्य सामाजिक अभिकरण

९. सामाजिक अन्तर्क्रिया के निश्चेष्ट अभिकरण २३४-२४६

व्यावसायिक चलचित्र—शैक्षिक चलचित्र—रेडियो—टेलीविजन—मुद्रणालय

१०. प्रजातन्त्र के लिए शिक्षा २४७-२७५

प्रजातन्त्र का अपेक्षित राजनीतिक दायित्व—प्रजातन्त्र का अपेक्षित आर्थिक दायित्व—प्रजातन्त्र का अपेक्षित दार्शनिक एवं धार्मिक दायित्व—अपेक्षित शैक्षिक दायित्व—शिक्षकों का प्रशिक्षण—प्रौढ़-शिक्षा—प्रौढ़-शिक्षा की विकास-मान अवधारणा—प्रौढ़-शिक्षा के अभिकरण

११. अवकाश के लिए शिक्षा २७६-२८८

दुकानें और दस्तकारियाँ—बिन्दुरेखीय एवं प्लास्टिक कला—संगीत—लेखकों का क्लब और अध्ययन परिषद्—नाटक क्लब—खेल और अभिरुचि (हॉबी) क्लबें

१२. विश्व समाज के लिए शिक्षा २८९-३०७

सम्यक् सूचना—प्रत्यक्ष सम्पर्क

दर्शन तथा शिक्षा का सम्बन्ध

‘आत्म-निरीक्षण से रहित जीवन व्यर्थ है।’—प्लेटो

दर्शन से तात्पर्य

‘दर्शन’ की अनेकानेक परिभाषाएँ की गई हैं परन्तु सर्वसामान्य परिभाषा इस प्रकार से है—ज्ञान के प्रति अनुराग एवं अनुष्ठान। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो विदित होगा कि प्रस्तुत परिभाषा सामान्य व्यक्ति द्वारा गृहीत अर्थों की अपेक्षा कहीं अधिक गम्भीर अर्थों को प्रकट करती है। परिभाषा (चाहे कोई भी हो) को भली प्रकार समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी पृष्ठ-भूमि को अच्छी तरह से समझा जाए। इसलिए यही उपयुक्त है कि पूर्वनिर्मित परिभाषाओं के जाल में फँसने की बजाय विषय की गहराई में उतर कर उसे समझने की चेष्टा की जाए अन्यथा विषय को समझने में हमें कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि इस प्रकार की बनाई गई परिभाषाएँ अनुभूति की गरिमा को सर्वांगीण रूप से अनुभव करवाने में असमर्थ होती हैं। अस्तु, प्रस्तुत अध्याय में दर्शन के अर्थ तथा वास्तविक अभिप्राय को समझने का प्रयास किया जायगा।

दर्शन समस्त मानवीय मानसिक अनुशासनों में प्राचीन है—अधिकतर जन-सामान्य को बतलाने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। इसका कार्य भौतिक संसार तथा उससे सम्बद्ध दुर्बोध रहस्यों की उचित ढंग से जानकारी प्राप्त करवाना है तथा इससे भी परिचय करवाना है कि संसार का संचालन करने वाली कौन सी शक्ति है। इतना ही नहीं, इसके साथ-साथ इस बात का स्पष्टीकरण भी इसका उद्देश्य है कि विश्व में मनुष्य का क्या स्थान है; उसका अपने प्रति, संसार तथा समाज के

प्रति क्या उत्तरदायित्व है। दर्शन उन समस्याओं की जानकारी करने की भी चेष्टा करता है जो प्रकृति ने मानव के लिए निर्मित की हैं अथवा मानव ने बुद्धि-मत्ता व समान रूप से मूर्खतापूर्ण जिन्हें उत्पन्न कर लिया है। विचार प्रवाह को विधिवत ढंग से बनाए रखना तथा तर्क एवं अनुभव के आधार पर उसका पुनर्मूल्यांकन अत्यंत कठिन कार्य है। वास्तव में इसका कार्य जीवन के बहुरंगी अनुभवों तथा ज्ञात, अर्धज्ञात या फिर अज्ञात वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को जानने एवं मूल्यांकन करने का विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा गहन चिंतन-मनन करना है। इसका कार्य-क्षेत्र कवि-जगत की भाँति भावात्मक अनुभव अथवा प्रतिक्रिया पर आधारित नहीं बल्कि इसका आधार बौद्धिक तर्क है। यह (तर्क) अनुभूति तथा भावों के क्षेत्र की आलोचना नहीं करता अथवा उसे दूषित नहीं करता। यदि ध्यान दिया जाय तो अनुभव होगा कि यह समस्त जीवन-कड़ियों से अपना सम्बन्ध बनाए रखता है। जीवन अथवा ज्ञान की कोई ही ऐसी समस्या होगी जो अन्ततः दर्शन की समस्या न हो।

यद्यपि दर्शन का कार्य अत्यंत कठिन है फिर भी इसके अन्तर्गत सुचारु ढंग से किए गये कार्यों का एक बृहद् इतिहास है। इसने न केवल विस्तृत एवं उलझी हुई कठिन समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है परन्तु मानसिक उपक्रमों में भी सराहनीय कार्य करते हुए इनका समावेश अपने क्षेत्र में किया है। इसका कार्य संकीर्ण अथवा छोटे-छोटे विचारों में उलझना नहीं है। यह वास्तव में प्रत्येक विचार-शृंखला को व्यापक रूप में समझने पर प्रयत्नशील है। हमारा अभिप्राय यह है कि दर्शन का कार्य विज्ञान की विभिन्न छोटी-छोटी सीमाओं तक अपने-आपको सीमित रखना नहीं बल्कि जीवन की समस्याओं को समग्रता रूप में विचार करना इसका ध्येय है। वास्तव में यह प्रत्येक वस्तु का विस्तृत ब्योरा लेता है। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की भाँति संकीर्ण एवं विभागीय दृष्टिकोण इसे अभिप्रेत नहीं। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। हम मानव-शरीर रचना के प्रश्न को लेते हैं। शरीरविज्ञान-विशेषज्ञ के लिए मानव केवल स्नायु-मण्डल (nervous system) एवं ग्रंथीय (glandular) क्रियाओं से निर्मित प्राणी है।

रसायनज्ञ (chemist) के लिए मानव रासायनिक पदार्थों के समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं। मनोवैज्ञानिक के लिए वह केवल विभिन्न चेतनात्मक स्तरों में व्याप्त मानसिक क्षमताओं का समूह-मात्र है। इसी प्रकार विभिन्न व्यवसायिकों के लिए मानव भिन्न-भिन्न शब्दावली में विवेचित किया जाता है, परन्तु दर्शन-शास्त्र के लिए मानव विभिन्न विज्ञानों की एकाकी वस्तु अथवा परिभाषा की अपेक्षा

कुछ और ही है। वास्तव में दर्शन-शास्त्र के लिए मानव ज्ञात, अज्ञात अथवा जानने योग्य सभी विभिन्न अंगों की इकाई मात्र है। इस बात से दर्शन-शास्त्र की व्यापकता, विनम्रता एवं सहिष्णुता तथा संश्लिष्टता सिद्ध हो जाती है। प्रस्तुत अध्याय में इसी के आधार पर दर्शन के अर्थ को समझने की चेष्टा की जायेगी।

दर्शन-शास्त्र का कार्य किसी भी विचारधारा को ऊपरी घरातल से अथवा बनावटी ढंग से परखना नहीं। यह अपना कार्य जिज्ञासा की भावना से प्रारम्भ करता है। इसका ढंग अत्यंत सुचारु एवं उपयुक्त प्रणाली से होता है। किसी भी समस्या का निरीक्षण करने के लिए यह तब तक गहराई में उतरता चलता है जब तक कि सत्य एवं सूक्ष्मतम अर्थ में परिपूर्ण कोई भी विश्वास योग्य अथवा अवलम्बनीय दृष्टिकोण को प्राप्त नहीं कर लेता। अपनी चरमावस्था में वह कुछ समय के लिए विस्तृत विवेचन तथा तर्क-विद्या को लगभग त्याग देता है। यह गेस्टाल्टीय मनोविज्ञान की शब्दावली में अंतर्दृष्टि तथा दर्शन-शास्त्र के लिए भारतीय प्रतिभा-जन्य पुरुषों द्वारा प्रस्तुत शब्दावली में 'दर्शन' की प्राप्ति करता है। दर्शन-शास्त्र तर्क, अन्तर्दर्शन अथवा दोनों का सम्मिलित रूप में विषय हो, वास्तव में वह अनेकानेक समस्याओं को खड़ा कर देता है। प्रस्तुत अध्याय तथा आगामी अध्यायों में इन समस्याओं पर संक्षेप में विचार किया जाएगा। यहाँ पर इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि दर्शन-शास्त्र ज्ञान सम्बन्धी विभिन्न बिखरे हुए तत्त्वों को क्रमबद्ध एवं संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करने का साहसपूर्ण कार्य करता है, जिसके अभाव में वे सभी ज्ञान-बिंदु बिखरे ही रह जायेंगे।

दर्शन एक प्रकार से वह उदार-मानसिकता है, जिसकी उपलब्धि मन के कठोर अनुशासन द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। यह किसी भी पूर्वाग्रह अथवा पूर्वमान्यताओं पर आधारित नहीं। वस्तुतः यह ज्ञान की विभिन्न शाखाओं द्वारा स्वीकृत पूर्वमान्यताओं के सम्बन्ध में उनसे स्पष्टीकरण की माँग करता है। अन्य विज्ञान मनुष्य की सत्ता को तुरंत दृढ़तापूर्वक स्वीकार करते हैं, परन्तु दर्शन-शास्त्र उसकी सत्ता पर भी संदेह प्रकट करता है। इसमें किंचित-मात्र भी आश्चर्य नहीं कि इसे डेकार्टे जैसे व्यक्तित्व-युक्त दार्शनिक की आवश्यकता थी, जिसने अपने अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए एक दार्शनिक वाक्यांश का आश्रय ग्रहण किया। उस वाक्यांश का सार इन शब्दों में निहित है "मैं सोचता हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है।" मनुष्य के मूल्यांकन में इस तरह बाल की खाल निकालना साधारण व्यक्ति के लिए उपहास का विषय है। इतना होते हुए भी छोटे-छोटे पतनोन्मुख विचार अथवा रूढ़ियों एवं संकीर्ण विशेषीकरण के विरुद्ध यही एक प्रभावशाली साधन है। सतही ज्ञान पर आवृत

संकीर्णतापूर्वक जल्दी में किये गए निर्णय के विरुद्ध दर्शन-शास्त्र ने अत्यंत धैर्यपूर्वक मोर्चा जमाया है। और इसी धैर्य के बल पर यह ऐसे अपरिपक्व निर्णय के विरुद्ध अपनी आवाज को उठाता रहेगा। दर्शन-शास्त्र अपनी कार्य-विधि का प्रारम्भ भले ही सामान्य ज्ञान के आधार पर करे, परन्तु विचारधारा का अन्त सम्पूर्णता में ही करना इसे अभीष्ट है।

दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में इसी उदार मानसिक दृष्टिकोण ने कार्य की प्रगति में निर्भीकता को जन्म दिया है। दोनों ने एक स्वर होकर युग-युगान्तरो से चली आ रही बुराइयों तथा अविद्या के साथ संघर्ष किया है। समस्त संसार के दार्शनिकों ने दर्शन की इसी भावना को अपने व्यक्तित्व के अन्तर्गत आत्मसात अथवा उसका समावेश किया है। दर्शन-शास्त्र के इसी अटूट एवं उच्चस्तरीय विश्वास ने वास्तव में मानवता की पताका को अब तक उड़ने दिया है। यह पताका तब तक फहराती रहेगी जब तक इसी भावना की सत्ता विद्यमान रहेगी। अस्तु, हम इस प्रकार सराहनीय निष्कर्ष पर पहुँच पाए हैं कि दर्शनशास्त्र केवल बौद्धिक व्यायाम नहीं है अपितु जीवन की एक पद्धति है जो अपने-आप में सर्वोत्तम अनुशासन है। यह पद्धति अपने मूलरूप में सार्वभौमिक है। सत्य तो यह है कि अपनी सीमा तथा प्रवृत्ति में दर्शन-शास्त्र यदि सार्वभौमिक नहीं है तो इसका कोई भी महत्त्व नहीं।

आजकल कभी ऐसी भ्रांति व्याप्त हो जाती है कि दर्शन-शास्त्र अपनी प्रतिष्ठा खो बैठा है; इसकी अब कोई भी उपयोगिता नहीं। या फिर विज्ञान के आगमन से समस्त विश्व का रहस्योद्घाटन अब दर्शन द्वारा नहीं हो सकता अपितु विज्ञान ही इस कार्य में सामर्थ्यशील है। वैज्ञानिक भले ही दर्शन-शास्त्र के महत्त्व को अस्वीकार कर दें परन्तु विशाल हृदय दार्शनिक इस बात में विश्वास रखता है कि विज्ञान द्वारा प्रस्तुत तथ्य एवं प्रणालियों की व्याख्या विश्व के चित्र के पुनर्निर्माण में अत्यधिक सारगर्भित अथवा महत्त्वपूर्ण हैं। एक बात स्पष्ट है कि दर्शन-शास्त्र पूर्व स्वीकृत प्रामाणिक तथ्यशील तर्कों को मानने के लिए अपने पाँवों पर दृढ़ता पूर्वक खड़ा रहने के लिए बाध्य है।

दर्शन-शास्त्र तथा विज्ञान का सम्बन्ध

पश्चात्त्य देशों में दर्शन-शास्त्र में उच्चतम चिंतन के लिए विभिन्न विज्ञानों की सीमाओं को क्रमबद्ध रूप में स्थापित करने का श्रेय सर्वप्रथम अरस्तू महोदय को है। अन्तिम चार शताब्दियों के अन्तर्गत विभिन्न विज्ञान-शास्त्रों ने अत्यधिक विकास किया है जिससे अनेकानेक अच्छाइयों का जन्म हुआ है। इतना होते हुए

भी विज्ञानों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। वे दर्शन-शास्त्र के सहयोग को प्राप्त किए बिना अकेले ही ज्ञान की सभी शाखाओं का कार्यभार वहन करने में असमर्थ हैं। अपनी विभागीय प्रवृत्ति के कारण विज्ञान घटना-चक्र का अध्ययन सीमित क्षेत्र में ही कर पाता है। यही कारण है कि इसके द्वारा प्रस्तुत निष्कर्ष एवं उपलब्धियाँ तात्कालिक तथा सम्भवतः आंशिक स्थितियों में ही ग्राह्य होती हैं। समस्त परिस्थितियों, तात्कालिक अथवा दूरस्थ विविधताओं तथा समस्त जीवन पर पड़े इसके प्रभाव को आँकने का कार्य दर्शन-शास्त्र के लिए ही बाकी रह जाता है। हाँ, इस बात में जरा भी शक नहीं कि दर्शन-शास्त्र तथ्यों के बाहुल्य, उपलब्धि एवं व्याख्याओं के लिए विज्ञान का आभारी है। इसका एकमात्र कारण है कि दर्शन-शास्त्र इन सबको उन्हीं से प्राप्त करता है एवं बाद में वह स्वतंत्र रूप से निरीक्षण, पर्यवेक्षण द्वारा अनुभवों का पुनर्निर्माण करता है। परन्तु यह किसी विशिष्ट विज्ञान-शास्त्र के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं रखता। इसकी सामग्री केवल विज्ञान पर ही आधारित नहीं। यह अपनी सामग्री ज्ञान की अन्य शाखाओं यथा धर्म, कला एवं साहित्य से भी प्राप्त करता है। प्रारम्भिक अवस्था में किसी भी प्रकार का अनुभव इसके लिए त्याज्य नहीं जब तक कि किसी अन्य विज्ञान के हित में उचित दार्शनीकरण के उपरान्त उसका त्याग न कर दिया गया हो। साररूप में कहा जा सकता है कि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं एवं तथ्यों को सुसंगठित एवं एक रूप में बाँधने के लिए दर्शन-शास्त्र सदैव तत्पर है। अन्य विज्ञान से बिलग यह अनुमानित घटना-चक्रों से आगे भी जाने की चेष्टा करता है। इसकी तब तक संतुष्टि नहीं हो पाती जब तक कि वह प्राथमिक नियमों, विश्वनियंताओं अथवा प्रारम्भिक कारणों की जानकारी प्राप्त नहीं कर लेता। विज्ञान, जिसका सम्बन्ध आगमनात्मक अथवा प्रयोगात्मक विधियों से है, दूसरी ओर, पदार्थों की उत्पत्ति को समझने में असमर्थ है। यह वर्तमान तथा कुछ अंशों तक अतीत के आधार पर किसी परिकल्पना अथवा एक नियम का निर्माण तो कर सकता है, परन्तु समय की अवधि में विश्व का जीवन-दृष्टिकोण उससे अत्यधिक विस्तृत है, जिस सीमा तक विज्ञान अपना अध्ययन एवं मनन करता है। सम्भवतः भगवद्-गीता में कही गई बात विज्ञान पर ही चरितार्थ होती है कि 'आरम्भ और अन्त सभी अज्ञात हैं, हम केवल सतत रूप से परिवर्तनशील मध्य को ही जानते हैं।'

यह बात पूर्ण रूप से अब स्पष्ट हो जाती है कि 'आरम्भ और अन्त' दर्शन-शास्त्र की वैधानिक समस्याएँ हैं। भले ही यह उनके साथ न्याय करने में समर्थ हो अथवा असमर्थ। एक दार्शनिक को यह भली-भाँति ज्ञात है कि वह 'अनभिज्ञ है'

परन्तु फिर भी अत्यंत विनम्रतापूर्वक विश्व की जटिल समस्याओं की व्याख्या करने के लिए सतत प्रयत्नशील है। उसे इस बात की चिंता नहीं कि वह 'आरम्भ और अंत' के उत्तर स्वरूप परमात्मा, नित्य काल, नैतिक नियम, कर्म-नियम एवं सार्व-भौमिक चेतना आदि निष्कर्षों की प्राप्ति करे। अस्तु, यह चिरंतन तथ्य है कि जब तक सोच-विचार करने के लिए मानव जीवित है, इन समस्याओं को इस क्षेत्र से बाहर नहीं किया जा सकता।

विज्ञान अपने-आपको वस्तुपरक होने का दावा करता है। यह बात किसी सीमा तक सत्य पर आधारित है, क्योंकि इसने काल-सम्मानित शक्ति एवं ऊर्जा के तकनीकी मानदण्ड का प्रयोग किया है। परन्तु एक बात स्पष्ट है कि विज्ञान द्वारा प्राप्त निश्चित निष्कर्ष सीमित क्षेत्र तक ही सत्य होते हैं। इन निष्कर्षों को सम्पूर्ण ज्ञान के क्षेत्र पर चरितार्थ नहीं किया जा सकता। जितने अधिक तथ्यों की प्राप्ति होती गई विज्ञान एवं दर्शन-शास्त्र के लिए उन्हें एक तार्किक पद्धति में आबद्ध करता और भी कठिन होता गया।

किसी वस्तु के सम्बन्ध में हम जितना ज्ञान प्राप्त करते जाते हैं, तत्सम्बन्धी अज्ञात तथ्य और भी अज्ञात हो जाते हैं। कैल्विन महोदय ने उपयुक्त ही लिखा है कि "जब हम ज्ञात को द्विगुणित कर देते हैं तो अज्ञात चौगुना हो जाता है।" निश्चितता अथवा पूर्णता (अन्तिम) की ओर ले जाने वाली किसी भी गतिमय प्रक्रिया के लिए अवरोध की आवश्यकता है चाहे यह प्रक्रिया दर्शन-शास्त्र से सम्बद्ध हो अथवा विज्ञान से, यद्यपि कभी-कभी विज्ञान के लिए ही अधिक अवरोध की आवश्यकता पड़ती है।

विज्ञान में परख की मात्रात्मक पद्धति को सहानुभूतिपूर्ण स्वीकार करते हुए भी दर्शनशास्त्र किसी विशिष्ट सीमा पर उसकी कड़ी आलोचना करता है। दर्शन-शास्त्र की धारणा है कि ज्ञान की सम्पूर्ण सीमाओं का प्रयोगात्मक तथा सांख्यिकीय पद्धतियों द्वारा मूल्यांकन असम्भव है। उदाहरणस्वरूप स्वयं जीवन से सम्बद्ध अनेकानेक अन्तिम समस्याओं यथा चेतना, ईश्वर, नैतिक नियम आदि पर चिंतन, मनन किसी भी वैज्ञानिक पद्धति से न तो समझा ही जा सकता है और न जाना ही जा सकता है। विज्ञान इस प्रकार के नैतिक प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देने में समर्थ नहीं कि 'मानव के लिए क्या उत्तम है?' तथा 'उसके क्या-क्या कर्तव्य हैं तथा क्यों?' आदि। विज्ञान यदि उत्तर देने की चेष्टा करेगा भी तो अधिक से अधिक वे उत्तर आंशिक एवं अपूर्ण ही होंगे। तथ्यशील जगत के अतिरिक्त एक अन्य जगत भी है। उसे हम 'मूल्यों का जगत' नामक संज्ञा देते हैं। इस जगत की

परख के लिए वैज्ञानिक वातावरण की अपेक्षा विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व की चिंतन-शक्ति की आवश्यकता है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण है कि विज्ञान जब तक किसी वस्तु को भौतिक चक्षु, यंत्रों से देख न ले एवं गणित-विधि तथा भौतिक-शास्त्रीय पद्धति से उसका मूल्यांकन न कर ले, उस वस्तु की सत्ता में विश्वास नहीं करता एवं उस पर विचार-विनिमय करने से भी इन्कार कर देता है।

दर्शन-शास्त्र तथा विज्ञान के मध्य पारस्परिक वाद-विवाद जितना अर्थहीन है उतना ही अन्तहीन भी। वस्तुतः दो प्रणालियाँ बहिष्कार करने की अपेक्षा एक दूसरे की पूरक हैं। ज्ञान परस्पर सहयोगी कार्य एवं प्रक्रिया है। और फिर ज्ञान की दर्शन अथवा विज्ञान दोनों से अत्यधिक महत्ता है। उचित भावना तो यह है कि ज्ञान-मन्दिर के उपासक अपने-आपको यथाशक्ति इसके निमित्त अर्पित करें। वे परस्पर किसी भी वैमनस्य अथवा संघर्ष में न पड़ें। दर्शन के प्रभाव के कारण धीरे-धीरे इस भावना का विकास मुख्यतः हो रहा है।

बीसवीं शताब्दी में दो उल्लेखनीय विचारधाराओं का विकास हुआ है जिनकी चर्चा अनिवार्य है। प्रथम यह कि पहले की भाँति, विज्ञान अब अन्य वैज्ञानिक विधियों का बहिष्कार नहीं करता। वे तो अब ज्ञान की क्रिया को विकसित करने के लिए एक-दूसरे का सहयोग दे रहे हैं। वे एक-दूसरे को प्रभावित एवं संशोधित कर रहे हैं। उनकी चेष्टा वस्तुओं के सर्वसामान्य रूप से स्वीकृत दृष्टिकोण को विकसित करने की है। मनुष्य के रहस्य का उद्घाटन करने में जीव-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा समाज-विज्ञान पिछले कुछ दशकों की अपेक्षा आधुनिक काल में एक-दूसरे के अधिक निकट हैं। इन विज्ञान-शास्त्रों के सामूहिक प्रयत्न ही हैं जो मानवीय व्यक्तित्व का नव-निर्माण कर रहा है। इस प्रवृत्ति का तीव्रगति से विकास करने के लिए विश्वविद्यालयों को भगीरथ प्रयत्न करना चाहिए। दूसरी विचारधारा है कि दर्शन-शास्त्र तथा विज्ञान आज दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त नहीं हैं। वे पारस्परिक विकास अथवा इस प्रकार कहा जाये कि ज्ञान के हित के लिए एक-दूसरे में अन्तर्निहित हो रहे हैं। आधुनिक युग में विज्ञान उच्चस्तर पर उतना ही दर्शन-शास्त्रीय है जितना कि दर्शनशास्त्र अपने मूल रूप में वैज्ञानिक। सत्य तो यह है कि विश्वविद्यालयों में दार्शनिक विज्ञान एवं वैज्ञानिक दर्शनशास्त्र आदि का अध्ययन के विषय के रूप में आविर्भाव न केवल एकीकरण की ओर कदम है अपितु दर्शन-शास्त्र के लिए विजय एवं आनन्द का मंगलमय लक्षण है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो विदित होगा कि दर्शन एवं विज्ञान दोनों मूलभूत रूप में एक जैसी वृत्ति को अपनाये हुए हैं : सत्य अथवा यथार्थ की खोज। यद्यपि उनकी

पद्धतियों एवं क्रिया-विधियों (तकनीकों) में पर्याप्त विभिन्नता है तथापि ज्ञान की खोज में दोनों सहयोगी मित्र हैं। नवीन प्रवृत्तियों के आलोक में ज्ञान के क्षेत्र में व्याप्त दर्शन-शास्त्र एवं विज्ञान के भीतर परम्परागत तीक्ष्ण संघर्ष की अब समाप्ति अवश्य हो जानी चाहिये।

दर्शन-शास्त्र की किञ्चित् प्रमुख समस्याओं का अध्ययन करने से पूर्व ज्ञान सम्बन्धी स्रोत एवं प्रकृति का निरीक्षण करना श्रेयस्कर होगा। साधारण शब्दावली में हम सत्य तथा यथार्थ के सम्बन्ध में कैसे सोचते हैं तथा उनसे कैसे जानकारी प्राप्त होती है।

ज्ञान-मीमांसा अथवा ज्ञान का सिद्धान्त

ज्ञान के स्रोत सम्बन्धी सिद्धान्तीकरण को ज्ञानमीमांसा की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। दर्शनशास्त्र, जीवन एवं शिक्षा की मूलभूत समस्या ज्ञान ही है। इसीलिए एक अध्यापक का व्यावहारिक कर्तव्य है कि वह इसके रहस्यों को गहराई से समझने की चेष्टा करे। इससे उसकी अध्यापन-विधियाँ एवं पाठ्यक्रम-निर्धारण क्रियाएँ दोनों ही प्रभावित होती हैं। यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाये कि ज्ञान पूर्व-निर्मित है तथा पूछे जाने पर शिष्य को दिया जा सकता है तथा शिष्य भी उस प्रदत्त ज्ञान को उसी तरह आत्मसात कर लेगा जिस तरह वह दिया गया है। ऐसी अवस्था में निश्चित है कि अध्यापक द्वारा ज्ञान की विशुद्ध यांत्रिक प्रक्रिया की स्वीकृति में तिरस्कार की भावना सन्निहित है। परिणामस्वरूप ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्यों की पूर्णतः अवहेलना हो जाती है। दूसरी ओर यदि उसे इस बात की समझ आ जाये कि रचनात्मक कल्पना-शक्ति एवं क्रियाशील बुद्धि से पुष्ट ज्ञानार्जन जीवन के अनुभवों से प्राप्त होता है तथा सामाजिक एवं भौतिक वातावरण से सुसम्बद्ध मानव-व्यक्तित्व की सशक्त आन्तरिक प्रक्रिया से प्राप्त होनेवाला परिपक्व फल है तो अध्यापक शिक्षण के उद्देश्यों के साथ-साथ शिष्यों के ज्ञान को विकसित करने में अधिक सामर्थ्यशील हो सकता है। उस समय उसे बोध होगा कि पुस्तकों एवं परीक्षा-प्रणालियों का शिक्षा के क्षेत्र में द्वितीय अथवा अत्यधिक गौण स्थान है। उनका महत्त्व उसी सीमा तक है जहाँ तक वे प्रत्येक विद्यार्थी को जीवन के वास्तविक अनुभवों को गत्यात्मक रूप में सीखने तथा सफलतापूर्वक जीवन-यापन करने में सामर्थ्यशील बना सकें। सड़े-गले तथ्यों के भारी बोझ से विद्यार्थी के व्यक्तित्व को बोझिल करना अनुपयोगी है। इससे तो यह कहीं अधिक श्रेयस्कर है कि वह निजी व्यक्तित्व के अनुभवों अथवा अध्यापक द्वारा ध्यानपूर्वक बौद्धिक चुनाव

से परिपक्वता प्राप्त करने में सामर्थ्य रखता हो। इसी तरह अध्यापक के लिए यह जानना अत्यनिवार्य है कि क्या ज्ञान की समस्त क्रिया में एक ही मानसिक विभाग कार्य करता है अथवा कुछ विभागों का समूह या फिर सामूहिक व्यक्तित्व। परन्तु ज्ञानमीमांसा से सम्बन्धित सिद्धान्तों के तर्क-युक्त अथवा शिक्षात्मक मूल्यों का घिसी-पिटी पद्धति के अनुसार पूर्व-निर्णय लेना अवांछनीय होगा जब तक कि हम उनकी किसी सीमा तक विवेचना न कर लें। इसी प्रकार के कुछ परम्परागत सिद्धान्तों की यहाँ व्याख्या की जायेगी।

इंद्रियानुभववाद

इंद्रियानुभववाद ज्ञान का एक सिद्धान्त है। यह ज्ञान-प्राप्ति में ज्ञानेन्द्रियों के महत्त्व पर बल देता है। इसके अनेक सूक्ष्म भेद हैं। एक सीमा वह है जहाँ पर यह विश्वास किया जाता है कि ऐन्द्रिय अनुभव ज्ञान-प्राप्ति का प्रमुख साधन है तथा दूसरी सीमा वह कि बिना किसी ऐन्द्रिय अनुभव के किसी भी तरह के ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं। अत्यधिक सूक्ष्म इंद्रियानुभववादी वास्तव में ग्रीक सोफिस्ट्स ही थे जो दार्शनिक होने के साथ-साथ अध्यापक भी थे। तत्त्वमीमांसा तथा सृष्टि-शास्त्रीय अध्ययन से यथार्थ के गहन रहस्य को प्राप्त करने में असमर्थ वे उदासीन (अन्यमनस्क) से हो गये। वे तदनन्तर मानव जीवन के चरम बिन्दु पर अनुभव को ही अधिक प्रशंसनीय समझने लगे। इससे स्पष्टरूपेण विदित हो जाता है कि उनकी शिक्षा व्यावहारिकता पर आधारित थी। अनुभव का सामर्थ्य के अनुसार तात्कालिक मूल्य प्राप्त कर लीजिये फिर अपने सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों के साथ सुख-चैन से बने रहिए। मध्ययुग में, अंग्रेज दार्शनिक जॉन लॉक ने इस बात पर बल देते हुए इंद्रियानुभववाद को नवजीवन प्रदान किया। उनकी मान्यता है कि मनुष्य का मन जन्म से ही स्वच्छ स्लेट की भाँति होता है जिस पर अनुभव अपने आपको चित्रित करता है। एक अन्य अंग्रेज दार्शनिक ह्यूम ने जॉन लॉक के बचन की पुष्टि करते हुए यह कहा कि मनुष्य का मन उसकी संवेदनाओं का कदाचित् योगफल है।

शिक्षा-शास्त्रीय पद्धति के अनुसार एक अथवा दूसरे प्रकार का इंद्रियानुभव-वाद स्पष्ट रूप से इस बात का संकेत करता है कि ज्ञानेन्द्रियों तथा वातावरण से दिया गया ज्ञान बाद की क्रिया होगी। सहज अनुमान के आधार पर भी उसी प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों की ग्रहणशीलता एवं तदनु रूप वातावरण प्रस्तुत करने पर भी विभिन्न दो व्यक्तियों द्वारा प्राप्त ज्ञान में समानता होगी। इस प्रक्रिया से उनकी

वंश-परम्परा, बुद्धि तथा सांस्कृतिक बनावट का कोई सम्बन्ध नहीं होगा। शिक्षा के क्षेत्र में यदि इस सिद्धान्त को चरितार्थ किया जाय तो इससे ऐन्द्रिय अनुभव प्रायः निष्क्रिय हो जायेंगे जिसका मूल्य मानव मन की सृजनात्मक क्रिया को चुकाना पड़ेगा। इन सिद्धान्तों का बुद्धिमत्तापूर्ण किया गया समन्वय ही घोर अवधारणावाद या बुद्धिवाद से शैक्षणिक प्रक्रिया को बचाने में समर्थ होगा।

तर्कबुद्धिवाद या हेतुवाद

तर्कबुद्धिवाद का प्रारम्भ पूर्णरूपेण अनुभववाद की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। यह ज्ञानोपलब्धि में तर्क का ही मूलरूप में हाथ स्वीकार करता है। ज्ञानेन्द्रियाँ तो केवल अपरिपक्व अनुभव या सामग्री ही प्रस्तुत करती हैं जिसे तर्क-पद्धति द्वारा 'रूप' में रूपान्तरित किया जाता है। अपरिपक्व अनुभव या सामग्री का ज्ञान की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं। वस्तुतः यह तो केवल निर्जीव है जिसे केवल तर्क की सहायता से प्रकाशान्वित किया जाता है। इस निर्जीव पदार्थ से निर्मित विभिन्न आकार एवं रंग तर्क की क्रिया पर ही आधारित हैं। यद्यपि इस पदार्थ पर तर्क की क्रिया कार्य करती है फिर भी दोनों में कोई भी ताल-मेल (तारतम्य) नहीं। यदि ऐसा सम्भव हो जाए तो तर्क द्वारा प्राप्त समस्त उपलब्धियाँ दोषपूर्ण होंगी क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ ही समस्त विभ्रम एवं मायाजाल की मूल स्रोत हैं।

ग्रीक-शास्त्रियों में प्लेटो महोदय ने तर्कबुद्धिवाद की जिस आत्मीयता से रक्षा की वैसा इससे पूर्व किसी ने भी नहीं किया। सम्भवतः तर्क को उच्चासन पर बिठाने के लिए तथा मानव के निम्नस्तर अथवा उसकी अनुभूतियों एवं भावनाओं से उन्मुक्त सिद्ध करने या उसको शुष्क सिद्ध करने के लिए, उन्होंने इसे गणितशास्त्रीय अवधारणाओं (concepts) के केवल मात्र आदर्शात्मक रूप को परिकल्पित किया। वास्तव में इसका अस्तित्व मानव-मन के भीतर ही है। यहाँ पर ही अर्थात् मन के भीतर इन विचारों में ही विशुद्ध रूप में यथार्थता का समावेश होता है। इसके अतिरिक्त सभी अन्य वस्तुएँ बनावटी अथवा केवल छाया मात्र हैं। यथार्थ का जगत वस्तुतः अवधारणात्मक है। इसकी अवस्थिति मन में ही है। भौतिक अस्तित्व जैसा कि यह है, उसी सीमा तक यथार्थ को स्वीकार करता है जहाँ तक वह किसी विशिष्ट रूप में साक्षीदार बन सके। उदाहरण के लिए, तर्कबुद्धिवादी के लिए एक फूल उतना ही सुन्दर है जितना कि इस पर आरोपित किया गया सौन्दर्य का विचार या रूप की अवधारणा। स्वयं फूल का सौन्दर्य-सम्बन्धी जन्म-सिद्ध कोई भी अधिकार नहीं। प्लेटो तथा पाइथागोरस से सम्बन्धित विचारकों द्वारा परिपुष्ट

एक बार फिर मध्ययुग में तर्कबुद्धिवाद, डेकार्टे, स्पिनोज़ा एवं लाइब्नीज़ के दार्शनिक सिद्धान्तों से लोकप्रिय बन गया। सम्भवतः इन तीनों में से अत्यधिक (घोर) तर्कबुद्धिवादी स्पिनोज़ा ही थे। उन्होंने नीतिशास्त्र को भी रेखागणित के सूत्रों एवं परिभाषाओं तक सीमित करने का सफल प्रयास किया। वस्तुतः ऐसा प्रयास दार्शनिक चिन्तन-क्षेत्र में अद्वितीय उदाहरण है।

शैक्षणिक दृष्टिकोण से तर्कबुद्धिवाद पर संक्षेप में निम्नांकित ढंग से विवेचन किया जा सकता है। सर्वप्रथम, मन की आन्तरिक यथार्थता पर बल देकर यह व्यक्तिनिष्ठता को अधिक प्राथमिकता देता है। यद्यपि मानसिक चिंतन तथा क्रिया के रूप में वैयक्तिकता कुछ सीमा तक स्वस्थ एवं उपयोगी है किन्तु विश्व के बाह्य-यथार्थ की उपेक्षा करके वैयक्तिकता पर अधिक बल देना खतरे से खाली नहीं। अपने मन में उलझा हुआ तर्कबुद्धिवादी अध्यापक अपने विद्यार्थियों को अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी प्रवृत्ति की ओर ले जाने में असमर्थ हो सकता है। दूसरे, तर्कबुद्धिवाद का आधिक्य सामाजिक एवं शैक्षणिक दृष्टिकोण से विशेषतः बालकों के लिए, सर्वथा हानिकारक है। इससे ज्ञानेन्द्रियों की निरीक्षणात्मक प्रवृत्ति संवेदनारहित हो जाती है। भावात्मक प्रवृत्ति में भी कमी आ जाती है। परिणामस्वरूप युवक अपने से सम्बद्ध सामाजिक यथार्थ को बड़ी कठिनाई से समझने में सफल हो पाते हैं। इसीलिए उन्हें कक्षा के अन्दर या बाहर उसकी उपयुक्त भावात्मक तृप्ति से विहीन करना निराशा एवं दमन की स्थितियों में ढकेलना होगा।

ऐन्द्रिय-तर्कबुद्धिवाद

उपयुक्त तथा समझी जाने वाली शब्दावली के अभाव में 'ऐन्द्रिय-तर्कबुद्धिवाद' से तात्पर्य उस ज्ञान-मीमांसात्मक सिद्धान्त से है जो ऊपर विवेचित दो सीमान्त (अतिवादी) सिद्धान्तों का समन्वय है। अरस्तू महोदय स्वनिर्मित मध्यमार्गीय सिद्धान्त पर अडिग थे। उन्होंने सोफिस्टों के चरम 'अनुभववाद' तथा प्लेटो के 'तर्कबुद्धिवाद' को स्वीकार नहीं किया। उनकी विचारधारा थी कि ऐन्द्रिय-ज्ञान एवं तर्क दोनों ही ज्ञान के परिवर्द्धन में अनिवार्य रूप से सहयोगी हैं। ऐन्द्रिय-सामग्री की क्षमता तर्क द्वारा सिद्ध की जाती है। इस प्रकार हमें समस्त विचारों, अवधारणाओं, सिद्धान्तों तथा ज्ञान-प्रणालियों की सम्पूर्ण शृंखला प्राप्त हो जाती है। अरस्तू महोदय के बहुत बाद जर्मनी के महान् दार्शनिक इमेनूल् कान्ट ने अपनी पुस्तक 'विशुद्ध तर्क की आलोचना' में उपर्युक्त विचारधारा का परीक्षण करने के उपरान्त पूर्णरूपेण इसका समर्थन किया। उनके मतानुसार ज्ञान की प्राप्ति के

लिए हम अनुभव से प्रारम्भ कर सकते हैं। परन्तु यह अनिवार्य नहीं कि अनुभव ज्ञान में रूपान्तरित ही हो जाये। ज्ञान की उत्पत्ति के लिए इसे तर्क पर ही निर्भर करना पड़ता है।

यह दृष्टिकोण आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुकूल है तथा शिक्षण-विधि में इस दृष्टिकोण को पूर्णरूप से अपनाया जा रहा है। नवीन पद्धति पर आधारित विद्यालय मन एवं इन्द्रियों दोनों को प्रशिक्षित करने की चेष्टा करता है। अध्यापन-कला तभी प्रभावोत्पादक सिद्ध होगी जब इसके द्वारा विद्यार्थी ज्ञान-प्राप्ति एवं स्वस्थ रहन-सहन दोनों में मन एवं इन्द्रियों में सामञ्जस्य प्राप्त करने में समर्थ हो सकें।

ज्ञान के सिद्धान्त को साकार रूप देनेवाली एक अन्य दार्शनिक पद्धति है जिसे उपयोगितावाद (pragmatism) के नाम से अभिहित किया जाता है। इसका जन्म विशेषतः अमेरिका में हुआ। आधुनिक काल में इसे व्यापक रूप से ख्याति मिली है। अमेरिका में ही आज अधिकतर शिक्षण-विधि का यह मूल आधार है। इसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी।

योग सिद्धान्त

भारतीय विचारधारा के प्रतिनिधि के रूप में पतंजलि का योग विश्व भर की महान् दार्शनिक कृतियों में से एक है। इनके अनुसार मन एवं शरीर दोनों का निर्माण भौतिक तत्त्वों से हुआ है। ये सभी प्रकार के भ्रम एवं आवेगों को विकसित करते हैं। उनका अस्तित्व केवल आत्मा के लिए ही है। यही वस्तुतः सर्वोच्च यथार्थ है। जिस समय उनके प्रभावों से मुक्ति मिल जाती है उसी क्षण आत्मा अपने-आपसे साक्षात्कार प्राप्त कर लेती है तथा बन्धनमुक्त हो जाती है।

मन की विशेषताओं में से एक गुण है कि यह चंचल अथवा अस्थिर होता है। इसके साथ अज्ञान अथवा अविद्या जुड़े रहते हैं। वास्तव में यही समस्त शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं के मूल कारण हैं। योग का उद्देश्य मानसिक अस्थिरता को नियन्त्रित करना है। यह मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित करता है। साथ ही साथ समस्त बुराइयों की जननी अविद्या को भी जड़ से उखाड़ फेंकता है। ऐसी अवस्था तभी आती है जब विरक्ति या वैराग्य की भावना का विकास कर लिया जाता है।

१: विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए मेरा लेख, 'आधुनिक मनोविज्ञान के संदर्भ में पतञ्जलि की योग-पद्धति'।—फिलौसिफिकल क्वाटर्ली (भारत), अप्रैल १९५२.

कुछ शारीरिक एवं मानसिक अभ्यास द्वारा ध्यान करने से अन्ततः धीरे-धीरे मानसिक चेतना का विकास उच्चस्तर तक हो जाता है। यह ऐसी अवस्था है जब अहंकार की भावना अथवा तत्सम्बन्धित सभी तत्त्वों का क्रम से विनाश हो जाता है। वास्तव में यह एक लम्बी एवं श्रमसाध्य प्रक्रिया है। पतंजलि मुनि ने अपने सूत्रों में योगी को पथभ्रष्ट करने वाली समस्त बाधाओं से बचने के लिए विस्तृत एवं उपयोगी मार्गों का निर्देश किया है। उन्होंने बड़ी सावधानी से वैयक्तिक मनो-वैज्ञानिक विभिन्नता को अपने सम्मुख रखा है। वे इसी आधार पर योगियों या सत्य की खोज करने वालों के मानसिक तथा नैतिक स्तर के अनुकूल विभिन्न अभ्यास की प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करते हैं। जब कोई भी योगी उच्च-अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो उसके अन्तर्गत मैं और तुम तथा व्यक्ति एवं वस्तु की समस्त चेतना समाप्त हो जाती है। वह स्वयं चेतनामय हो जाता है। वह और चेतनामय तत्त्व अलग-अलग तत्त्व नहीं रहते जिनमें कोई विभाजन की रेखा खींची जा सके। यह आनन्द या आनन्दातिरेक की वह चरमावस्था है जबकि प्रज्ञा या सहजानुभूति के एक किरण में पलक मारते-मारते समस्त यथार्थ को प्राप्त कर लिया जाता है। इसी-लिए यथार्थ केवल स्वयं अनुभव द्वारा ही समझा जा सकता है, उसका वर्णन या व्याख्या बड़ा कठिन कार्य है।

पूर्वोक्त ज्ञानसम्बन्धी सिद्धान्तों के भावार्थ को इस प्रकार देखा जा सकता है। प्रथम, मन तथा ज्ञानेन्द्रियाँ यथार्थ के अणु मात्र से भी हमें परिचित नहीं करवा सकतीं। यह तभी सम्भव है जब अभ्यास-चक्रों द्वारा उत्तरोत्तर ध्यान के लिए उनकी क्रिया का निरोध कर दिया जाता है। द्वितीय, भाषा जिसकी गति देश, काल, इतिहास एवं संस्कृति, व्यक्तिगत तथा सामाजिक विलक्षणताओं तथा विशिष्ट व्यक्तिगत तथा सामाजिक प्रयोगों आदि में होती है, सत्य की खोज के लिए विश्वसनीय आधार नहीं। बुद्धि तथा द्वन्द्वात्मक तर्कमात्र हमें कृत्रिम यथार्थ की ओर ही ले जा सकते हैं। यही कारण है कि कोई भी दो तर्क पूर्णरूप से समान नहीं हो सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि फ्रांसिस बेकन महोदय ने पतंजलि मुनि के मत की पुष्टि इन शब्दों में की है: “यह कदापि सम्भव नहीं कि तर्क-पद्धति द्वारा स्थापित सूत्र नवीन कृतियों के अनुसंधान के लिए पर्याप्त हों। इसका कारण यह है कि प्रकृति की सूक्ष्मता तर्क की सूक्ष्मता से कई गुना अधिक है।” जैसा भी हो, भाषा को मिटाने के योग के आदर्श को महत्त्व दिये बिना दर्शन शास्त्र अबाध एवं स्पष्टता की तर्कपूर्ण भाषा के प्रयोग पर बल देता है। इसके अतिरिक्त समस्त शेष प्रक्रिया का समावेश तार्किक चिन्तन की परिभाषा के अन्तर्गत हो जाता है। तृतीय, आत्म-

ज्ञान की खोज में, उच्चतम ज्ञान जिसके अधीन अन्य सभी ज्ञान हैं, नैतिक शासन ही स्थायी महत्त्व रखता है। इसके द्वारा समस्त इच्छाओं एवं संवेगों का जड़ से उन्मूलन हो जाता है। इससे शारीरिक तथा भावात्मक क्रियाओं पर नियंत्रण हो जाता है। ज्ञान तथा नैतिक अनुशासन वास्तव में एक ही समस्या के दो रूप हैं। ये दोनों अविभाज्य हैं तथा एक-दूसरे से गुंथे हुए हैं।

योग सिद्धान्त की ज्ञान सम्बन्धी मान्यता से सम्बन्ध रखने वाले रहस्यवाद तथा प्रातिभज्ञानवाद (Intuitionism) के विभिन्न प्रकार हैं जिनकी धारणा है कि यथार्थ एवं सत्य को न तो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है और न ही बुद्धि के द्वारा। सम्भवतः इसे जानने के लिए किसी क्षणिक दीप्ति (प्रकाश रेखा) अथवा आत्म-चेतना को विश्व-चेतना के अन्तर्गत लीन करने की जरूरत है।

योग तथा तदनुरूप सैद्धान्तिक विचारधाराओं ने प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धतियों पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। इस सम्बन्ध में संक्षिप्त पुनरावलोकन अप्रासंगिक नहीं होगा। अध्ययन एवं अन्य क्रियाओं में एकाग्रचित्तता अथवा ध्यान का अभ्यास करने के लिए विद्यार्थियों के लिए सुदूर जंगलों अथवा आश्रमों को स्थापित करने में साधन जुटाए जाते थे। वहाँ पर ध्यान का अभ्यास करने तथा प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करने में परिस्थितियों की अनुरूपता सहज ही होती थी। आधुनिक रहन-सहन की अपेक्षा वहाँ जीवन-यापन में अधिक कठोरता थी। यह सब उनकी योजना में अनिवार्य था। किसी भी प्रकार से अधिकारियों द्वारा अनुशासन बाहर से आरोपित नहीं था। उसे विद्यार्थी आत्म-अनुशासन के रूप में स्वीकार करते थे। यद्यपि गुरु लोग अथवा अध्यापकगण पाठ पढ़ाते थे, परन्तु शिक्षण-प्रक्रिया का अधिकांश शिष्य आत्म-शिक्षा के रूप में पूरा करते थे। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में आत्म-ज्ञान या ब्रह्म-विद्या का प्रथम स्थान था। अन्य विषयों का इसके उपरान्त ही स्थान आता था। इसकी पृष्ठभूमि में एक ही उद्देश्य, आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न मानव की अपेक्षा 'नैतिक एवं आध्यात्मिक मानव' का निर्माण करना था। स्वयं शिक्षकों का कार्य अपने शिष्यों से भिन्न नहीं था क्योंकि दोनों का उद्देश्य ज्ञान की खोज करना ही था। यह सब उस समय एक तरह से शैक्षणिक प्रक्रिया के अनिवार्य आध्यात्मिक पक्ष थे।

शिक्षा एवं ज्ञान के योग सिद्धान्त का योगदान स्पष्ट एवं महत्त्वपूर्ण है। इससे व्यक्तित्व के स्वस्थ नैतिक विकास पर बल दिया जाता है जिससे ज्ञान के विभिन्न स्तरों को पूर्वापेक्षाओं के रूप में स्वीकार किया जाता है। केवल 'जानना' ही ज्ञान नहीं है अपितु जैसा कि सुकरात ने प्रतिपादित किया था, ज्ञान नैतिकता की प्राप्ति

है। व्यक्तिगत, व्यवसायिक तथा सामाजिक जीवन के लिए अपेक्षित ज्ञान के आध्यात्मिक सिद्धान्त को कामचलाऊ ज्ञान तक सीमित करके दैनिक जीवन में हम एक बार फिर अनुभव करते हैं कि किस प्रकार व्यक्तित्व की अपूर्ण एकता से हमारे जीवन सम्बन्धी निर्णय उलट रहे हैं अथवा प्रतिवर्तित एवं लक्ष्यहीन होते जाते हैं। मनोवैज्ञानिक स्वस्थ सिद्धान्तों से विकसित व्यक्तित्व को स्वस्थ निर्णय तथा व्यवस्थित व्यवहार के लिए एक मुख्य हेतु स्वीकार करते हैं।^१

पूर्वोक्त संक्षिप्त पर्यवेक्षण से दर्शन के चिरस्थायी प्रभाव की जानकारी अवश्य हो जाती है। क्योंकि इसका विशिष्ट रूप से सम्बन्ध शिक्षा-सम्बन्धी उद्देश्यों, पाठ्यक्रम तथा अभ्यास से समन्वित जीवन-शैली से है। निश्चय ही दर्शन-शास्त्र तथा शिक्षाशास्त्र का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। ये दोनों एक-दूसरे को अत्यधिक गहराई तक प्रभावित भी करते हैं।

प्रस्तुत पंक्तियों में ज्ञान के महत्त्व अथवा पाठ्यक्रम में विषय-वस्तु के रूप में ज्ञान की शाखा का विवेचन अप्रासंगिक नहीं होगा। इसी प्रसंग में एक प्रश्न उत्पन्न होता है : क्या विषय-वस्तु को परम्परागत व्याख्यान-पद्धति द्वारा सामाजिक उत्तराधिकार से प्राप्त मात्र तथ्यों तथा आँकड़ों के संग्रह को विद्यार्थियों तक पहुँचा देना पर्याप्त होगा या फिर विद्यार्थी पुस्तकालय में पड़ी पुस्तकों से विस्तृत नोट लेकर ही अपने आपको अहोभाग्य समझें। इनके अनेकानेक उत्तर हैं। विषय-वस्तु के रूप में ज्ञान सम्बन्धी युग-समादृत तथा उत्कृष्ट दृष्टिकोण यह है कि युग-युगान्तरों की विद्वत्ता पुस्तकों एवं पुस्तकालयों में केन्द्रित है। यही वस्तुतः शिक्षा का देवालय है। शिक्षक इसका उच्च पुरोहित है जो पुस्तक खोलना, पुस्तक के लिए निर्देश करना, पुस्तक का पाठ करना आदि कुछ संस्कारों का सम्पादन विद्यार्थियों के सम्मुख करता है। विद्यार्थी उन्हीं मौखिक स्तोत्रों की केवल पुनरुक्ति करते हैं। इस प्रकार दिन-प्रतिदिन ज्ञान का उच्चारण किया जाता है। आजकल इस विचारधारा की अधिक मान्यता नहीं। इसका स्थान शिक्षण के नवीन दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों ने ग्रहण कर लिया है। यह सिद्धान्त मुख्यतः इस प्रकार है : क्रियात्मक विधि द्वारा सीखना, प्रयास तथा भूल विधि, अनुभव विधि, दैनिक जीवन की समस्याओं को प्रत्यक्ष रूप से सुलझाने की विधि एवं सामाजिक जीवन में भाग लेना। इन सिद्धान्तों ने मौखिक तथा सीमान्त बौद्धिक शिक्षा-पद्धति में वांछनीय सुधार उपस्थित किया है। इससे विद्यालय के अन्तर्गत सामाजिक, अनुभवजन्य एवं क्रियात्मक शिक्षण के

१: इस विषय के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये मेरा लेख 'मॉरल वैल्यूज इन एजुकेशन', जून १९५३; पंजाब एजुकेशनल जर्नल।

साथ संतुलन प्रस्तुत हो गया है। यहाँ तक तो अत्युत्तम है। परन्तु यह सम्भव है कि जीवन तथा विचारों का बहुत समय तक संतुलन नहीं बना रहता जिससे बराबर संतुलन बनाये रखना अत्यनिवार्य है। वास्तव में यह स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब शिक्षा के क्षेत्र में पुस्तकों द्वारा प्राप्त ज्ञान की अत्यधिक अवहेलना करने एवं उसे व्यर्थ घोषित करने पर बल दिया जाता है। इस प्रकार की विचारधारा कई दिशाओं में व्याप्त है। यह सत्य है कि आज कोई भी अध्यापक इस बात पर बल नहीं देगा कि पुस्तकें ही जीवन का चरम लक्ष्य हैं। भले ही वे इस विचारधारा में भिन्न-भिन्न मत को स्वीकार करते हों कि ज्ञान साध्य अथवा साधन या फिर दोनों ही हैं। परन्तु विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास एवं उसे सुसंगठित बनाने तथा उनके अनुभवों को चिरस्थायी (गहरा) करने के लिए पुस्तकें साधन मात्र हैं—इस बात की कोई भी अवहेलना नहीं करेगा। पुस्तकों का इसमें किंचित् भी दोष नहीं जब तक उनमें उच्च विचारधारा, स्वस्थ नैतिकता एवं सामाजिक तथा साहित्यिक पुट है। यदि पुस्तकें समाज द्वारा मांगे गये कुछ शैक्षणिक तथा नैतिक मूल्यों की पूर्ति करने में समर्थ हैं तो यह युगों के बहुमूल्य अनुभवों का अक्षय भण्डार हैं। इनके द्वारा भूत एवं वर्तमान महान् व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। ये अनुसंधानात्मक कार्य को बढ़ाने के प्रेरणा-स्रोत हैं। इनसे चरित्र-निर्माण एवं जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में प्रकाशान्वित करते हैं। पुस्तकों ने युगों में संसार के कुछ महान् व्यक्तियों का निर्माण किया है। इसी के साथ-साथ किंचित् बड़े-बड़े सुधार तथा आन्दोलन लाने का भी कार्य इन्हीं पुस्तकों द्वारा ही हुआ है। पतंजलि ने योगशास्त्र के अन्तर्गत एकाग्रता तथा अनुशासन के लिए आवश्यक नैतिक गुणों के विकास के लिए पुस्तक के अध्ययन को उचित महत्त्व दिया है। उपयुक्त भावना में लेने से पुस्तकों द्वारा चारित्रिक दृढ़ता का भी निर्माण होता है। यही कारण है कि अध्यापक को शिक्षा के क्षेत्र में पुस्तकों के स्थान को समझना चाहिए। सम्भवतः इससे उसे जानकारी भी है। परन्तु उसे निश्चित रूप से जिन बातों को जानना चाहिए वे निम्नलिखित हैं :

सर्वप्रथम, बालक को इस बात की शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह समस्त पुस्तक-संसार को व्यक्तित्व के विकास में साधन स्वीकार करे। उन्हें उपयुक्त, प्रसन्न तथा सौंदर्यपूर्ण जीवन-यापन करने में सहायक समझे। दूसरे, उसे तब तक पुस्तकों के संसार में विचरण नहीं करने दिया जाना चाहिए जब तक कि किंडरगार्टन तथा बाद की स्कूल-शिक्षा से रुचि उत्पन्न करने पर वह अपने-आप उनकी ओर खिंच न जाए। किसी भी अवस्था में पुस्तकें उस पर थोपी नहीं जानी चाहियें जब तक कि उसी प्रारम्भिक मनोवैज्ञानिक रुचि को पूर्णरूपेण जागृत नहीं किया जाता जिससे वह उन्हें

हृदयंगम करने एवं उससे लाभ उठाने में समर्थ हो सके। तृतीय, पुस्तकों के अध्ययन से एकाग्रता की प्रवृत्ति सुदृढ़ होती है जो मानसिक एवं नैतिक गुणों को उत्तेजित करती है। यह दोनों ही गुण स्वस्थ तथा सुन्दर जीवन व्यतीत करने के लिए अपरिहार्य हैं। अध्यापक की निपुणता इसी बात में है कि वह बालक के मन में इस दृष्टिकोण को विकसित करने में समर्थ हो सके। चतुर्थ, अध्यापक बालकों में इस आदत को बढ़ाये कि वे पुस्तकों द्वारा प्राप्त अनुभवों की, निजी वास्तविक अनुभवों द्वारा यथार्थता का अनुभव कर सकें। इससे उनमें ज्ञान के प्रति विश्लेषणात्मक एवं संशयात्मक दृष्टिकोण बनाने में सहायता मिलेगी। इससे बालक अपने विकास के साथ-साथ सृजनात्मक एवं बुद्धिमत्तापूर्ण जीवन व्यतीत करने में सफल सिद्ध होगा।

विषय-वस्तु में ज्ञान सम्बन्धी एक अन्य दृष्टिकोण भी है। वह यह कि इसे केवल सूचना तथा आँकड़ों की प्राप्ति ही समझना चाहिये। इस 'सूचना' का सामाजिक तथा समस्यामूलक महत्त्व है। दूसरे शब्दों में, जीवन की समस्याओं से सुसम्बद्ध किसी विशेष सामाजिक स्थिति में से इसका विकास होता है। सम्भवतः इसीलिये इस 'सूचना' का किसी अन्य स्थिति में उपयोग करना सम्भव नहीं होगा और फिर ऐसी अवस्था में जबकि पहली वाली स्थिति बिल्कुल भिन्न हो; अथवा उस समय जब समाज में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हों तथा स्थितियों एवं समस्याओं में तीव्र परिवर्तन हो रहा हो।

इस प्रसंग में विषय-वस्तु के रूप में ज्ञान सम्बन्धी अन्तिम दृष्टिकोण ज्ञान के स्तर तथा कोटि की समस्या का है। व्यावहारिक सुविधा के लिए कुछ लोग ज्ञान की तीन कोटियाँ स्वीकार करते हैं। प्रथम, भौतिक जगत का ज्ञान है जो समस्त भौतिक विज्ञानों तथा भौतिक वातावरण के समस्त अध्ययन को समाविष्ट करता है। द्वितीय, गणित-अध्ययन का क्रम है। यह भौतिक विज्ञानों की अपेक्षा, संख्याओं के विज्ञान के रूप में, अधिक अमूर्त (सूक्ष्म) है। अन्तिम तत्त्वमीमांसा है जो अत्यधिक अवधारणामूलक तथा अमूर्त है। यह स्वीकार किया गया है कि उपर्युक्त, मात्र तार्किक विभाजन नहीं है अपितु विभिन्न युग-स्तर पर आलोचनात्मक प्रवृत्तियों के मनोवैज्ञानिक विकास का उपयुक्त उत्तर है। वस्तुतः यह लगभग उनके अनुरूप ही होता है।

ज्ञान के सिद्धान्त से यथार्थ एवं अस्तित्व के सिद्धान्त तक की यात्रा को जिसे दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत समावेश कर लिया जाता है, तत्त्वमीमांसा की संज्ञा दी जाती है। इसका घातुगत अर्थ है भौतिकशास्त्र से परे जाना। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों

का मत है कि शिक्षा के क्षेत्र में तत्त्वमीमांसा का समावेश व्यर्थ है। अन्य विद्वान इसे महत्वपूर्ण एवं शिक्षा का मूलाधार समझते हैं। उनकी धारणा है कि इसके अन्तर्गत यथार्थ, जीवन एवं शिक्षा का स्थान सम्पूर्ण यौगिक की इकाई के रूप में है। उनकी मान्यता है कि शैक्षणिक समस्याएँ स्वीकृत तत्त्वमीमांसात्मक प्रवृत्ति से अत्यधिक प्रभावित हैं। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में तत्त्व मीमांसा के अध्ययन की परमावश्यकता है।

१ : तत्त्वमीमांसा तथा यथार्थ की समस्या

तत्त्वमीमांसामूलक विचारों से सम्बद्ध परम्परागत समस्याओं में से एक रूप एवं यथार्थ की समस्या है। यथार्थ एवं रूप से क्या तात्पर्य है? विज्ञान के लिए इन प्रश्नों का उत्तर अत्यंत साधारण स्तर की बात है। तत्त्वमीमांसा के लिए वस्तुतः यह अनेक विवादों की युद्धभूमि है। विज्ञान बाह्य जगत अथवा समस्त विश्व को यथार्थ के रूप में ग्रहण करता है। इसी को आधार बना कर वह अध्ययन प्रारम्भ करता है। दूसरी ओर तत्त्वविज्ञान इस आधारभूत धारणा पर अनेक शंकाएँ उठाता है तथा इस समस्या के समाधान के लिए अनेकानेक दिशाओं में विचरण करता है। क्या बाह्य जगत अपने आप में एक यथार्थ है अथवा विषय अर्थात् मनुष्य की केवल विकासशील परछाई? यथार्थ क्या केवल एक है या फिर अनेक? क्या यथार्थ के अनेक अंश हैं अथवा यह एक अविभाज्य पूर्णता है? क्या यथार्थ परिवर्तनशील है या अपरिवर्तनशील? क्या यथार्थ समय के अनुसार आचरण करता है अथवा शाश्वत है? इस प्रकार अनेकानेक समस्याओं को तत्त्वमीमांसा में बार-बार उठाया जाता है। इन सब समस्याओं का न तो सरल समाधान है और न ही उन्हें प्रस्तुत आरम्भिक अध्ययन में पूर्णरूप से स्पष्ट किया जा सकता है। परन्तु यह बात सहर्ष स्वीकार करनी पड़ती है कि शिक्षा के विभिन्न पक्षों एवं प्रक्रियाओं पर इसका गहरा प्रभाव है। इसीलिए अध्यापक के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह अपनी तत्त्वमीमांसा को स्वीकार करने से पूर्व इस पर गहराई से चिंतन-मनन कर ले।

अब वे व्यक्ति जो विश्वास करते हैं कि बाह्य जगत ज्ञात-अस्तित्व अर्थात् मनुष्य से बिलग एक मूर्त यथार्थ है एवं यह इसी रूप में बना रहेगा—भले ही मनुष्य जीवित रहे या न रहे, वस्तुतः 'यथार्थवाद' के अनुगामी कहे जाते हैं। उनकी मान्यता है कि वस्तु-जगत की मनुष्य से अलग सत्ता है। इसका अस्तित्व केवल विचारधारा पर आधारित नहीं। उदाहरणतः, सड़क पर पड़े पत्थर का एक अलग अस्तित्व भले ही कोई उसे देखे अथवा नहीं। यद्यपि एक व्यक्ति कुछ देखता है तो केवल पदार्थ-

जगत की प्रतिक्रिया मात्र को ही। अनुभव करने वाला व्यक्ति इसमें किंचित्-मात्र भी योगदान नहीं करता।

यथार्थ की सत्ता स्वयंमेव पहले से ही स्थित है। इसका अन्वेषण मनुष्य ने नहीं किया। यथार्थवादी यह स्वीकार करते हैं कि अधिकतया व्यक्ति (विषय) बाह्य जगत के पदार्थों की ऐन्द्रियमूलक गुणों की संवेदनाओं को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर सकता है। यथार्थवादी जिस प्रकार पदार्थ की ऐन्द्रियमूलक गुणों में विश्वास करता है उसी प्रकार वह इन संवेगों को भी उचित मानता है। इन संवेगों को पारिभाषिक शब्दावली में संवेग प्रत्यय (sensa) अथवा साधारण प्रत्यय कहा जाता है। वस्तुतः प्रत्यक्षीकरण (perception) से इसका अन्तर्विरोध स्पष्ट हो जाता है। इन्हें जटिल प्रत्यय से भी अभिहित किया जाता है। इनके विधान में मन से व्यक्तिनिष्ठ विधायक तत्त्वों का हाथ रहता है। वास्तव में उसके चिन्तन का आधार यही है। उसकी मान्यता है कि संवेग-प्रत्यय के स्तर पर उतर कर निश्चित वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि सम्भव है। यह वस्तुतः सार्वभौमिक आधार पर आधारित होगा तथा अनेक मतवादों का विषय नहीं बनेगा। यथार्थवादी का यह दावा है कि बाह्य-जगत् सम्बन्धी जिस ज्ञान की वह प्राप्ति करता है, वह पूर्णतः वस्तुपरक होता है, क्योंकि वह समस्त व्यक्तिवादी तत्त्वों यथा अनुभूतियों, भावों एवं मनोभावों को बाह्य-जगत के अध्ययन से अलग ही रखता है।

यथार्थवाद का वातावरण अत्यधिक सीमा तक भौतिक विज्ञानों के अनुकूल है क्योंकि यह सभी सत्य की मूल उपलब्धि के लिए वस्तुवादी दृष्टिकोण को ही अधिक महत्ता देते हैं। इससे कुछ प्रवृत्तियों का ही विकास सम्भव है जिनमें से कुछ प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं।

१—अनुभव की प्रक्रिया केवल बाह्य-जगत तक ही सीमित है। इससे शिक्षक एवं शिष्य दोनों की मानसिक प्रवृत्ति इसी प्रक्रिया में आबद्ध हो जाती है तथा इसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी नहीं होती। परिणामस्वरूप मानसिक संस्कृति की उपेक्षा का भय रहता है। परन्तु यदि एक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए समाज का उपयोगी सदस्य बनना चाहता है तो उसके लिए आत्म-चिन्तन की आवश्यकता होती है। वस्तुतः इस प्रक्रिया में जीवन-मूल्यों का चुनाव एवं परीक्षण का समावेश भी प्रतिध्वनित होता है। यथार्थवाद के सिद्धान्तों के आधार पर इस ढंग से किया गया चिन्तन-मनन सम्भव नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि मानसिक जीवन स्वयं-मेव यथार्थ की माँगों के अनुसार वस्तुवादी प्रमाणीकरण एवं निदर्शनात्मक मानदण्डों के अनुकूल नहीं। परिणामस्वरूप इसे उन्नति के क्षेत्र से बाहर ही रखा जाता है।

२—यथार्थवाद मन की रचनात्मक योग्यता में कमी उपस्थित कर देता है तथा इसे यांत्रिक क्रिया-कलापों की सीमा तक ठेल देता है। रुचि, प्रेरणा और इसी प्रकार की सभी मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ शिक्षण-प्रक्रिया में जड़ हो जाती हैं, क्योंकि यदि वे प्रमाणित करने योग्य नहीं हैं तो उनके अस्तित्व में संदेह हो जाता है। यह न केवल बच्चों के स्वस्थ मानसिक खेल के बृहत् भाग को ही समाप्त करता है, अपितु उनमें लघुता की भावना के उत्पन्न हो जाने से उन्हें संकीर्ण बना देता है, जैसे विश्व के यथार्थ का चित्र लेने के लिए वे कैमरा मात्र हों ! दर्शन की इस छाया में उनकी प्रसन्नता एवं आत्म-विश्वास को अधिक क्षति पहुँचने का भय बराबर बना रहता है। पाठ्य-क्रम के संगठन में कला, साहित्य, धर्म और स्वयं दर्शनशास्त्र यदि अस्तित्व की परिधि से उखाड़ कर फेंक नहीं दिए जाते तो निर्वासित तो कर ही दिये जाते हैं। एक वाक्य में यदि कहा जाय तो इसने शिक्षण के व्यापक दृष्टिकोण का शीघ्र ही अन्त कर दिया है।

३—यथार्थवाद के क्षेत्र में शिक्षक एवं शिष्य दोनों एक-दूसरे के लिए वस्तु-मात्र हैं जिनका व्यक्तिनिष्ठ जीवन एक-दूसरे को न तो प्रभावित ही करता है और न ही रुचिकर प्रतीत होता है और दोनों के मध्य चल रही इस प्रकार की शिक्षण-प्रक्रिया व्यक्तिनिष्ठता से एकदम दूर हो जाती है। न तो शिष्य की अन्तर्निहित अथवा पैतृक क्षमताएँ शिक्षक के लिए अधिक महत्त्व रखती हैं और न ही वह शिष्य को जीवन के किसी आदर्श से अनुप्रेरित करता है। इस तार्किक परिणाम के अनुरूप एक यथार्थवादी शिष्य यदि अन्य स्रोतों से सूचना एकत्र करने में सक्षम हो जाए तो वह शिक्षकत्व की शक्ति का भी उन्मूलन करना उचित समझेगा। वह बिस्तर पर लेटे, बगल में चाय का प्याला रखकर रेडियो से व्याख्यान का आस्वादन करना अधिक उचित समझेगा—अपेक्षाकृत परम्परागत ढंग से स्कूल जाने की कठिनाइयों का सामना करने—और फिर जब यंत्र के मात्र बटन दबाने से ही ज्ञान की प्राप्ति हो रही हो।

४—यथार्थवादियों के अनुसार यथार्थ एक बाह्यगत सत्य है एवं प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है; इसलिए शिक्षण-प्रक्रिया को मन के साधनों की अपेक्षा बाह्यसाधनों के प्रयोग द्वारा ही उपयुक्त ढंग से निर्देशित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए दण्ड और पुरस्कार की परिभाषा में जिसे अध्ययन के लिए प्रेरक स्वीकार किया जाता है, यथार्थवादी अध्यापक भौतिक पुरस्कारों एवं दण्डों के माध्यम से एक बहुत बड़ी राशि स्थापित कर पाएगा जिसके परिणामस्वरूप प्रेरणा के रूप में कार्य के आन्तरिक आनन्द का बहिष्कार हो जाता है। अत्यधिक निष्कृष्टतम रूप

में, यथार्थवाद पूर्णतः भौतिकवाद के स्तर तक पतनोन्मुख होते हुए, शिक्षण-संस्था को भौतिकवाद के कीटाणुओं से क्षति पहुँचा सकता है।

जो व्यक्ति यह विश्वास करते हैं कि वास्तविकता बाह्य-जगत में अन्तर्निहित नहीं होती बल्कि उसकी गति मन में है—वे आदर्शवाद के अनुगामी हैं। आदर्शवाद के अनुसार मन प्रारम्भिक यथार्थ है एवं बाह्य-जगत इसी की प्रतिकृति है। ये तो केवल विचार ही हैं जो यथार्थ का अनुभव करने में समर्थ हैं। आदर्शवाद का चरम रूप 'स्वात्मवाद' या 'व्यक्तिनिष्ठवाद' के नाम से जाना जाता है। वे जीव जो बाह्य-जगत की वास्तविकता के सम्बन्ध में सन्देह करते हुए भी वस्तुजगत में सभी व्यवहारिक प्रयोजनों के लिए इसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि इसे संकल्पनात्मक स्तर पर सृजनात्मक बौद्धिकता के योग से सामाजिकता के योग्य बनाया जा सकता है उन्हें उपयोगितावादी (Pragmatists) कहा जाता है। एकदम अन्तिम छोर पर घोर सन्देहवाद का दार्शनिक सिद्धान्त है। उदाहरण के लिए जॉर्ज सान्तयान का दार्शनिक सिद्धान्त है जिसने यथार्थ को ग्रहण करने में मन की अक्षमता पर जोर देते हुए इस बात की स्थापना की है कि अनुभव जैसी कि इसकी स्थिति है, मात्र दिवास्वप्न है। इसलिए यह ससीम मन की क्षमता से परे है।

आदर्शवाद एवं उपयोगितावाद दोनों में शिक्षण-प्रक्रिया को निर्देशित एवं प्रभावित करने की पर्याप्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं जिसका विस्तृत अध्ययन दूसरे अध्याय में किया जाएगा।

यथार्थ की कुछ और विशेषताएँ खोजी जा सकती हैं, जिनमें से कुछ प्रामाणिक रूप से वास्तविक हैं और अन्य मात्र भ्रम। क्या यथार्थ परिवर्तनशील है या अपरिवर्तनशील ?

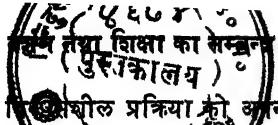
प्राचीन ग्रीस से एक विचारधारा चली आ रही है जिसने अपनी प्रवाहित लहरों से परिवर्तन के दर्शन को प्रस्तुत किया है। प्रत्येक क्षण विश्व परिवर्तित हो रहा है। यूनानी दार्शनिक हेरैक्लिटस ने इस नियम की स्थापना की है कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है। उसके अनुसार कोई एक ही धारा में दो बार प्रवेश नहीं कर सकता। परन्तु एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या यह चंचल परिवर्तन प्रणाली—रहित है या यह किसी निश्चित कार्य-कारण सिद्धान्त का अनुगमन करता है ? और यह भी, क्या परिवर्तन पूर्व परिस्थितियों से आन्तरिक रूप में भिन्न होता है अथवा यह मात्र रूप का परिवर्तन है। मूलभूत गुण अपने रूप में चिरस्थायी ही रहते हैं। कुछ अतिवादी विश्वास करते हैं कि परिवर्तन स्वयं अपने आप में नियम है और

इसके लिए अन्य शर्तों की आवश्यकता नहीं। परिवर्तन अपनी गति में स्वेच्छाचारी है और यही कारण है कि घटनाओं के विषय में किसी तरह की न तो पूर्वोक्ति सम्भव है और न जीवन के लिए सुचारु ढंग से की गई योजना ही, क्योंकि हम यह नहीं जानते कि परिवर्तन किस दिशा में होगा। इस प्रकार की तत्त्वमीमांसा का स्वाभाविक परिणाम भाग्यवाद है। दूसरे कुछ लोग परिवर्तन को सुचिंतित समझते हैं और अन्य सम्भावित परिवर्तन की आगामी प्रक्रिया को मापते हैं। सन् १८५९ ई० में डार्विन की पुस्तक 'जाति का विकास' (Origin of Species) के प्रकाशन से एक युगान्तर उत्पन्न हुआ जिसके परिणामस्वरूप विकास-सिद्धान्त का उत्साहपूर्वक अध्ययन किया जा रहा है। आज इस क्षेत्र में विकास के अनेकों सिद्धान्त हैं जो दृष्टिकोण एवं परिणाम के विवरण में विभिन्न होते हुए भी इस बात पर एक मत हैं कि विकास का सिद्धान्त जीवन का मूलाधार है।^१

डार्विन द्वारा की गई विकास-सिद्धान्त की स्थापना कि जातियाँ किसी विशेष क्रिया की रचना नहीं हैं; बल्कि दीर्घकालीन विकासमूलक प्रक्रिया की देन हैं—ने उत्तरवर्ती उन्नीसवीं एवं बीसवीं शती की विचारधारा को पूर्ण रूप से प्रभावित किया है। नीतिशास्त्र के क्षेत्र में इसने नैतिक प्रगति के लिए प्रयत्न को उत्साहित किया है। साथ ही साथ इसने मानव प्रकृति में परिवर्तन की सम्भावना को न स्वीकार करने की जड़ एवं मृतप्राय जीवन-शैली के विचार को मुक्त किया है। समाज-शास्त्र के क्षेत्र में इसने सामाजिक अभियांत्रिक कदम को गति प्रदान की है। शिक्षा के क्षेत्र में इसने बालक को एक विकासशील जैविक अवयवी के रूप में मानकर ध्यान केन्द्रित करने के लिए बाध्य किया है।

विकास का दार्शनिक सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि शिक्षा के जड़ ढाँचे की आवश्यकता वास्तव में न है और न ऐसा सम्भव ही है। शिक्षा की प्रक्रिया और ढाँचे में परिवर्तन अत्यावश्यक है। वे दोनों अपने आपको इस प्रकार परिवर्तित करें कि नयी समस्याओं एवं परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित कर सकें। यह बात इस तथ्य को प्रकाशित करती है कि मानव प्रकृति जड़ नहीं बल्कि गत्यात्मक है। विकास के किसी भी विशिष्ट सिद्धान्त के अनुसार इसका सुधार किया जा सकता है। फलतः यह शिक्षा को इस क्रिया पर बाध्य करती है कि वह जीवन की

१. विकास की समस्या के संक्षिप्त अध्ययन के लिए जॉर्ज गेलाड सिम्पसन के प्रति उल्लेख किया गया है, *The Meaning of Evolution*, The New American Library, New York.



प्रगतिशील प्रक्रिया को आनाये। यह क्रिया स्वयं अपने में विकास के कीटाणुओं से युक्त है। यह शिक्षण-प्रक्रिया को नवीन समस्याओं एवं परिस्थितियों के प्रति उन्मुख करता है एवं उन्हें गत्यात्मक रूप से विवेचित करने के लिए प्रोत्साहित करता है। ज्ञान, स्कूल, शिक्षक और शिष्य सभी समान रूप से विकासशील परिवर्तनों के अनुसार विवेचित किए जाते हैं। ज्ञान के क्षेत्र में यह अनुसंधान की भावना को विकसित करता है। स्कूल के लिए यह सामाजिक वातावरण के अनुरूप समस्त परिवर्तनों के लिए सुविधा प्रदान करता है। अध्यापक एवं शिक्षार्थी के लिए यह उस जीवन-पद्धति को निर्दिष्ट करता है जो परिवर्तित व्यक्तित्व का निर्माण करती है। कूपमण्डूक की भाँति व्यक्तित्व जड़ एवं अपरिवर्तित नहीं होता। दूसरे शब्दों में यह उनके व्यक्तित्व, उनकी शिक्षा, कल्पना-शक्ति, बुद्धि इत्यादि की विशिष्टताओं तथा उनके विकास को स्वीकार एवं उत्तेजित करता है। आज की प्रगतिशील शिक्षा विकास के विभिन्न सिद्धान्तों के प्रति अपनी सम्पन्नता के लिए पर्याप्त रूप से ऋणी है।

जगत के प्रवाहात्मक दृष्टिकोण के ठीक विपरीत एक दूसरा सिद्धान्त यह मानता है कि जीवन एवं विश्व अपने मूलरूप में अपरिवर्तनीय है। तथाकथित परिवर्तन अनश्वर और अपरिवर्तनीय की द्वितीय स्थिति है, केवल भ्रम मात्र है। उदाहरण के लिए जातियाँ, जैसा कि विकास-सिद्धान्त में स्वीकार किया गया है, प्रारम्भ में विकासशील प्रक्रिया से उत्पन्न नहीं हुईं, बल्कि ईश्वर के द्वारा रची गयी हैं। वे ढाँचे आज भी उसी रूप में पुनरुत्पादित होते आ रहे हैं। अधिकतर आरम्भिक धर्मों में इस दृष्टिकोण का समर्थन किया गया है। यहाँ तक कि १८वीं शती में जीव-वैज्ञानिक लिनेयुस ने यह कहते हुए इस दृष्टिकोण को पुष्ट किया कि जैविक अवयवी यथायथ रूप से अपनी संख्या में जगत के आरम्भ के अनुरूप ही है। इस दृष्टिकोण को विशिष्ट रचना या 'नियतिवाद' कहा जाता है।

नियतिवाद शिक्षा के क्षेत्र में स्वभावतः सदा के लिए अपरिवर्तनीय नियमों एवं शिक्षण-विषयों तथा सामग्री का निर्माण करता है। नयी पद्धतियों एवं तकनीकों के प्रति इसका विचार यह है कि ज्ञान निश्चित तत्त्व है; सम्पूर्ण ज्ञान, जगत-रचना के समय ही सर्वशक्तिमान द्वारा मनुष्य को प्रदान कर दिया जाता है। इसलिए उपयोगितावादियों की स्थापना के अनुसार मनुष्य को अपनी रचनात्मक बुद्धि से ज्ञान की रचना की आवश्यकता नहीं, बल्कि उसे दिव्य-शक्ति के समक्ष श्रद्धा एवं विनम्रता के साथ पवित्र धर्म-ग्रन्थों में से ज्ञान की खोज करनी है। इस प्रभाव के अन्तर्गत समस्त विद्यालय पूर्ववस्था बनाए रखते हैं। परिवर्तन की शक्तियों से

इनका कोई सम्बन्ध नहीं। शिक्षक एवं शिष्य असंदिग्ध रूप से जीवन के पूर्व-निर्धारित मूल्यों के अनुसार ही जीवन व्यतीत करें। इस दर्शन के अनुसार शिक्षा-त्मक ढाँचे की नींव खोज या अन्वेषण नहीं, विश्वास है। इसकी तार्किक पद्धति रूढ़िवादिता है जो उदारहृदयता एवं निरीक्षण-चेतना जो दर्शन के मूल तत्त्वों में से हैं, की घातक है। इसीलिए तो नियतिवाद बहुत दिनों तक दर्शन की व्याख्या का प्रतिनिधि ब नहीं कर सका। परिणामस्वरूप यह धर्म एवं ईश्वर-विज्ञान के आँचल में शरण लेने के लिए बाध्य हो गया।

अब हम सृष्टि-विज्ञान से समाज के प्रति तत्त्वमीमांसा से नीतिशास्त्र की ओर ध्यान केन्द्रित करके आत्मा और अनात्मा की व्यक्ति और समाज की युगों प्राचीन समस्या का अध्ययन करें। व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक रूपों में इस समस्या का सफल समाधान व्यक्तियों के उपयोगी एवं सुखी समुदाय की नींव पर आधारित है। दर्शन को एक ऐसे बिन्दु पर ले आना शिक्षक के लिए, एक सुसम्पन्न अनुदर्शन प्रदान करता है जिससे वह ऐसे शिष्य के व्यक्तित्व-विकास में सहायक बन सके जो समाज के साथ सामंजस्य भावना का विकास करने में समर्थ हो। आज के विश्व-समाज की प्रधान एवं अत्यावश्यक समस्याओं में से एक समस्या यह है कि समाज एवं व्यक्ति के बीच व्यापक रूप से सन्तुलन की पुनर्स्थापना या विकास हो सके। इस कार्य में अन्य समाज-विज्ञानों के अतिरिक्त शिक्षा का भी समान कार्य है। इस बात में जरा भी शक नहीं कि समाज उस सन्तुलन को प्राप्त करने के लिए कठिन संघर्ष कर रहा है, लेकिन फिर भी एक बड़ा भाग शेष रह जाता है जो विचारणीय रूप से शिक्षा, नीतिशास्त्र एवं समाजशास्त्र के हिस्से पड़ता है। विशेषतः आज का अन्तर्राष्ट्रीय संघटन शोपेनहावर द्वारा प्रस्तुत एक सुन्दर उपमा की याद दिलाता है कि प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय दृश्य इस प्रकार है: जाड़े की एक रात में साहियों के एक झुण्ड ने शक्तिहीन कर देने वाली सर्दियों से अपने को बचाने एवं उष्णता प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे को धकियाना आरम्भ किया। लेकिन जैसे-जैसे वे परस्पर भिड़ते रहे उन्हें उष्णता प्राप्त हुई। परन्तु उनके सूइयों जैसे काँटे एक-दूसरे की चमड़ी में घुस गये और वे अलग हो गये जब तक कि ठंडक के खतरे ने उन्हें फिर एक हो जाने को बाध्य नहीं किया। मिलन और जुड़ाई का यह क्रम रात भर चलता रहा।

व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के विभिन्न सिद्धान्तों की चरम सीमा पर एक असंयमित सिद्धान्त व्यक्तिवाद है जो शिक्षण-सिद्धान्त के रूप में अंशतः १८वीं शती के ज्याँ जाके रूसो के दार्शनिक सिद्धान्त से उत्पन्न हुआ। शिक्षा के इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि उनकी पुस्तक 'एमील' ने शिक्षा के इतिहास पर

कितना गहरा एवं बहुविध प्रभाव डाला है। उसके अनुसार समाज एक अनिवार्य बुराई है जो अबोध बालक को भ्रष्ट तथा उसकी सम्भावनाओं को छिन्न-भिन्न कर देता है। “प्रकृति-नियन्ता के हाथों से उत्पन्न प्रत्येक चीज अच्छी होती है, किन्तु मनुष्य के हाथों में पड़ते ही वह पतनोन्मुख हो जाती है,” ‘एमील’ के प्रारम्भिक पृष्ठों में रूसो ने इस प्रकार कहा है। तत्कालीन परिस्थितियों एवं निजी मनोवृत्तिमूलक विशेषताओं द्वारा उद्भूत उनके दार्शनिक सिद्धान्त ने समाज-केन्द्रित शिक्षा के विपरीत शिशु-केन्द्रित शिक्षण-सिद्धान्त को बनाये रखने में सफलता प्राप्त की। दोषपूर्ण सिद्धान्त पर आधारित तथा मानव-स्वभाव में अपूर्ण अन्तर्दृष्टि रखने के कारण शिक्षा की यह प्रणाली सामूहिक जीवन के जीवन्त हितों की उपेक्षा करते हुए बच्चे को आत्मकेन्द्रित एवं आत्मगौरवयुक्त बनाकर, स्वार्थपरता को जन्म देती है। मानव-विकास के इतिहास में राजनीति एवं अर्थशास्त्र के क्षेत्र में, हस्तक्षेपरहित व्यक्तिवाद का सिद्धान्त वैयक्तिक निरंकुश स्वतंत्रता एवं पूंजीवाद के पैशाचिक उत्थान के लिए उत्तरदायी रहा है। फिर भी जैसा कि स्पष्ट हो जायेगा व्यक्तिवाद के दिन समाप्त हो चले हैं, क्योंकि अब पहले की तरह व्यक्ति की निरंकुश स्वतन्त्रता सामाजिक या शिक्षण सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार नहीं। सामाजिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति जन-निरीक्षण का आलोचनात्मक विषय बन गई है जिसने गगतंत्र में आत्माभिव्यक्ति के सामाजिक पक्ष को घनीभूत एवं उत्साहित किया है।

इस दृष्टिकोण ने कि समाज ही सब कुछ है और व्यक्ति उस बड़े यन्त्र का एक पुर्जा मात्र है सरकारी संगठन को सर्वाधिकारवाद का रूप दे दिया है। परिणाम-स्वरूप सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शिक्षण क्षेत्रों में भी इस नियम का कठोरता से पालन किया जा रहा है। राज्य के सम्मुख किसी व्यक्ति की कोई स्वतंत्र सत्ता या स्वतंत्र व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत इच्छा को किसी भी प्रकार की मान्यता नहीं दी जाती। व्यक्तिगत इच्छा राज्य की सामान्य इच्छा में तिरोहित हो जाती है। व्यक्ति के प्रति जो भी निर्णय लिये जाते हैं या दण्ड दिये जाते हैं, उनके प्रति उन्हें कटिबद्ध ही नहीं होना पड़ता अपितु उसे व्यक्तिगत रूप से स्वयं उत्पन्न की गई—समझ कर स्वीकार करना ही पड़ता है क्योंकि उन्होंने अपनी इच्छाओं को राज्य की इच्छा के प्रति समर्पित कर दिया है। राजनीतिक दर्शन के छात्र, हीगेल द्वारा प्रतिपादित राज्य के आदर्शवादी दृष्टिकोण को इस संदर्भ में पुनः स्मरण कर सकते हैं, जिसका व्यावहारिक पक्ष फासिस्टवाद में रूपान्तरित हो गया है। साम्यवाद एक दूसरा मार्ग है, जिसमें उस मनोवृत्ति का मूर्तिकरण हुआ है। शिक्षा का गहरे स्तर

पर विश्लेषण करने पर विदित होता है कि सरकारी संगठन के सर्वाधिकारवाद के रूप में यह मानव विकास के लिए अत्यधिक हानिप्रद है। यद्यपि ऊपरी धरातल पर यह अपने समारोही आकर्षणों में लोगों को बाँधने में सफल हो सकता है। अध्यापन में इसके विषय में विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा।

एक और दृष्टिकोण जो स्वयं दर्शन की मनोवृत्ति के बहुत निकट पड़ता है, यह है कि अंश एवं सम्पूर्ण के सम्बन्ध की विशेषता से व्यक्ति और समाज परस्पर आधारित तथा एक दूसरे को प्रभावित करने वाले तत्त्व हैं। और, वास्तव में बिना दूसरे के एक की कल्पना नहीं की जा सकती। जगत के दार्शनिक सिद्धान्तों में यह विचार व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है। हाल ही में जैविक साहित्य ने, जिसमें वातावरणों एवं जैविक अवयवी के बीच क्रिया एवं अन्तरक्रिया पर जोर डाला जाता है, व्यापक रूप से इसका समर्थन किया है। और अधिक सुचारु रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि समाज एवं व्यक्ति के बीच का सम्बन्ध 'पूर्वनिर्धारित' नहीं है, बल्कि समय-समय पर निर्धारित होने की प्रक्रिया में क्रियान्वित रहता है। व्यक्ति का 'आत्म' या मनोवैज्ञानिक शब्दावली में, व्यक्तित्व समाज पर उतना ही प्रभाव डालता है जितना कि स्वयं वह इससे प्रभावित होता है। वास्तव में, दीर्घकालीन मानवीय शैशव का विशिष्ट जैविक तथ्य ही इस अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की जड़ में निहित है, जो पुनः मानव के बौद्धिक एवं नैतिक विभागों के माध्यम से सुदृढ़ हुआ है।

समाज और व्यक्ति दोनों परिवर्तित यथार्थ हैं, जो एक दूसरे से अपनी-अपनी प्रवृत्ति एवं शक्ति को प्राप्त करते हैं। इस सन्दर्भ में व्यक्तित्व किसी प्रदत्त वस्तु के रूप में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि समाज के तन्तुओं से निर्मित ही समझना चाहिये। शिक्षा की दृष्टि से उस विचारधारा का दूरगामी प्रभाव हुआ, क्योंकि यहाँ पर व्यक्ति के लिए सामाजिक सहयोग के साथ-साथ उसे अपनी सारी क्षमताओं की अनुभूति एवं विकास के लिए प्रचुर प्रोत्साहन मौजूद है, जो सदा सहयोगी रहेगा। समाज एवं स्कूल का यह उत्तरदायित्व है कि वे ऐसे क्लब एवं समितियाँ प्रदान करें जिसका वातावरण व्यक्ति के विकास के लिए उर्वर हो। स्कूल के अध्यापक के लिए विद्यालय-भवन शिक्षण की परम्परागत प्रक्रिया ढोने के लिए एक मकान मात्र नहीं है, अपितु बच्चों के व्यक्तित्वों को रूपान्तरित करने का एक जीवन्त माध्यम है। उसके लिए समाज को समझने में एवं समाज के विषयों में पर्याप्त रूप से बातचीत करते रहने में भी बड़ी बाधा है, क्योंकि किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा वह अधिक जानता है कि सामाजिक वातावरणों एवं प्रक्रियाओं को प्रभाव-

शाली रूप से नियंत्रित किए बिना एक ओर समाज एवं व्यक्ति के बीच वांछित सामंजस्य एवं दूसरी ओर व्यक्ति के आन्तरिक ऐक्य को उत्पन्न करने में वह सफल नहीं होगा। इस दृष्टिकोण के अनुसार आत्मबोध जो दार्शनिकों का एक स्वर है, बिना समाज के सम्भव नहीं क्योंकि व्यक्तित्व सामाजिक प्रक्रिया एवं क्रियाओं में जितना भाग लेता है, उतना ही उसका विकास होता है। जोड़ के अनुसार व्यक्ति समाज एवं वस्तुओं के साथ जितना अधिक सांकर्य सम्बन्ध स्थापित करेगा, समुचित विकास के लिए उतने ही अधिक अवसर उसे प्राप्त होंगे।

अस्तु व्यक्ति और समाज तथा स्वतंत्रता एवं अधिकार के बीच कोई अन्तर-विरोध नहीं है क्योंकि व्यक्ति एवं समाज एक-दूसरे के पूरक हैं और एक-दूसरे के मान को बढ़ाते हैं। व्यक्ति के समादर के साथ, समाज स्वयं सामूहिक रूप से समादृत हो उठता है। एक के सम्मानित होने से दूसरे की कभी भी अधोगति नहीं होती।

एक प्रश्न फिर भी शेष बचता है—व्यक्ति की प्रवृत्ति क्या है अथवा क्या होनी चाहिये जो समाज के ढाँचे के अन्तर्गत ही निर्मित की जा सके जो, प्रत्यक्रम से समाज के प्रतिरूप को ध्वनित करती हो और साथ ही जिसकी रचना के लिए भी प्रयत्न किया जा सके। नीतिशास्त्र का इतिहास इस प्रश्न से सम्बन्धित उत्तरों की व्यापक सूची प्रदान करता है, जिसमें से सभी को यहाँ इस समय प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

सुखवादियों की मान्यता है कि सुख ही जीवन का उद्देश्य है और व्यक्ति को समस्त नश्वर सुखों से ही तादात्म्य स्थापित करना आवश्यक है। उपयोगितावादी घोषित करते हैं कि व्यक्ति को प्रसन्नता की ओर निर्देशित करना चाहिये जो क्षणिक सुखों की अपेक्षा अधिक स्थायी है। यह प्रसन्नता केवल व्यक्ति तक ही सीमित नहीं होनी चाहिये बल्कि जान स्टुअर्ट मिल के शब्दों में “अधिकतम प्रसन्नता अधिकतम लोगों की संख्या” की होनी चाहिये। रहस्यवादी एवं अध्यात्मवादी प्रसन्नता के विरोध में मानसिक शांति जो एक आनन्दपूर्ण अवस्था है, को स्थानापन्न करना चाहते हैं, इसे जीवन के उद्देश्य के रूप में तभी प्राप्त किया जा सकता है जब व्यक्ति अपने आत्मा को विश्वजनीन चेतना या ब्राह्माण्डिक चेतना में अन्तर्निहित कर दे। कट्टर बुद्धिवादी आत्म का तादात्म्य विशुद्ध तर्क से स्थापित करते हैं; यानी, तर्क जो रूपात्मक और अमूर्त है, अनुभूतियों एवं भावों से अछूता हो। यह विचारधारा सुखवादियों के एकदम विपरीत है जिनके मतानुसार विशुद्ध आत्म अनुभूतिपरक है जबकि तर्क बिल्कुल कल्पना है, इत्यादि। ये सभी नैतिक दार्शनिक सिद्धान्त एकपक्षीय

एवं पक्षपातपूर्ण हैं, क्योंकि किसी एक ही वस्तु से आत्म का तादात्म्य दिखाने के लिये वह एक दिशा की ओर उन्मुख हैं। समय-समय पर नैतिक चिंतन जगत के इतिहास में चिन्तकों द्वारा आत्म की परस्पर विरोधी अवधारणाओं में समन्वय लाने के लिए प्रयत्न किये गए हैं। उदाहरण के लिए पूर्णतावादियों ने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास पर जोर दिया है, किसी एक पक्ष पर नहीं।

शुभ जीवन या नैतिकता का सम्पूर्ण चित्र आज 'मूल्यों' की शब्दावली में बनाया जाता है जिसने समकालीन दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय चिन्तन के व्यापक दृश्य को अधिकृत कर रखा है।

मूल्य के सिद्धान्त बहुविध हैं, और इस विषय पर विपुल साहित्य उपलब्ध है। इस विषय के अध्ययन के लिए एक बहुत ही संक्षिप्त किन्तु अपरिमार्जिक आलोचना सम्भव है।^१ निरपेक्षवादियों के अनुसार मूल्य वस्तुपरक यथार्थ है, मनुष्य की व्यक्तिनिष्ठ रचना नहीं है। यह मनुष्य के अस्तित्व से बिलग है; भले ही मनुष्य जीवित रहे या न रहे। वे विश्व के नैतिक सारतत्व हैं। वैसे नैतिक नियमों की निजी गति है। उदाहरण के लिए हिन्दू धर्म के कर्मसिद्धान्त के अनुसार पाप एवं पुण्य का फल जीवन में अवश्य भोगना पड़ेगा। कोई इससे पलायन नहीं कर सकता, क्योंकि नियम सार्वभौमिक एवं नियमित है। पाश्चात्य विचारधारा में भी इसी प्रकार मूल्यों का परम्परामूलक त्व प्राप्त है; यथा सत्यं, शिवं और सुन्दरं से स्वयं ये शाश्वत सार्वजनीन एवं पूर्ण हैं। यह सभी एक साथ मिलकर अपने ही विनाशरहित जगत् की रचना करते हैं। यद्यपि ये शाश्वत मूल्य मनुष्य द्वारा रचित नहीं हैं, फिर भी वह इन्हें दर्शन, धर्म और रहस्यवाद की पद्धति से खोज सकता है। जिस सीमा तक वह इनमें हिस्सा लेता है, वह नैतिक है। कहने का अभिप्राय यह है कि सत्यं, शिवं और सुन्दरं के ढाँचे में अपना जीवन ढालते हुए व्यक्ति उनकी विशेषताओं में जितना अधिक भाग लेता है और उन्हें आत्मसात करता है और उस सीमा तक वह नैतिक है। निरपेक्ष पूर्णता मनुष्य की पहुँच से कदाचित बाहर है लेकिन उनके लिये प्रयत्नशील होना स्वयं अपने आपमें एक उच्चस्तरीय नैतिक गुण है। यथार्थ का यह वस्तुपरक जगत मनुष्य के व्यक्तिनिष्ठ जीवन में प्रवेश कर जाता है और इसे व्यापक रूप से प्रभावित करता है।

इस दृष्टिकोण की प्रतियोगिता में प्रकृतिवाद और उपयोगितावाद आते हैं,

१. 'मूल्य' की समस्या पर एक पूर्ण कृति के लिए देखिये राधाकमल मुकर्जी की पुस्तक *Social Structure of Values*; मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लन्दन।

जिनके अनुसार मूल्य न तो शाश्वत हैं, न स्थिर एवं लोकातीत ही। वे देश, काल और वातावरणों से घिरे हुए हैं; समस्यामूलक परिस्थितियों से प्रभावित हैं, वास्तव में जीवन की समस्याओं का हल ढूँढ़ने की स्थिति में उनका जन्म होता है। वे मनुष्य के अनुभव एवं बुद्धि से रहित नहीं हैं। वे मनुष्य की बुद्धि के परिणाम हैं जो स्वयं भौतिक जगत एवं उसके सामाजिक वातावरण को समझने में सक्रिय रहती है क्योंकि मनुष्य और परिस्थितियाँ प्रत्येक क्षण समान रूप से विकसित हो रही हैं, इसलिए मूल्य स्थिर नहीं रह सकते परन्तु ये विकास के मुख्य नियमों का अनुसरण करते हैं और वैज्ञानिक पद्धतियों के साथ-साथ आलोचनात्मक परीक्षण एवं समीक्षा के विषय हैं। वे न तो प्रागानुभविक हैं न ब्राह्माण्डिक, बल्कि स्वभाव से अनुभवात्मक एवं सामाजिक हैं और व्यक्ति सामंजस्य एवं सामाजिक एकरूपता के साधन हैं।

ऐसे भी विचारक हैं जो मूल्यों की अनेकता में विश्वास करते हैं और स्थापित करते हैं कि क्रमिक रूप से इनका मूल्यांकन सम्भव है एवं उन्हें एक क्रमिक व्यवस्था में सुनियोजित किया जा सकता है। इस प्रकार वस्तुपरकता की एक विचारणीय श्रेणी उपलब्ध की जा सकती है। कुछ लोग, जैसे अध्यात्मवादी आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोच्च स्थान देते हैं, जबकि दूसरे यथा कलाकार सौन्दर्यमूलक मूल्यों को प्राथमिकता देते हैं। मूल्यों का यह समानान्तरवाद—ऐसी स्थिति में अस्वीकार किया जा रहा है जब मूल्य एक दूसरे में अन्तरप्रवेश के बिना समानान्तर होते हैं। परिणामस्वरूप यह सिद्धान्त बल पकड़ रहा है कि मूल्य जटिल तत्त्व हैं। अभिप्राय यह है कि विभिन्न क्षेत्रों से व्युत्पन्न मूल्य, यानी, आध्यात्मिक, मौलिक, सामाजिक, आर्थिक और सौन्दर्यमूलक मूल्य अलग-अलग एवं संकीर्ण विभागों में बँटे नहीं रहते, बल्कि एक संगठन में स्वतन्त्र रूप से विकसित होकर एक जटिल ढाँचे का रूप ग्रहण कर लेते हैं। अब मूल्यों का यह जटिल रूप जड़ नहीं है अपितु एक गत्यात्मक प्रक्रिया है। मूल्यों के नये जटिल रूप या ढाँचे जीवन के बहुविध क्षेत्रों में मनुष्यों के सक्रिय एवं पूर्ण सहयोग के द्वारा निरन्तर विकासशील प्रक्रिया में बने रहते हैं।

मूल्यों का सर्वांगीण दृष्टिकोण प्रतियोगी मूल्यों के प्रतिस्पर्धी दावे के विघटन एवं समन्वय पर बल देता है। सभी एकांगी दार्शनिक सिद्धान्त इनसे कट कर अलग हो जाते हैं। उदाहरण के लिए मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक पद्धति, जो भौतिक यथार्थ के साथ उत्पन्न और विलीन होती है, गम्भीर आक्षेप के अधीन है क्योंकि यह आध्यात्मिक, धार्मिक और सौन्दर्यमूलक मूल्यों के साथ उचित रूप से समन्वय करने में असमर्थ है। इसी तरह अन्य सभी वाद जो यथार्थ के किसी एक पक्ष पर आधारित

हैं, तथा सम्पूर्ण नहीं—वे दोषयुक्त हैं। जीवन का एक आदर्श मूल्यों का यौगिक या स्वीकार्य सुन्दरम् अवश्य ही सम्पूर्ण होना चाहिये जो विभिन्न मूल्यों का नपा-तुला सम्मिश्रण हो। जहाँ तक सम्भव हो वह मानवीय अनुभव के अनेक वांछनीय स्रोत से व्युत्पन्न हो।

मूल्यों के सिद्धान्तों एवं विशिष्ट प्रतिरूपों की स्वीकृति शिक्षा पर एकात्मक (अपना ही) प्रभाव डालती है। एक बार स्वीकृत मूल्य व्यक्तित्व के प्रत्येक कोर में प्रवाहित होने लगते हैं और सभी वरेण्य व्यवहारों का नेतृत्व एवं निर्देश करते हैं। इसलिए शिक्षक के लिए अनिवार्य है कि वह मूल्यों के चुनाव के सम्बन्ध में आलोचनात्मक दृष्टि को अपनाये। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने एक बार अत्यन्त उपदेशात्मक अनुभव प्राप्त किया। प्रसंगोचित समझ कर उसका पुनः उल्लेख किया जा रहा है जिससे पाठक किसी भी प्रकार का निष्कर्ष निकाल सकते हैं। वह प्रधानाचार्य के निमंत्रण पर पंजाब के एक जिले के बाहरी क्षेत्र के एक स्कूल में गया। बहुत सी दूसरी बातों में जब उसने प्रधानाचार्य को यह संकेत दिया कि विद्यार्थियों के स्वैच्छिक श्रम से स्कूल से सम्बन्धित विस्तृत भूमि का लाभ उठाया जा सकता है तो उन्होंने तुरन्त गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया, “अपने विद्यार्थियों को आर्थिक रूप से उपयोगी बनाने के लिए मैं ही अकेला मूर्ख नहीं हूँ। बल्कि मैं तो यह चाहूँगा कि दसवीं की परीक्षा देकर वे अत्यधिक हतोत्साहित हों और साम्यवाद की शक्तियों में सम्मिलित हो जायें।” पाठक यह कह सकते हैं कि प्रस्तुत प्रधानाचार्य वास्तव में साम्यवादी नहीं थे परन्तु इससे यह ध्वनित तो होता ही है कि शिक्षक द्वारा परिवर्तित मूल्य शिष्यों पर कैसे चरितार्थ होते हैं। किसी भी सामाजिक ढाँचे की नींव जैसी वस्तु-स्थिति हो शिक्षा की किसी क्रमिक-विधि से हिलाई बथवा सुदृढ़ की जा सकती है।

इससे मूल्य की समस्या सभी के सामने सुस्पष्ट हो जाती है। स्थिर मूल्यों में विश्वास करने वाले शिक्षक परम्परा से चिपके रहते हैं। वे शिक्षा के किसी संदर्भ या पद्धति में परिवर्तन करने का प्रबल विरोध करते हैं। सामान्यतः वे केवल जीवन में स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग एवं उदारतापूर्वक चिंतन करने में अक्षम ही नहीं होते अपितु वे अपने शिष्यों को भी अपनी विचारधारा के अनुसार देखना पसंद करते हैं। पूर्वावस्था को बनाये रखने के प्रबल समर्थक, वे शिक्षा में अनुशासन की अधिकारिक अवधारणा के चरितार्थ एवं सुदृढ़ करने में जरा भी नहीं झिझकते। दूसरी ओर जो मूल्यों के समन्वय एवं उनकी गतिशील प्रकृति के दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं वह दृष्टिकोण से अधिक उदार एवं व्यवहार में प्रयोगशील होते हैं। समन्वय के लिए

उनकी व्यापक क्षमता शिक्षा में किसी भी प्रकार की संकीर्णता दूर करने में सफल होती है। अपने शिष्यों को निर्देश देने में वह किसी यांत्रिक पद्धति को सामान्यता नहीं अपनाते। वस्तुतः वे उन्हें रचनात्मक एवं बौद्धिक रूप से शिक्षा के अर्जन में उन्मुख कर देते हैं। वह बच्चे की विश्लेषणात्मक एवं समन्वयात्मक क्षमताओं को प्रशिक्षित करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। इस प्रकार अधिकांशतः निर्णय का भार उन्हीं पर छोड़ दिया जाता है। वास्तव में इस प्रकार का निर्णय उनके व्यक्तिगत अनुभवों एवं प्रयोगों पर आधारित होता है। परिणामस्वरूप वे समस्याओं के विभिन्न पक्षों को अलग-अलग तत्वों की अपेक्षा यौगिक रूप में देखने की प्रवृत्ति का विकास करने के लिए विवश हो जाते हैं। उदाहरण के लिए वे मन एवं शरीर को सम्पूर्ण रूप में देखते हैं। व्यक्ति और समाज शिक्षक और शिष्य को सम्पूर्ण रूप में देखते हैं और परस्पर विरोध को भी एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं देखते। समन्वय की ओर उन्मुख प्रवृत्ति ने विश्व-विचारधारा एवं विश्व-समाज सम्बन्धी दर्शन में एक महान योगदान दिया है।

दर्शन-शास्त्र एक जीवन-शैली है

उपर्युक्त विवेचन से स्वतः सिद्ध हो गया है कि दर्शन-शास्त्र व्यावहारिक जीवन से कट कर कोई एक सिद्धान्त मात्र नहीं है, बल्कि एक जीवन-शैली है। व्यक्ति जिस दर्शन को स्वीकार करता है शिक्षा पर उसका गहरा प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त विभिन्न जीवन-शैलियों में उत्पन्न होते हैं और विभिन्न शिक्षण-प्रणालियों को रूपान्तरित करते हैं। अध्यात्मवाद एवं सरलता की ओर प्रवृत्त प्राचीन भारतीय दार्शनिक मान्यताओं से गुरुकुलों की स्थापना हुई। महात्मा गान्धी के दार्शनिक सिद्धान्त एक बड़ी सीमा तक बेसिक शिक्षा-प्रणाली की योजना के विकास के लिए उत्तरदायी हैं। इसी प्रकार विभिन्न धार्मिक संस्थाओं ने अपने निजी दर्शनों के अनुसार युवकों को ढालने के लिये संस्थाओं की स्थापना की है। परिणामस्वरूप हमारे पास सम्पूर्ण विश्व में साम्प्रदायिक संस्थाएँ विद्यमान हैं। व्यावहारिक बुद्धि के व्यक्तियों के लिये व्यवहार में अपने विश्वास को रूपान्तरित करना सहज ही है। अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को शिक्षा की एक विशिष्ट प्रणाली के माध्यम से रूपान्तरित करने के लिए वे बाध्य हैं क्योंकि यह स्पष्ट है कि विभिन्न शिक्षा-प्रणालियों से विभिन्न परिणाम निकलेंगे। चूँकि शिक्षा जीवन एवं मानवों के विवेचन तथा उन्हें प्रभावोत्पादक रूप से ढालने का एक साधन है इसलिये शिक्षा का प्रत्येक प्रश्न संयोगवश दर्शन का प्रश्न हो जाता है। जैसा कि किसी सीमा तक

पहले ही संकेत किया जा चुका है, मात्र दर्शन ही एक ऐसा शास्त्र है जो जीवन, व्यक्ति और समाज को एक सम्पूर्ण रूप में देख सकता है। साधन के रूप में शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक पक्ष है; यह कथन ठीक ही है।

डा० जॉन डिवी ने किसी भी आधुनिक दार्शनिक की अपेक्षा दर्शन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रदान करके अधिक स्पष्टता से कहा है:

“जहाँ कहीं भी दर्शन-शास्त्र को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया गया है, यह अनिवार्य रूप से स्वीकार किया गया है कि इसका एकमात्र लक्ष्य बुद्धिमत्ता की प्राप्ति में है जो अन्ततोगत्वा जीवन-पद्धति को प्रभावित करेगी।” शिक्षक होकर महान् दार्शनिकों के आवेगों का आस्वादन करना कठिन नहीं है। क्योंकि एकमात्र शिक्षा के माध्यम से ही विभिन्न दृष्टिकोणों को एक व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है। डा० डिवी को जब अमेरिका के एक विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर आमंत्रित किया गया तो उन्होंने इस आधार पर आमंत्रण को अस्वीकार कर दिया कि वे शुद्ध दर्शन में रुचि नहीं रखते। इसका उनके लिए तब तक कोई उपयोग नहीं जब तक उन्हें शिक्षा-विभाग का कार्यभार नहीं सौंप दिया जाता जिससे कि वह अपने दर्शन को बाह्य जगत में परख सकें; और आवश्यकतानुसार वास्तविक स्कूल-अभ्यास में उसे ढाल सकें। उनकी गत स्वीकार की गई और ‘डिवी स्कूल’ इस बात का उदाहरण बन गया कि एक दार्शनिक शिक्षण-संस्था को किस रूप में बदल सकता है। वास्तव में डिवी महोदय ने दर्शन में एक चरम सीमान्त दृष्टिकोण को अपनाया है। यदि उनकी मान्यता यह है कि यह पूर्वकल्पित दर्शन नहीं है जिसे शिक्षा के ढाँचे को ढालना चाहिए बल्कि बात इससे उलटी है। यानी स्कूल में प्राप्त अनुभवों को शिक्षात्मक दर्शन द्वारा प्राप्त किया जाय।

डिवी की भाँति अनेक महान् दार्शनिक समान रूप से महान् शिक्षक भी थे। सुकरात, जिनका दर्शन उनके शिष्य प्लेटो के लेखन में सुरक्षित है, मानव जाति के महान्तम शिक्षक के रूप में स्वीकार किये गये हैं। सोफिस्टों के उपयोगिता के दर्शन के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए उन्होंने सार्वजनीन सत्य को स्थापित करने का प्रयत्न किया। वह अनेक स्थानों पर गये। वहाँ उन्होंने प्रश्नोत्तर करते हुए एवं संवाद की पद्धति द्वारा एथेन्स-वासियों के विरुद्ध अपने दर्शन की स्थापना की। उनकी शिक्षा-पद्धति जिसे सुकरातीय पद्धति से जाना जाता है आज भी स्कूल में प्रयुक्त होती है।

प्लेटो, जो दुनिया के महानतम दार्शनिकों में से एक हैं, पाश्चात्य विचारधारा को गहराई से प्रभावित किये हुए हैं। उनकी पुस्तक 'रिपब्लिक' एक महानतम प्राचीन ग्रंथ है, इसमें एक साथ तत्त्व-मीमांसा, नीति-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र और शिक्षा का समाहार हुआ है। न्याय की परिभाषा पर विचार करते हुए उन्होंने चरित्र और राजनीति की समस्याओं का विवेचन किया है। इसी के आधार पर उन्होंने शिक्षा की एक प्रणाली की नींव डाली है, जो न्याय-सम्बन्धी उपलब्धियों को परिपूर्ण करेगी। उन्होंने सामान्य मनुष्य एवं राज्य के शासकों, जिन्हें अनिवार्य रूप से दार्शनिक बनना है, के लिए भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम एवं उसकी सीमा निर्धारित की है। आज जिसे हम विश्वविद्यालय-पाठ्यक्रम कहते हैं वे इसके प्रथम सूत्रकार थे और उनकी एकादमी यूरोप का प्रथम विश्वविद्यालय था।

व्यक्तित्व के चतुर्दिक विकास के लिए 'रिपब्लिक' में विभिन्न स्तरों के लिए सम्पूर्ण पाठ्यक्रम की रूपरेखा प्राप्य है। व्यापक रूप से, शिक्षा का स्वर मानवतावादी एवं उदार है। विज्ञान एवं उद्योगीकरण का तब विकास नहीं हुआ था। उद्देश्य बुद्धि को प्रशिक्षित करने का नहीं, अपितु सम्पूर्ण व्यक्ति और उसके नैतिक चरित्र को प्रशिक्षित करने का था। फलतः चरित्र के निर्माण के लिए बौद्धिक एवं भौतिक शिक्षा को एक साथ उपयोग में लाया गया है।

प्लेटो महोदय की मान्यता है कि शिक्षक इस बात पर अपना ध्यान केन्द्रित करें कि शिष्य स्वयं अपने विषय में सोच सकें, वे अपने मन में दूसरों द्वारा गुम्फित विचारों से चिपकने की आदत से दूर रहें। शिक्षक का उद्देश्य यह नहीं होना चाहिए, 'जो ज्ञान पहले नहीं था उसे मन में नहीं डालना'। सम्भवतः 'रिपब्लिक' में शिक्षा सम्बन्धी यह सर्वोत्तम खण्ड है। दूसरे शब्दों में जिसका यह अभिप्राय है कि शिष्य स्वयं यथार्थ का अनुभव करने के लिए निर्देशित किये जायें।

शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था का उत्तरदायित्व राज्य पर है। पाठ्यक्रम राज्य के द्वारा अवश्य ही नियंत्रित एवं निश्चित होना चाहिए। और भी, स्कूल पाठ्य-पुस्तकों एवं साहित्य पर कठोर नियंत्रण होना चाहिए क्योंकि सभी पाठ्य-सामग्री उपयोग के योग्य नहीं होती। विचारकों द्वारा जिनकी शिक्षा-दीक्षा मिल महोदय के 'स्वाधीनता' (Liberty) के आधार पर हुई, राज्य द्वारा शिक्षण के नियंत्रीकरण एवं पाठ्य-पुस्तकों का सेंसर (नियंत्रण) करना कटु आलोचना का विषय रहा है। इसका एकमात्र कारण यह था कि उन्होंने प्रजातन्त्र-प्रणाली की सुविधाओं के आनन्द का उपभोग कर लिया था। लेकिन ग्रीस की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ उस समय प्लेटो की शिक्षण-प्रणाली के अनुरूप ही थीं।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने, जिन्हें बीसवीं शताब्दी में महान् दार्शनिक कहा गया है लेकियूम नामक स्कूल की स्थापना की थी। प्लेटो की एकादमी से भिन्न लेकियूम ने गणित और चिंतनशील एवं राजनीतिक दर्शन के अध्ययन की अपेक्षा जीवन-विज्ञान एवं प्राकृतिक विज्ञान में अधिक प्रवृत्ति दिखलाई। वास्तव में यह अरस्तू ही थे, जिन्होंने सर्वप्रथम योरोपीय इतिहास में विज्ञानों का विभिन्न शाखाओं में वर्गीकरण किया, और उनमें पुस्तकालय विज्ञान का आरम्भ किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम एक बड़े चिड़ियाघर की स्थापना की।

लेकियूम में ही छात्रों द्वारा स्वराज्य की सर्वप्रथम झलकियाँ प्रकट हुईं। छात्रों ने स्वयं नियमों को सूत्रबद्ध किया और प्रत्येक दस दिन के उपरान्त अपने में से किसी एक को स्कूल का निरीक्षण करने के लिए चुना। सम्भवतः वह व्यावहारिक सुविधा के लिए अधिकतर उपयुक्त था, क्योंकि स्कूल में छात्रों की संख्या बढ़ गयी थी, इसलिए उसका प्रबन्ध आसान कार्य नहीं रह गया था। अपने गुरु की तरह अरस्तू ने भी शिक्षा को राज्य द्वारा संचालित करने पर बल दिया। उनकी 'पॉलिटिक्स' नामक पुस्तक में लिखा गया, "संविधानों की स्थिरता में जो बात सबसे अधिक सहयोग देती है, वह राज्य के अनुसार शिक्षा की अनुकूलता है..... नागरिक जिस राज्य के अन्तर्गत रहता है उसके अनुरूप ही अपने आपको शिक्षित करने का प्रयत्न करें।"

अब हम १७वीं शती के दार्शनिक 'लॉक' की ओर मुड़ें। उन्होंने उत्तरवर्ती शिक्षात्मक दर्शन एवं प्रणाली को व्यापक रूप से प्रभावित किया। शिक्षा-सम्बन्धी उनके विचार उनकी दो पुस्तकों में, 'Essay on Human Understanding' तथा 'Thoughts Concerning Education' में उपलब्ध हैं। लॉक महोदय की धारणा है कि जन्म के समय मन सादा लेखनी पट्टी अथवा स्लेट की भाँति है, जिस पर ऐन्द्रियानुभव असंख्य विधि से लेख लिखते हैं। समस्त ज्ञान भण्डार हमें अनुभवों और हमारी इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है—यानी "सर्वप्रथम इन्द्रियों में जो कुछ था, अतिरिक्त उसके मन में कुछ नहीं है।" इसलिए मन को विशेष प्रकार से प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है। शिक्षा बुद्धि का अनुशासन है।

ज्यां जाके रूसो—जिनके लिए वाल्टेयर ने व्यंग्य से कहा था कि "दार्शनिक से उनका उतना ही सादृश्य है जितना कि एक बन्दर का आदमी से होता है"—अपने अपरिपक्व दर्शन के बावजूद भी शिक्षा में हुई क्रान्ति के लिए उत्तरदायी हैं। शायद वे एक ऐसे उदाहरण हैं जिन्होंने दार्शनिक कम होते हुए भी शिक्षा पर गहरा प्रभाव डाला है, क्योंकि उनकी शिक्षाएँ यथावसर नई विचारधारा में घुलमिल

गयी हैं। तीसरे अध्याय में उनका शिक्षा-दर्शन एक सीमा तक विवेचित किया गया है।

उपरोक्त उल्लिखित नामावली में कितने ही और प्राचीन दार्शनिकों के नाम जोड़े जा सकते हैं, जिन्होंने शिक्षा के प्रति स्मरणीय सहयोग दिया है। हमारे समय में निकट पूर्व एवं समकालीन कुछ प्रमुख दार्शनिक महान् शिक्षाशास्त्री हुए हैं—जिनमें बर्ट्रैंड रसेल, ए० एन० ह्वाइटहेड, एल्डुअस हक्सले और जान डिवी हैं।

यह स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र शिक्षा के लिए अत्यावश्यक आधार है, क्योंकि यह इसके उद्देश्य को निर्धारित करने के साथ-साथ इसकी पद्धतियों का संकेत भी करता है। सामाजिक आदर्शों एवं मूल्यों का परीक्षण दर्शनशास्त्र का कार्य है। शिक्षा का निर्धारण वस्तुतः स्वीकृत आदर्शों की परिधि के अन्तर्गत ही किया जाता है। यही कारण है कि शिक्षक को जीवन के आदर्शों के चुनाव के लिए दर्शनशास्त्र का उल्लेख करना ही पड़ता है। इनके बिना वह अपने शिष्यों की क्रियाओं को ठीक निर्देश नहीं दे सकता। जीवन की गहनतम अनुभूति के बिना मात्र क्रियाएँ मात्र अन्ध अभ्यास है, जिससे मनुष्य के उच्चतर चरित्र-निर्माण का कोई सम्बन्ध नहीं होता। नैतिक चरित्र तभी लाभप्रद होता है जब जीवन में किसी वांछनीय आदर्श को स्वीकार करके उसके अनुसार अध्यवसायपूर्वक जीवन बिताया जाय। जीवन के ऐसे आदर्शों को स्वीकार करना स्वतंत्र जीवनयापन के लिए बाधक नहीं है। आदर्शों की उपलब्धि में अनुशासन की एक निश्चित मात्रा किसी एक शिक्षित समाज के लिए कम से कम शर्त है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि ऐसा आदर्शात्मक जीवनयापन करने पर ही कोई व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेता है जबकि अन्य मानव आत्मा इसकी प्राप्ति के लिए ललकती रहती है। इसलिए शिक्षकों को सामाजिक एवं नैतिक दर्शनों का निरन्तर उल्लेख करते हुए जानना चाहिए कि उससे उसका क्या तात्पर्य है, जिससे उसके शिष्य जीवन की गलत पद्धतियों को न अपना लें। लेकिन शिक्षक और शिष्य अपने सम्बन्ध में सोचने के अधिकार से वंचित कर दिए गये, बदले में सिद्धान्तवाद की उद्गार घूँटें पीने को मिलीं। स्कूल और साथ ही समाज के मौलिक मूल्यों की स्वतन्त्रता—कुछ देर के लिए समाप्त हो गयी।

परिणाम निकलता है कि प्रत्येक दर्शन अनुशासन के एक विशिष्ट प्रकार की योजना प्रस्तुत करता है। दर्शनशास्त्र का इतिहास व्यापक रूप से दिखलाता है कि एक युग का दर्शन स्कूल के चरित्र और अनुशासन पर किस तरह का एकाकी प्रभाव रखता था। भारतीय दर्शन की आध्यात्मिक प्रवृत्ति ने कठोर संयमयुक्त गुरुकुलों

एवं आश्रमों को जन्म दिया, जहाँ विद्वत्ता और आत्मा के उच्च जीवन के लिए कठोर रहन-सहन और सरल जीवन अनिवार्य समझा जाता था। दर्शन उन पर आरोपित नहीं किया गया था, बल्कि अध्ययन, चिन्तन और अपने शिक्षकों के साथ समागम करने पर यह बिन्दु उन्हें देखना ही पड़ता था। सामन्तवाद और दासता, जो यूरोप के मध्य-युग में सामाजिक दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार किए गये थे, शिक्षा में अधिकारवाद के टुकड़े के रूप में समाप्त हुए, स्कूल में बेंत और जागीर में तलवार का शासन सर्वोच्च था। हीगेल और मार्क्स के दर्शनों का अनुसरण करते हुए समग्रवादी राज्य का उदय हुआ, जिसके साथ शैक्षणिक जगत अपनी रही-सही स्वतन्त्रता भी खो बैठा। लेकिन जे० एस० मिल जैसे दार्शनिकों के लेखन के साथ—‘स्वतन्त्रता’ इसका नमूना है—और प्रजातांत्रिक दर्शन के उदय के साथ अनुशासन की एक नई किस्म शिक्षा में घोषित की गई। इस अनुशासन के आधार समानता, अहिंसा, स्वतन्त्रता, आत्मोत्तरदायित्व और परस्पर सहयोग हैं। प्रजातांत्रिक स्कूल में शिक्षक और शिष्य अपने उचित विकास और रचनात्मक कार्य के लिए स्वतन्त्र रहते हैं। आत्मानुशासन इस शिक्षात्मक दर्शन का मूलाधार है। वस्तुतः किसी एक विशिष्ट दर्शन में शिक्षित शिष्य जीवन और रहन-सहन के प्रकार के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण रखने के लिए बाध्य है। शिक्षक यह निश्चय समझ ले कि किसी विशिष्ट प्रकार का दर्शन शिष्यों पर आरोपित नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि तर्क के आधार पर उनके लिए ग्राह्य बनाना चाहिए अन्यथा इससे उचित अनुशासन का प्रयोजन पराजित होगा।

दर्शन न केवल शिक्षा के उद्देश्यों को ही प्रभावित करता है बल्कि पाठ्यक्रम एवं शिक्षण-पद्धतियाँ भी इससे प्रभावित रहते हैं। तृतीय अध्याय में विभिन्न दर्शनों के क्रम में पद्धतियों एवं पाठ्यक्रम के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख पाठक के ज्ञान में अभिवृद्धि करेगा। कुछ सीमा तक यहाँ भी इसका उल्लेख किया गया है। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दर्शन का व्यावहारिक पहलू शिक्षा के पाठ्यक्रम एवं पद्धति से गहरा सम्बन्ध एवं आलोचनात्मक दृष्टि रखता है।

अब यह देखना आवश्यक है कि दर्शन, राजनीति और शिक्षा एक दूसरे से अन्दर ही अन्दर जुड़े हुए हैं। बड़े पैमाने पर किसी देश का दर्शनशास्त्र उसकी राजनीति को प्रभावित करता है। नीत्शे और हीगेल के दर्शनों ने नाजी जर्मनी की स्थापना की, मार्क्स के दर्शन ने रूस में साम्यवाद का नेतृत्व किया और मिल के दर्शन ने इंग्लैंड में और दूसरे देशों में भी प्रजातंत्र के कदमों को गति प्रदान की। किसी देश की राजनीति बदले में शिक्षा को प्रभावित करती है। वे जो राजनीतिज्ञ हैं, बड़ी तीक्ष्णता

से देखते हैं कि राजनीतिक दर्शन स्कूल में उचित रूप से ग्रहण किया जा रहा है और युवक उसके साथ शिक्षित होकर और उस दर्शन सिद्धान्तों में प्रशिक्षित होकर उसे अभ्यास में परिणामित करते हैं। उदाहरण के लिए हम क्रम से समग्रवादी एवं प्रजातांत्रिक सुरक्षाओं में क्रमशः नियन्त्रित एवं स्वतन्त्र स्कूल की व्यवस्था पाते हैं। शिक्षा किसी देश के दर्शन और राजनीति के लिए उत्तरदायी है और इसकी सत्ता का औचित्य समर्थन तभी किया जा सकता है जब दोनों का स्वर विकसित किया जाय। जबकि कुछ विचारक यह स्वीकार करने के लिए तैयार हैं कि शिक्षा को दर्शन और राजनीति से अपने आदर्श प्राप्त करने चाहिए तो कुछ लोग जैसे जॉन डिवी आशा करते हैं कि स्कूलों को अपनी क्रियाओं एवं उपलब्धियों से दर्शन एवं राजनीति को प्रभावित करना चाहिए। वास्तव में यह क्रिया दो-मार्गीय है : दर्शन और शिक्षा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं—कभी-कभी अभिन्न रूप से। वस्तुतः शिक्षक को सामाजिक व्यवस्था की तरह ही गत्यात्मक होना चाहिए।

दर्शन, राजनीति और शिक्षा के पारस्परिक सम्बन्ध का आदर्श उदाहरण 'गणतंत्र' (रिपब्लिक) में विद्यमान है। प्लेटो ने न्याय को मूलाधार मानते हुए एक आदर्श राज्य की वकालत की थी। न्याय के सद्गुण को प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों को उच्च चरित्र की शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे लोगों के प्रति वे राजनीति के यंत्र से न्याय कर सकें और कथित सद्गुण को अपने व्यक्तिगत उदाहरण से निम्न वर्ग में चरितार्थ कर सकें। इस प्रकार के चुने हुए लोग लगभग पैंतालीस वर्ष की आयु तक बौद्धिक और नैतिक अनुशासन के कठोर एवं विशिष्ट गतिविधि का अनुभव रखते हों, राज्य के अभिभावक (दार्शनिक नृप) होने के पहले वे अपने साहस को सिद्ध करें (अन्यथा उखाड़ फेंके जायें)।

जैसा कि स्वाभाविक है, आधुनिक शिक्षा हाल के दार्शनिक सिद्धान्तों पर निर्मित की गयी है। सर्वप्रथम १८वीं शताब्दी की विचारधारा की ओर मुड़ कर हम संक्षेप में आधार को ढूँढ़ें। १८वीं शतक की तात्पर्य यह है कि विश्व स्वतःचालित यंत्र है और निजी यंत्र-रचना से ही अपनी क्रियाओं में निर्धारित हुआ है। यह अवधारणा व्यापक रूप से मानव जीवन पर लागू की गई है। मनुष्य को यंत्र के सदृश समझा गया था जो अपनी बाध्यता के अनुसार क्रिया करता है, इच्छा और आत्म-प्रयास के लिए बहुत अधिक जगह नहीं है। वैज्ञानिक नियमों के अनुसार व्यवहार को भौतिक पिंडों की तरह ही पूर्व रूप से बतलाया जा सकता है। जीवन के प्रति इस दृष्टिकोण ने मनोविज्ञान में साहचर्यवाद और व्यवहारवाद को जन्म दिया। प्रथम के अनुसार मन साहचर्य के नियमों के आदेशानुसार दृढ़तापूर्वक क्रिया करता है।

जे० बी० वाट्सन द्वारा प्रणीत व्यवहारवाद ने घोषणा की कि विशेष प्रकार की उत्तेजनाओं को लागू करके विशेष प्रकार का व्यक्तित्व उत्पन्न किया जा सकता है— इसीलिए बच्चे पर वातावरण का ही अधिक प्रभाव होता है और स्वभावतः वाट्सन की गर्वोक्ति यह है : “मुझे एक बच्चा दीजिए और मैं आपकी इच्छानुसार उसका निर्माण कर दूंगा।” तदनुकूल वातावरण सर्वसामर्थ्यशील है। मानसिक जीवन भीतर से विकसित नहीं होता। शिक्षा पर इस प्रकार के विचारों का प्रभाव सभी बच्चों के साथ ऐसा व्यवहार करता है मानो वे मात्र टुकड़े या यंत्र हों और उनका कोई व्यक्तिगत चरित्र ता व्यक्तिगत उद्देश्य न हो। अध्ययन की एकविध पद्धति और एकविध पाठ्यक्रम विशिष्ट कक्षा के बच्चों को शिक्षित करने के लिए पर्याप्त स्वीकार कर लिये गये। यदि कोई एक विद्यार्थी कक्षा में पिछड़ जाता तो यह सोचा जाता है कि या तो वह शरारती है या अकर्मण्य है, क्योंकि तत्काल वह अपने साथियों की तरह बातों को क्यों नहीं ग्रहण कर पाता, इसका कोई कारण नहीं था। यह बड़ी मुश्किल से उनकी समझ में आता कि बच्चों की रुचियाँ कहीं और हो सकती हैं या उनके साथ व्यवहार करने की दूसरी पद्धतियाँ भी हो सकती हैं। शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में यथातथ्य होने के लिए परिणामस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में एक नया विकास हुआ जिसमें मात्रिक रूप से मानवीय योग्यताओं को मापा जाने लगा जैसे कोई भौतिक मात्राओं को माप लेता हो।

दर्शन की एक दूसरी धारा, १८वीं शती के विचार और शिक्षा पर जिसका मूलभूत प्रभाव था, डार्विन का विकास-सिद्धान्त है, जिसका उल्लेख किया जा चुका है। डार्विन ने इस बात पर बल दिया कि जीवित वस्तुएँ रात भर में निर्मित नहीं की गई हैं बल्कि विकास की क्रियाएँ हैं। अस्तित्व के लिए संघर्ष और वातावरण के प्रभाव का महत्वपूर्ण योग है किन्तु योग्यतम ही जीवित रहने का अधिकारी है, इसे चोर दरवाजे से, यद्यपि दो गत्यात्मक अवधारणाओं के माध्यम से शिक्षा में लाया गया : प्रथम, आत्म-प्रयास और द्वितीय कि बालक विकास के नियमों का विषय है और उन्हीं के अनुसार उससे व्यवहार किया जाना चाहिए, उसके विकास के विभिन्न स्तरों के लिए नियत नहीं कर दिए जाते।

१९वीं शती की शिक्षा का एक महत्वपूर्ण गुण बुद्धिवाद है। सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अपेक्षा बुद्धि का अतिरिक्त अम्यास किया जाने लगा था। उद्देश्य व्यवहार को प्रशिक्षित करने का नहीं बुद्धि को प्रशिक्षित करने का था, जिससे यह विश्लेषण कर सकें और ज्ञान को ग्रहण कर सकें। बल ‘ज्ञानक्रिया’ पर था, ‘कर्म’ पर नहीं; ‘बुद्धि’

पर था, 'चरित्र' पर नहीं। चरित्र नहीं, बल्कि ज्ञान शिक्षा प्रधान विषय हो गया। परीक्षाओं को बढ़ावा दिया गया और स्वस्थ बौद्धिक क्षमता को भद्रपुरुष का प्रधान चिह्न माना गया। इस प्रकार अध्ययन के पाठ्यक्रम विभिन्न श्रेणियों के लिए निश्चित किये गये, व्याख्यान-पद्धति फूली-फली और परीक्षाएँ बौद्धिक योग्यता और बौद्धिक उपलब्धि को नापने के लिए लगा दी गयीं।

यह सब सहज ही था, जबकि विज्ञान शिशुता से यौवन में पहुँचा ही था। युवक विज्ञान सम्पूर्ण से घटकों को अलग करके उनका विश्लेषण करने के मूड में था और उनके लिए पूरा ध्यान केन्द्रित कर रहा था। तदनुरूप शिक्षा के क्षेत्र में भी युग की मनोवृत्ति प्रतिबिम्बित हुई, बुद्धि को शेष सम्भावनाओं और व्यक्तित्व की विशेषताओं से अलग कर दिया गया और उसे मनुष्य की एकमात्र प्राप्ति समझ कर विकसित किया गया।

२०वीं शती तक विचार बौद्धिकता से परिपक्व हो चले। १९वीं शती के अलगाव (Isolation) से, एकता की ओर, राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर, ज्ञान में विभागवाद से ज्ञान की एकता की ओर और मात्र विश्लेषण से विश्लेषण और संश्लेषण दोनों की ओर प्रवृत्ति दिखाई दी। वाष्प इंजन, वायुयान, मुद्रण आदि ने भौतिक विश्व को छोटा कर दिया, विज्ञान में सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने और इन सब के अतिरिक्त दर्शनशास्त्र के उदात्त चरित्र ने जो हमेशा सिद्धान्त और व्यवहार में समन्वय और एकता पर बल देता है, इस दिशा में प्रेरणा दी। आज की प्रवृत्ति, व्यक्ति के रूप में या व्यक्ति राष्ट्र के रूप में या व्यक्ति चिन्तक के रूप में अकेले होने की नहीं, बल्कि विचार विनिमय और सामाजिक सहयोग के लिए परस्पर सम्मेलन की, राजनीति के विभिन्न दर्शनों का एक साथ परीक्षण करने की और विभिन्न विचारों के समन्वय का विकास करने की है।

२०वीं शती के विचार की विशेषता आज की शिक्षा में पर्याप्त रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। अब शिक्षा में वास्तविकता को कायम रखने के लिए मान्देसरी, फ्रोएबेल और डाल्टन की तरह शिक्षण-संस्थाओं को एक नियत स्तरों तक निश्चित करना जरूरी नहीं रह गया है। आज के स्कूलों की प्रवृत्ति एक दूसरे से सानुकूल शिक्षण अम्यासों को ग्रहण करने की ओर, यदि सम्भव हो तो उन्हें विकसित करने की ओर है। शिक्षण के क्षेत्र में यह उदार प्रवृत्ति पूर्णतः उचित ही है। उसी प्रकार शिक्षण सिद्धान्तों के क्षेत्र में आन्दोलन की दिशा उद्देश्यों के समन्वय की ओर है। इस दर्शन प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप शिक्षात्मक उद्देश्य अधिक परिपूर्ण एवं सम्पूर्ण है। फलतः बल-बुद्धि की अपेक्षा सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास पर बल दिया जा रहा

है। उसी तरह एक विशिष्ट स्तर पर प्रदत्त शिक्षा केवल स्कूल की अवधि में ही उपयोग में नहीं लायी जाती बल्कि शेष जीवन के शिक्षण को दृष्टि में रख कर देखी जाती है। पाठ्यक्रम के संगठन में एकादमिक विषयों का कठोर विभाग नहीं होता, बल्कि अवधारणाओं के पारस्परिक विनिमय के लिए पर्याप्त स्थान होता है। हाल ही में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के समन्वय में स्पष्ट विकास हुआ है। न तो शिक्षा को उदार और व्यावसायिक शब्दावली में इतने स्पष्ट रूप से पारिभाषित ही किया गया है। उदार और व्यावसायिक शिक्षा दोनों आज की समन्वयात्मक शिक्षा में विलीन हो गयी हैं। ज्ञान और विषय के बदले बच्चे और युवक ने शिक्षा के केन्द्रीय स्थल को अधिकृत कर लिया है। आधुनिक शती ने यंत्रवाद से मानवतावाद तक पहला बड़ा कदम उठाया है और मानवतावाद, मानवचेतना और समाज के लिए जो कुछ भी महत्वपूर्ण मूल्य है, उसका एक संयोजन है। युग के इस नये स्वप्न का साकार बनाकर शिक्षा को अपना नाम सार्थक करना है।

शिक्षकों का दार्शनिककरण क्यों होना चाहिए ?

भोजन जिसे किसी ने स्वयं या किसे दूसरे ने बनाया हो लेकिन कमोबेश रूप से दोनों अवस्थाओं में सुपाच्य है लेकिन इससे भिन्न दर्शन तब तक सुपाच्य नहीं हो सकता जब तक सक्रिय रूप से व्यस्त बुद्धि को प्रज्वलित न रखा जाय। जीवन की समस्याओं का दार्शनिक अभिप्राय ठीक-ठीक परखने और गहराई से अनुभव करने से पहले सभी चुने हुए अनुभवों में पूर्ण रूप से जीवित व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। दूसरों से दर्शन-सिद्धान्तों को उधार लेना सम्भवतः मध्यम कोटि की वृत्ति होगी, लेकिन स्वयं चिन्तन निश्चय ही सर्वोत्तम होगा। यदि शिक्षात्मक दर्शन यानी शिक्षा पर लागू किया हुआ दर्शन विकसित होता है तो शिक्षक का दार्शनिककरण बवश्य होना चाहिए और अत्यधिक उत्साह के साथ इस तीव्र परिवर्तनशील जगत में इसकी नयी परिस्थितियों और समस्याओं का, नयी मनोवृत्तियों की स्थापना करते हुए, जीवन की रुढ़िगत शैली को सुस्पष्ट करते हुए और विचारधाराओं एवं श्रेष्ठ सभी के विरोधों को ध्वनित करते हुए दार्शनिककरण करना चाहिए। सर्वप्रथम शिक्षक आज की उलझाव भरे वातावरण से जीवन के एक स्पष्ट अनुदृश्य को अवश्य ही प्राप्त कर लें। मानवता के पथ-प्रदर्शक (प्रकाश-वाहक) के रूप में अपनी परम्परा की पुनःप्रतिष्ठा की आशा करने से पहले उसका दृष्टिकोण वास्तविकता के अंधकारमय क्षेत्र को भेद कर देख लें। इसे वह सिर्फ तभी कर सकता है यदि उसने जीवन की समस्याओं के समाधान के मनन में स्वयं को व्यस्त कर दिया है।

उदाहरण के लिए, भारत में शिक्षण-संस्थाओं में काम-शिक्षा की समस्या लीजिए। लेखक व्यक्तिगत गहरे अनुभव के आधार पर कह सकता है कि बहुत से पुराने और कुछ ही नए उम्र के शिक्षक इसका समाधान खोजने की अपेक्षा इस समस्या से आँख मूँद लेंगे। यद्यपि वे सहशिक्षा के प्रति झकते हैं, जिसे वे सोचते हैं कि अब स्थापित हो चुकी है। इसका कारण—ग्रन्थियाँ, शिक्षा में नई व्यवस्था से घृणा और तदनुसार विरक्ति इत्यादि कुछ भी हो सकता है—किन्तु दुःखद तथ्य यह है कि प्रस्तुत समस्या के दार्शनिककरण के अभाव में देश में सहशिक्षा की संस्थाओं के प्रति बड़ी भारी क्षति पहुँचायी जा रही है। उसी तरह और भी अनेक समस्याएँ हैं, जिन्हें बुरी तरह दार्शनिक समाधान की जरूरत है, जबकि परिस्थितियों के प्रत्येक मोड़ पर उत्पन्न होती हुई नवीनताओं की दर तीव्रतापूर्वक बढ़ रही है।

लोकप्रचलित राय के विपरीत शिक्षक का कार्य बहुत ही कठिन है और उसके लिए सानुपातिक चिन्तन, दक्षता और प्रयास की जरूरत है। जिस मानवीय विषय के साथ उसे कार्य करना है, अत्यधिक कोमल, बहुत ही दहनशील और पर्याप्त रूप से विविध है। इसके अतिरिक्त यह जीवित वस्तु है जिसका वातावरण एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप सन्तुलन करना आवश्यक है। बिना कलंकित या विकृत किए सम्पूर्ण रूप से सूक्ष्म ब्रह्माण्ड एवं दुरुह समाज से सम्बन्धित इस वस्तु को विकसित करना अचिन्तनशील या कूपमंडूक व्यक्तियों का कार्य नहीं है। स्पष्टरूप से यह शिक्षक-दार्शनिक का कार्य है जिसकी आज भी दुनिया को उतनी आवश्यकता है जितनी कि पहले कभी न थी।

शिक्षक-दार्शनिक का दार्शनिककरण होने से वह न केवल अधिक तथ्यों को आकर्षित एवं आत्मसात् ही करता है या जीवन के मूल्यों में गहरी अन्तर्दृष्टि रखता है बल्कि स्वयं को उच्चतर, और उच्चतर अस्तित्व में बदलते हुए इस प्रक्रिया के माध्यम से स्वयं को प्रत्येक क्षण एक भिन्न व्यक्ति बनाए रखता है, क्योंकि हम एक बार पुनः स्मरण करें, दर्शन एक जीवन-शैली है। जैसा कि जोड ने ठीक ही कहा है, “दर्शन का दोहरा कार्य है। प्रथम, सत्य का उद्घाटन करना और दूसरा, सद्गुण की वृद्धि करना है।” यह मान्यता देता है कि दार्शनिक-शिक्षक अपनी शिक्षात्मक सम्भावनाओं को हजार गुना बढ़ाता है और युवक मनुष्यों का उत्तरदायित्व ग्रहण करने में एवं निर्देश करने में अनन्त रूप से उच्चतर स्थिति में होता है। इतिहास की

घटनाओं की व्याख्या करने का उत्तरदायित्व उसी का है, यद्यपि यह वस्तुपरक रूप से करना पड़ता है, फिर भी मूल्यों के पैमाने का उल्लेख करना पड़ता है जिसके प्रति इतिहास की नैतिकताएँ सटीक उतरती हैं। उसी की अधिकतर अमूर्त और रूढ़िपरक मूल्यों की व्याख्या युग और अपने शिष्यों के बौद्धिक स्तर के अनुसार अधिकतर मूर्तरूप में करनी पड़ती है। उदाहरणतः, प्रेम का युग-प्राचीन मूल्य आज के वातावरण में सामाजिक सेवा तथा सामुदायिक योजनाओं के अनुसार अच्छी तरह ढाला जा सकता है। अपने शिष्य को शुभाशुभ में विवेकपूर्ण अन्तर करने की प्रवृत्ति और बोध प्राप्त करने में वही सहायक होता है और जैसे जीवनयापन करना चाहिए, उस तरह उन्हें निर्देश देता है। ऐसे दुरुह कर्तव्यों के लिए दार्शनिक-शिक्षक समाज में कूटनीतिज्ञ की सी स्थिति ग्रहण करता है। अचिन्तनशील शिक्षक से भिन्न वह पूर्णतः अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत होता है और अपने मिशन को पूर्ण करने के लिए यथासम्भव प्रयत्न कर सकता है।

दर्शन के सम्बन्ध में जो बात शिक्षक पर लागू होती है वह उसी रूप में शिष्यों पर भी लागू होती है और दोनों के विषय में मुश्किल से अलग-अलग सोचा जा सकता है। सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर पाठ्यक्रम अवश्य ही दर्शन के अध्ययन के लिए निर्देशित मूलतत्त्व से युक्त हो, जिससे विद्यार्थियों के पक्ष से इसके मनन में सुविधा हो।

शैक्षिक दर्शन-शास्त्र—शैक्षिक दर्शन-शास्त्र किसे कहते हैं ? यदि अब भी किसी परिभाषा की जरूरत है तो कह सकते हैं कि शिक्षा की समस्याओं पर सामान्य रूप से दर्शन-शास्त्र को लागू करना है। लेकिन इस क्षेत्र में शैक्षिक मनोविज्ञान पहले ही से मौजूद है। क्या यही शिक्षक का निर्देशन करने में पर्याप्त नहीं है ? यह सत्य है कि मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक अनुसन्धान और पद्धतियाँ नयी तकनीकों और संकेतों के माध्यम से शिक्षण-प्रक्रिया को व्यापक रूप से सहयोग देते हैं, लेकिन वे कुछ मौलिक समस्याओं का उत्तर नहीं दे पाते, जिनकी समझ और सायुज्य के बिना शिक्षा में, शिक्षा के किसी भी बड़े ढाँचे का भारी अवक्षय होगा और यहाँ तक कि समाज की प्रगति और स्थिरता को भी इससे बड़ा खतरा है। जहाँ तक कि शिक्षा को जीवन से अलग न करने की बात है, इसमें शैक्षिक दर्शन काम आ सकता है, क्योंकि जीवन की अन्तिम समस्याएँ केवल भौतिक और सामाजिक विज्ञानों द्वारा नहीं ग्रहण की जा सकतीं। उदाहरण के लिए मनोविज्ञान हमें सीखने की प्रक्रिया में अन्तर्दृष्टि दे सकता है और इसके विषय में भिन्न सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध कर सकता है लेकिन इस प्रश्न का उत्तर देने में वह सक्षम नहीं है, सीखना किस उद्देश्य

के लिए है ? सीखने में मात्र विलक्षणता और किसी भी, अथवा प्रत्येक चीज को सीखना ही अकेली समस्या नहीं है। इससे भी प्रमुख प्रश्न है जैसे, सीखने के माध्यम से ही वह क्या होना चाहता है। और कोई जो कुछ भी होना चाहता है आज उतनी ही विकट समस्या है जैसा कि लगभग २५०० वर्ष पहले ग्रीक विचारधारा की पूर्ण विकसित अवस्था में थी। तथ्य है कि जीवन और शिक्षा की मूल समस्याओं पर दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है जिसके परिणामस्वरूप शैक्षिक दर्शन के स्वस्थ समन्वय की ओर शीघ्र पग उठाने के लिए बाध्य किया जाता है। कोई भी शिक्षक जो सक्रिय रूप से शिक्षण प्रक्रिया में व्यस्त है, आज की जटिल यांत्रिक सम्यता में जिस तरह जीवन का विस्तार बढ़ रहा है, उसके लिए शैक्षिक दर्शन की सेवाओं की अपेक्षा रखता है। सम्यता का मानवीयकरण वस्तुतः शैक्षणिक दर्शन के प्रमुख कार्यों में सुचारु रूप से सबसे प्रथम कार्य है। संक्षेप में, शैक्षिक दर्शन सामान्य रूप में दर्शन के सम्पूर्ण सहयोग द्वारा, जीवन के अंधकारमय एवं संकीर्ण मार्गों से मानवता को खींच कर प्रबुद्धता के सामान्य पथ की ओर एक संस्कृति एवं एक समाज की ओर तथा विश्वराज्य की ओर ले जाएगा।

दर्शन के क्षेत्र में अधिकतर स्वतंत्र भ्रमणों के पश्चात् अब इसके तीन सामान्यतः क्रमबद्ध स्कूलों की ओर देखना है।

सहायक पुस्तकें:—

1. Joad, C. E. M. : Philosophy, Home University Library, London.
2. Dewy, John : Reconstruction in Philosophy, The New American Library, New York.
3. Henderson, Stella Van Petten : Introduction to Philosophy of Education, The University of Chicago Press, Chicago.
4. Mason, Robert E. : Moral Value and Secular Education, Columbia University Press, New York.
5. Demiashkenich, M. : An Introduction to the Philosophy of Education, American Book Company, New York.
6. Bade, B. : Fundamentals of Education, The Macmillan Company, New York.

दर्शन-शास्त्र के तीन सिद्धान्त

(आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, उपयोगितावाद)

“मनुष्य किसी भी विचार-प्रणाली की अपेक्षा महानतर है।” —कनफ्यूसियस

आदर्शवाद

विश्व के प्रारम्भिक धर्मों—भारत में ब्राह्मणवाद तथा वेदान्तवाद, चीन में लाओत्से एवं पश्चिम में ईसाई धर्म—में आदर्शवाद पश्चिम में प्राचीन यूनानी विचारधारा के धाराप्रवाह रूप में विकसित हुआ। उसी समय से इसका पर्याप्त विस्तृत तथा रंगीन इतिहास है। इसकी गतिशीलता अनेक देशों में हुई। वहाँ पर स्थानीय दार्शनिक प्रतिभा-सम्पन्न दार्शनिकों ने अपनी विचारधारा के अनुसार इसका उपयोग किया।

प्राचीन यूनानी दार्शनिकों में प्लेटो महोदय का मूर्धन्य स्थान है। उन्होंने आदर्शवाद के क्रमिक दार्शनिक सिद्धान्त की नींव डाली थी। इस विचारधारा का पश्चात्त्य विचार के इतिहास पर सर्वत्र गहरा प्रभाव पड़ा। प्लेटो स्वयं काव्यात्मक, रहस्यवादी तथा नीतिवादी होते हुए भी बुद्धिवादी थे। ई० जे० उर्विक महोदय के अनुसार तर्क के माध्यम से सत्यान्वेषण करते हुए भी प्लेटो महोदय पूर्व के रहस्यवाद तथा अध्यात्मवाद से प्रभावित थे। इसी विचारधारा ने उनके आदर्शवाद को अत्यंत गहराई से प्रभावित किया।

१. देखिये, Hocking, W. E. : Types of philosophy (pp. 249-50), C. Senibner's Sons, Newyork.

प्लेटो का आदर्शवाद

प्लेटो महोदय नैतिक उच्चता एवं शिवत्व के प्रेमी थे। उन्होंने जीवन की व्याख्या उद्देश्यों, जो सुनिश्चित तथ्य हैं, की प्रणाली के अनुरूप करने का प्रयत्न किया। सुचारु ढंग से जीवन-यापन करने के लिए व्यक्ति निरन्तर ऐसे सिद्धान्तों की खोज में है जो उसका निर्देश करते रहें। चरम सत्य या सर्वोच्च शुभ, जिनकी बौद्धिक प्राणी के रूप में मनुष्य को खोज करनी चाहिए—वे हैं सद्गुण और बुद्धिमत्ता या सत्य, शिव और सुन्दरम्। यह उच्चतम शिव अपने स्वभाव में सार्वभौमिक तत्त्वों से युक्त है। यह सामान्य शिव विश्व की नैतिक एवं आध्यात्मिक अवस्था का मूल तत्त्व है। इस सामान्य शिव का ज्ञान एक ओर तो निर्णय और प्रौढ़ प्रज्ञा के बौद्धिक सद्गुण के समागम से उत्पन्न गहरी अन्तर्दृष्टि पर निर्भर करता है और दूसरी ओर आत्मनियन्त्रण से अनुशासित जीवन पर। यही वह अन्तर्दृष्टि है जो जीवन की आध्यात्मिक दिशा का संकेत देती है। यदि आदमी अपने से कुछ अधिक बनना चाहता है यानी अपनी वास्तविक प्रकृति का बोध करना चाहता है, तब उसे शिवत्व की ओर ले जाने वाली आध्यात्मिक प्रक्रिया में अवश्य ही भाग लेना पड़ेगा। सभी बुराइयों की जड़ अज्ञान को दूर करने के लिए उसे अपने मन की सभी शक्तियों एवं प्रयत्नों का उपयोग करना चाहिए। ज्ञान का आरम्भ अज्ञान की चेतना से होता है जो सुकरात के अनुसार सद्गुण है। प्लेटो के 'रिपब्लिक' में शुभ जीवन की समस्या का विवेचन किया गया है जो अपने साहित्यिक एवं काव्यात्मक आकर्षण तथा दार्शनिक अन्तर्दृष्टि के लिए नैतिकता के आदर्शवादी दृष्टिकोण की अग्रगामी प्रतिनिधि है, और परिणामस्वरूप व्यक्ति, समाज और शिक्षा की भी। यह नैतिक पक्ष है, जो इसके बावजूद भी आध्यात्मिक पक्ष से जुड़ा हुआ है।

आध्यात्मिक पक्ष से प्लेटो ने सम्पूर्ण विश्व को यथार्थ के प्रत्ययों या आदि-बिम्बों के अनुसार विवेचित किया है, जो अपने स्वभाव में सामान्य एवं अपरिवर्तनीय हैं। वास्तविकता परिवर्तनरहित है, मन के अन्तर्गत नियत रूपों में अन्तर्निहित है जो अरस्तू की भाषा में 'आदर्श सत्ता' या 'शुद्ध मनस्' है। ब्रेली का मुहावरा 'कुछ भी जो पूर्णतः वास्तविक नहीं है—गतिशील है', स्पष्ट रूप से प्लेटो के सिद्धान्त का सार संक्षेप है। रूपों का मनस् अपने आप में पूर्ण एवं स्थिर है जिसकी ओर अपूर्ण और अस्थिर चिंतनशील मन स्वयं को निर्देशित करता है, जिससे मनुष्य का एकमात्र उद्देश्य, आत्मसाक्षात्कार की आध्यात्मिक प्रक्रिया पूर्ण होती है। जब मनस् सनातन रूपों का मनन करता है तो वह समयानुसार उसके साथ तादात्म्य स्थापित

कर लेता है, जैसा कि 'योग' के लेखक पतंजलि ने भी स्वीकार किया था 'मन, जिसका मनन करता है वैसा ही हो जाता है'।

दिक् और काल का जगत प्रत्ययों या आदि-बिम्बों से अपनी वास्तविकता की व्युत्पत्ति करता है। जिस सीमा तक मननशील मन द्वारा उन प्रत्ययों का अनुभव किया जाता है, उस सीमा तक उनके प्रत्येक प्रक्षेपण को भौतिक जगत में देखता है। इस प्रकार किसी के द्वारा भौतिक स्तर पर सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण अपूर्ण होने के लिए बाध्य है लेकिन इसके शुद्ध रूप के मनन से यह पूर्णता की ओर प्रगति करता है। अपनी उच्चता के स्तर से चेतना सुन्दर वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण को मूर्तरूपों में त्याग देती है और शुद्ध रूप में सौंदर्य के मनन एवं सचेतनता से स्वयं को समायोजित करती है जिससे मूर्त और विशेष की प्रकृति का कोई सम्बन्ध नहीं है। प्लेटो के नियन्त्रित अर्थ में मूर्त और व्यक्ति वास्तविक नहीं हैं; वे अपनी वास्तविकता के लिए 'शुद्ध मनस्' के अपरिवर्तनीय एवं जातीय विचारों पर निर्भर होते हैं। यही मन जो भौतिक जगत पर अपनी निजी मुहर लगाता है और इसे क्षत-विक्षत करने की अपेक्षा आकार प्रदान करता है। ज्ञान, जो प्राकृतिक रूप में, आत्मज्ञान के लिए होता है, भौतिक और सामाजिक जगतों के परे सनातन रूपों के बोध से सम्बन्ध रखता है। यह रूप 'नमूने' या 'शक्तियाँ' जैसा कि 'आदर्श' के विभिन्न अनुवाद हैं, अपने अस्तित्व के लिए ज्ञाता से स्वतन्त्र है; क्योंकि वे अपरिवर्तनशीलता और अनन्त में निहित होते हैं। वे इन्द्रियों के प्रवाह से परे हैं, फलतः उनके विचार-विनिमय के परे हैं। प्रवाहमान इन्द्रियों से लोकोत्तर सहजानुभूति या अन्तर्दृष्टि ही रूपों को ग्रहण कर सकती है। इसलिए प्लेटो के अनुसार शिक्षा रूपों के मनन के चारों ओर नियन्त्रित होनी चाहिए और तदनुसार पाठ्य-क्रम का सामञ्जस्य होना चाहिए। यह सामान्य ज्ञान है कि प्लेटो गणित द्वारा बहुत बड़े आकार की स्थापना करते हैं, क्योंकि इसकी अवधारणाएँ दिक् और काल से परे होती हैं, और विशिष्ट वस्तुओं के आदर्श की अपेक्षा अधिकतर सामान्यों के क्षेत्र में निवास करती हैं। और क्या आप यह जानते हैं कि यद्यपि वे (रेखागणित, गणित के विद्यार्थी) दृष्टिमूलक रूपों का उपयोग करते हैं और उनके सम्बन्ध में तर्क करते हैं, वे इन्हें नहीं सोच रहे हैं, बल्कि आदर्शों के विषय में सादृश्यमूलक भी सोच रहे हैं, जिस आकृति को वे खींचते हैं उसके विषय में नहीं बल्कि निरपेक्ष चतुर्भुजों के विषय में और निरपेक्ष व्यास के विषय में और इस प्रकार.....।'

भौतिक उपलब्धियों के कारण, आदर्शवाद पुनः एक बार १७वीं से १९वीं शताब्दी के लेखन के साथ अपने रूप में उदय हुआ। हीगेल ने विश्व की एकता की स्थापना की, जो कान्ट द्वारा विपरीत दिशा में दिए गए तर्कों के माध्यम से ग्रहण की जा सकती है, जिन्होंने यह स्थापना की थी कि अतीन्द्रिय तत्त्व तर्कों की पहुँच से परे है। हीगेल के अनुसार, वास्तविकता का स्वभाव तर्क-साध्य है इसीलिए मानव बुद्धि की पहुँच के भीतर ही है। निश्चय ही वास्तविकता इतिहास के किसी विशेष क्षण में समाहित नहीं है। यह सम्पूर्ण में परम निरपेक्ष में प्राप्य है। परम निरपेक्ष क्षण-क्षण स्वयं को उद्घाटित करता है, उस समय दिव्य सत्य की झलकियों को प्राप्त किया जा सकता है। इसकी प्रतिध्वनि उपनिषदों में सुनी जा सकती है, जहाँ इस बात का उल्लेख किया गया है कि दिव्य सत्य के अनेक रूप हैं, और कोई भी एक क्षण में उसके एक ही पक्ष को ग्रहण कर सकता है जो स्पष्ट रूप से यह आभास देता है कि सत्य परस्पर विरोधी है—और तर्क दोषपूर्ण। हीगेल ने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया कि यद्यपि तर्क विरोधाभासों में उलझा हुआ प्रतीत होता है, फिर भी यथावसर वह उनका नियोजन कर लेता है। क्योंकि तर्क व्यक्तिनिष्ठ या व्यक्तिगत नहीं है, यह निर्व्यक्तिक, दिव्य सत्य के लिए एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है और तार्किक रूप से असंगतियों का वियोजन करता है। मनुष्य का अनुभव सार्वभौमिक जीवन का अंश है, सार्वभौमिक जीवन और मानवीय अनुभव के बीच कोई अन्तर्विरोध नहीं है। वाद, प्रतिवाद और संवाद का उनका द्वन्द्वात्मक तर्क, जिसके माध्यम से उन्होंने दर्शन में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया था, इतिहास, कला, धर्म और समाज के व्यापक विषय पर लागू होता है, जिससे वे दार्शनिकों की श्रेणी में बहुत उच्च स्थान के अधिकारी हैं। उनके दर्शन को परमनिरपेक्ष आदर्शवाद का नाम दिया गया है।

जॉन लॉक (१६३४-१७०२) इंग्लैंड के अनुभववादी स्कूल के संस्थापक, ने घोषित किया कि जो कुछ हम जानते हैं, वे हमारे विचार हैं जो अनुभवों से उत्पन्न होते हैं, जिसे उन्होंने सरल विचार कहा है। विनम्रतापूर्वक आरम्भ करके संवेदनाओं और बिम्बों के रूप में, जिसे उन्होंने सरल विचार कहा है, मन, साहचर्य और अमूर्तन के सिद्धान्तों के माध्यम से जटिल और अमूर्त विचारों में विकसित होता है। हम केवल विचारों के सम्बन्ध में ही सुनिश्चित होते हैं। “चूँकि मन अपने सम्पूर्ण विचारों और तर्कों में अपने प्रत्ययों के अतिरिक्त कोई दूसरी प्रत्यक्ष वस्तु नहीं पाता, वह केवल प्रत्ययों का मनन और विचार कर सकता है

जिससे यह स्वतः सिद्ध है कि हमारा ज्ञान उनके विषय में आनुषंगिक मात्र होता है।”

जार्ज बर्कले (१६८५-१७५३) ने अपने धार्मिक और आध्यात्मिक झुकाव के कारण घोषित किया कि ज्ञान में मन की प्रधानता है। उनके अनुसार ज्ञान मननशील मन से सम्बन्धित है। लॉक का अनुसरण करते हुए, उन्होंने स्थापित किया कि विचार की वस्तुएँ विचार हैं, यानी जिसके विषय में और साथ ही जिससे हम सोचते हैं, वे विचार ही हैं। ये विचार चेतना या ईश्वर से परिणामित हुए हैं, और फलतः स्वभाव से आध्यात्मिक हैं। इस प्रकार का आदर्शवाद व्यक्तिनिष्ठ आदर्शवाद कहा जाता है, क्योंकि वह ज्ञान के घटक के रूप में वस्तु-परक जगत को बहिष्कृत करता है। ज्ञान विचारों का मूल अर्थ है, बाह्य-जगत का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

(दूसरे अंग्रेज अनुभववादी डेविड ह्यूम ने १७११-१७७६) ने सशक्त रूप से मन की तथ्यमूलक वास्तविकता के विषय को जटिल रूप के अवधारणामूलक ज्ञान पर निर्भर बतलाया। ज्ञान के क्षेत्र में आध्यात्मिक विषयवस्तु नाम की कोई चीज नहीं होती, क्योंकि हमारा जो कुछ भी ज्ञान है, विचारों से निर्मित है, जो हमें बाह्य जगत के प्रभाव को या आन्तरिक जगत की अनुभूतियों एवं भावनाओं को प्रदान करता है। इसी कारण तात्त्विक आत्मा जैसी कोई भी चीज नहीं होती, विचार मात्र विचार होते हैं, जिनके प्रति हम सचेत रहते हैं।

इस बात को स्वीकार किया जाएगा कि चेतना या ईश्वर पर जोर देकर आध्यात्मिक दृष्टिकोण के भेद से, जैसा बर्कले के विषय में है, पूर्णतः तथ्यविषयक ह्यूम के अनुभववाद तक, आदर्शवाद दार्शनिक किसी भी वस्तु पर मन की प्राथमिकता और निश्चितता को एक मत से स्वीकार करते हैं।

हम आदर्शवाद के मूल-तत्त्वों को संक्षेप में यहाँ इस प्रकार रख सकते हैं :

१—वास्तविकता आध्यात्मिक है, भौतिक नहीं।

२—मन और आत्मा पदार्थ और शरीर जैसे भौतिक तत्त्वों से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

३—मनुष्य सर्वोच्च रचना है, वह प्रतिष्ठा और विशिष्टता से युक्त है। इसलिए वह अवश्य ही अपने व्यक्तित्व को उन्नत करता है। कहने का अर्थ है कि उसे अवश्य ही आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

४—मन की स्वतंत्रता उच्चतम सद्गुण है और स्वतंत्रता का अर्थ है अज्ञान, आवश्यकता और आवेश से मुक्ति जो आध्यात्मिक वास्तविकता के साक्षात्कार की एक अवस्था है।

५—प्रमुख आध्यात्मिक मूल्य तीन हैं, जैसे सत्यं, शिवं और सुन्दरं।

६—उदाहरण के लिए, वेदान्त द्वारा आध्यात्मिक जीवन के विषयों में एक निश्चित सम्पूर्णता स्वीकार की गई है। ऐसा कुछ भी एक स्थान पर नहीं होता जो दूसरे को प्रभावित न करता हो। सम्पूर्ण विश्व अपने विविध अंशों के साथ एक अवयवी है।

७—आध्यात्मिक विकास मानव अस्तित्व का चरम बिन्दु है।

८—आध्यात्मिक वास्तविकता के मूल का ज्ञान, आप चाहें तो इसे 'ब्रह्मज्ञान' कह लें, उच्चतम ज्ञान है।

अब हमारे लिए जानना अनिवार्य है कि आदर्शवाद के शैक्षिक अभिप्राय क्या हैं ?

शैक्षिक-दर्शन के रूप में आदर्शवाद

चूँकि आदर्शवाद के अनुसार मन एक निश्चित वास्तविकता है, इसीलिए स्वाभाविक रूप में शिक्षा की आदर्शवादी प्रणाली में इसका केन्द्रीय स्थान है, शेष सभी चीजें इसके अधीन होती हैं। एक शब्द में, मन की संस्कृति शिक्षा का उद्देश्य है। लेकिन सर्वप्रथम मन का स्वभाव क्या है ? यह तथ्य है कि अनुभवी मन स्थिर नहीं बल्कि सक्रिय और विकासमान है। जितना इसका प्रयोग किया जाता है उतना ही यह विकसित होता है। यह कहना उपयुक्त होगा, जितना वह सनातन और अपरिवर्तनीय रूपों या मूल्यों का मनन करता है, उतना ही विकसित होता है, जो कि तथ्यमूलक वास्तविकता है। परम वास्तविकता के आध्यात्मिक बोध की ओर होने वाले मन की क्रिया, शिक्षा का पुरस्कृत उद्देश्य है। मन और मन से अधिक यही आत्मसमर्पण का मार्ग है और अन्ततः आत्मानुभूति है। कोई भी बाह्य तत्त्व मन की अन्तर्दृष्टि और शक्ति का निर्माण नहीं कर सकता; यह मन ही केवल अपने आप पर क्रियान्वित होता है जो निजी गहराइयों से ज्ञान को बाहर खोद लाता है। मन स्वयं ज्ञान का एक बड़ा कोष है और यह एक भ्रम है जो उसे खोजने के लिए हमें बाहर की ओर प्रेरित करता है। शुद्ध रूपों के चिन्तन द्वारा, आत्म-नुशासित और आत्मनियंत्रित जीवन के द्वारा आत्म-शिक्षा की प्रक्रिया का आरम्भ होता है और आध्यात्मिक वास्तविकता के बोध या खोज के साथ इसका अन्त

होता है, जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान होता है। यद्यपि मन रचनात्मक है—रचनात्मक ढंग से अधिकतर व्यस्त किया जाना चाहिए—तिस पर भी यह किसी नये ज्ञान का सृजन नहीं करता अपितु ज्ञान की खोज करता है और प्रत्यक्रम से स्वयं का बोध करता है। ज्ञान और आत्मज्ञान की खोज, एक ही बात है। यह अन्तर्दृष्टि की सघनता के माध्यम से ही सम्भव है; जिसे व्यापक रूप से तीक्ष्ण करना शिक्षा का कार्य होना चाहिए।

लेकिन अन्तर्दृष्टि नैतिक विकास की पूर्वापेक्षा रखती है या समसामयिक होती है। फलतः स्वस्थ नैतिक निर्णयों एवं आदतों का निर्माण, शिक्षा के कार्यों में सर्व-प्रमुख है। इस प्रकार का नैतिक अनुशासन निराधार आरोपित नहीं किया जा सकता, न ही इसे किसी बाह्य साधनों से उपलब्ध किया जा सकता है। इसे आत्मानुशासन के रूप में ही पाना उपयुक्त है जो ध्वन्यार्थ के रूप में सादा जीवन तथा उच्च विचार को अभिव्यञ्जित करता है। इसलिए यह शिक्षक का दायित्व है कि प्राप्य परिस्थितियों एवं क्षणों के माध्यम से शिष्यों को अन्तर्दृष्टि और आत्मानुशासन के जीवन की ओर निर्देशित करें, जीवन के आध्यात्मिक तत्त्व की चेतना के लिए यह उनके लिए उचित अवसर का समय होता है। यह मन की आन्तरिक एकता होती है और उसका बाह्य-विस्तार नहीं, जो शिक्षकत्व का उद्देश्य होती है। यह आन्तरिक आत्मा ही है जिसे उद्बुद्ध करने की आवश्यकता है, जिससे कि वास्तविकता का उच्चतर दृश्य क्रमिक रूप से उद्घाटित हो उठे। स्कूल या कक्षा कोई ऐसी जगह नहीं है जहाँ शिष्यों की व्याख्यान द्वारा सूचना में वृद्धि की जाती है, क्रम-संख्या से उपस्थिति जानी जाती है, अनुपस्थिति के लिए अर्थदण्ड आरोपित किया जाता है, जहाँ शिष्यगण आपस में मिलते हैं, और स्वयं को सामाजिक क्रियाओं और खेल में व्यस्त करते हैं, क्योंकि उच्चतम अनुशासिकों की आज्ञा के अनुसार उन्हें आधुनिकता के अनुरूप अवश्य ही ढलना चाहिए बल्कि यह आध्यात्मिक शिक्षण का देवालय है, आत्मशिक्षण और आत्मबोध का महान् विश्वविद्यालय है, मानव मनों का एक मिलन स्थल है, जहाँ शिक्षक और शिष्य एक साथ, संस्था के प्रति अपनी सम्पूर्ण भक्ति और उत्सुकता के साथ एकत्र होते हैं और आध्यात्मिक ज्ञान का विस्तार करते हैं। कक्षा में शिक्षक विषय को इस प्रकार ग्रहण करता है और ऐसे संकेत देता है जिससे युवकों के मन में अपने वास्तविक स्वरूप के साक्षात्कार के प्रति आलोचनात्मक योग्यता की आवश्यकता प्रगाढ़ हो उठती है। वह आध्यात्मिक वास्तविकता के विषय में एक ऐसी भव्यता की रचना कर देता है कि उसके शिष्य भौतिक लाभ, या सामाजिक और राजनीतिक शक्ति की संकीर्ण खोजों से मुक्त

होकर निम्नतर आत्म का उच्चतर के लिए त्याग का जीवन अपना लेते हैं। आकस्मिक रूप से यह इस विरोधाभास की विवेचना करता है कि आत्मसाक्षात्कार आत्मत्याग के माध्यम से ही सम्भव है।

किसी भी विषय को पढ़ाते समय शिक्षक की दृष्टि शुभ और भव्य पर टिकी रहनी चाहिए; उसे छोटी-छोटी घटनाओं या विवरणों को, या इसीलिए किसी भी निर्देश को खण्ड से सम्पूर्णता में जोड़ देना चाहिए, क्योंकि सत्य परम रूप से सम्पूर्ण है, आंशिक नहीं। उदाहरण के लिए, इतिहास पढ़ाते समय, वह युद्धों और संघर्षों को अनिवार्य परिणति कहने का आग्रह न दिखलाए, बल्कि उन्हें अमानवीय और पाशविक कह कर समझाए, क्योंकि इसे अहिंसा की सनातन और सामान्य मनोवृत्ति प्रदान करके रोका जा सकता है—तथा अवश्य ही रोका जाना चाहिए। उसका उद्देश्य अपने शिष्यों को सैनिक दृष्टि से सक्षम बनाना नहीं है, बल्कि मानवता के स्तर पर उन्हें समर्थ बनाना है। आदर्शवादी शिक्षक स्वयं और अपनी कक्षा का मनोविनोद करने के लिए अमेरिकन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स के कथन का उल्लेख कर सकता है कि सैनिक शिक्षा अनुशासन के लिए अनिवार्य है। इस विचार का वह अपने पूर्ण उत्साह के साथ खण्डन करेगा और प्रमाणित करेगा कि शुभ जीवन और सैन्य शक्ति का अस्तित्व एक भारी अन्तरविरोध और असत्य है। मानव जाति के आध्यात्मिक और धार्मिक नेताओं की जीवनियों एवं धार्मिक और आध्यात्मिक ग्रंथों पर जोर देना स्वाभाविक ही है, क्योंकि वे आत्माओं के अन्तर-सम्प्रेषण के एक फलप्रद स्रोत और जीवन के परम मूल्यों का बोध करने के लिए साधन हैं। उसी तरह वह अपने शिष्यों को उच्च सद्गुणयुक्त व्यक्तियों के साथ मिलने और बातचीत करने के लिए उत्साहित करें, जिससे मन की इस यात्रा के माध्यम से चेतना के निवास का स्पर्श करते हुए नये रास्ते ढूँढ़े जा सकें। संक्षेप में वह मन की सम्पन्नता और रचनात्मकता को बाह्य साधनों से नहीं बल्कि स्वयं मन के द्वारा ही उन्नत करता है। परीक्षाओं, पुरस्कारों और नियंत्रित शारीरिक अभ्यासों की रूपात्मक प्रणाली का विवरण उसकी मनोवृत्ति के लिए विदेशी है, क्योंकि वह अच्छी तरह आश्वस्त है कि बिना परम नैतिक मूल्यों से सम्बन्ध जोड़े मन और शरीर का यांत्रिक अनुशासन व्यर्थता से भी निकृष्ट है। स्वयं शिक्षण की प्रक्रिया में वह एक साथ अपने स्वत्व में सार्वभौमिक सत्य को एकत्र करता है और इसके साथ विकसित होता है जिससे वह सुषुप्त आत्मा को उद्बुद्ध एवं प्रबुद्धता के साथ विद्युतीकरण करता है; और आध्यात्मिक उद्देश्य की ओर हो रहा विकास मूल निकष है, जिससे वह अपने शिष्यों के साथ शिक्षा के अभि-

करण के माध्यम से आध्यात्मिक ज्ञान की सार्वभौमिक प्रक्रिया की ओर आगे बढ़ता है।

पाठ्यक्रम के संगठन में शिक्षा के आदर्शवादी दर्शन तीन विषयों को सर्वोपरि स्थान देता है, अर्थात् आध्यात्मवाद, गणित और नैतिकता; क्योंकि उनके तत्त्व शुभ जीवन के रूप हैं और अपनी प्रक्रिया में मन को सक्षम एवं शक्तिमान बनाते हैं। विज्ञानों और शिल्पगत विषयों का माध्यमिक स्थान होता है और वह भी जब वे शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य का विरोध न करते हों। जब तक ये विषय आध्यात्मिक प्रक्रिया के सेवक के रूप में काम आते हैं, वे, कम से कम आधुनिक आदर्शवादी दार्शनिकों के अनुसार, शिष्यों के मन को उत्तेजित करने के लिए अधिकतम वांछित साधन हैं, लेकिन जिस क्षण वे इस सीमा का अतिक्रमण करते हैं, उन्हें विदाई दे देनी होगी। लेकिन आदर्शवाद शिक्षा आशावादी और आशायुक्त है कि विज्ञान और यांत्रिकी का मानवीकरण और विज्ञान के तथ्यों का संगठन सम्भव है और उन्हें मानव-उद्देश्यों की ओर निर्देशित किया जा सकता है। स्वाभाविक शृंखला के रूप में परिणाम निकलता है कि वैज्ञानिक पद्धतियाँ अपने ढाँचे, तर्क, अन्तर्दृष्टि और सहजानुभूति की दार्शनिक पद्धतियों की तुलना में माध्यमिक स्थान रखती हैं, जो प्रकृतिवादी और उपयोगितावादी के लिए खीझ का कारण है। इस स्थिति को उर्विक ने इन शब्दों में भली भाँति अभिव्यक्त किया है, "वैज्ञानिक तर्क के तर्कशास्त्र का सिर्फ एक ही निकष है—सभी ज्ञात तथ्यों के सौरस्य। लेकिन प्रयोजनात्मक तर्क के तर्कशास्त्र की कसौटी भिन्न है: सभी ज्ञात शिवत्व से सौरस्य। और यह कसौटी ऐसी है जिसे वैज्ञानिक तर्क न स्वीकार कर सकता है और न ही समझ सकता है।"

विषय-वस्तु और जिस प्रकार इसका अध्ययन किया गया है, आदर्शवादी शिक्षा के लिए चिंता का विषय है। शिक्षा के उद्देश्य के लिए यह मुख्यतः हानिप्रद होगा यदि, शिष्यों का पोषण हीनतर ज्ञान पर निर्भर होगा। साहित्य एवं कला आदि का अध्ययन करते समय, यह एकदम निरर्थक होगा, यदि उन्हें जीवन की आध्यात्मिक झलकियाँ ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता। ज्ञान मात्र शाब्दिक नहीं है और न ही शब्दों का सायास समायोजन मात्र है बल्कि सार्वभौमिक जीवन की संवेदनाओं की अनुभूति है। दार्शनिक शिक्षा—आदर्शवाद के अनुसार समस्त शिक्षा दार्शनिक है—विषय वस्तु के रूप में नहीं पढ़ाई जा सकती,

बल्कि दिव्य जीवन से अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित करने पर ही प्राप्त की जा सकती है।

मन की अपरिमित सम्भावनाओं के आधार पर, जिस पर मानवों का विशेषाधिकार है, आदर्शवाद पूर्णरूपेण वैयक्तिकता और मानवीय व्यक्तित्व की स्वाधीनता को स्वीकार करता है और निम्नलिखित शर्तों के लिए इन सिद्धान्तों को पूरी तरह उपयोग में लाता है। प्रथम, शिक्षा का ढाँचा सार्वभौमिक होने चाहिए क्योंकि चरम आदर्श स्थानीय नहीं, सामान्य हैं, वे किसी विशेष काल और स्थान की सामाजिक शर्तों के परे होते हैं। द्वितीय, जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है—पाठ्य-क्रम नियत क्रम में होना चाहिए, जिनसे उनकी क्षमता के अनुसार यह विभिन्न विषयों, सामान्य एवं रूपों के क्रमिक मूल्यों को सम्बद्ध करता है। इसका अर्थ किसी प्रकार शिक्षा का प्रतिबंधन (conditioning) नहीं है। उच्चतर मन का सम्पूर्ण क्षेत्र यहाँ मौजूद है, जिसे किसी भी प्रकार की अधि-स्वतंत्रता चुनौती नहीं दे सकती। सर्वोच्च स्वतंत्रता अन्तर की स्वतंत्रता अर्थात् आत्म-स्वतंत्रता है: भावावेगों, इच्छाओं और भय से मुक्ति। यदि व्यक्ति की सम्भावनाओं को विकसित करने और उन्हें लोकातीत आत्म की ओर उन्मुख होने के लिए अग्रगामी छोड़ बनाने की स्वतंत्रता नहीं है तो शिक्षा कुछ भी नहीं है।

पूर्वोक्त कथनों में निहित शिक्षा के मूल उद्देश्य को स्पष्टतः इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है:

- १—प्रत्येक व्यक्तित्व और इसके उन्नयन के लिए सम्पूर्ण समादर अवश्य होना चाहिए।
- २—शिक्षक अवश्य ही एक कृपालु व्यक्ति का सा व्यवहार करे, जो माली की तरह मानवता के पुष्पों की रक्षा के दायित्वों से युक्त हो।
- ३—शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य आत्मानुभूति की प्राप्ति है, भौतिक सुख या सामाजिक या राजनैतिक शक्ति की खोज नहीं; मननशील जीवन उत्तेजक क्रिया की अपेक्षा योग्यतर है।
- ४—शिक्षा-प्रक्रिया अवश्य ही गहनतम अन्तर्दृष्टि और उच्चतम नैतिकता और आध्यात्मिक चरित्र की ओर निर्देश करे।
- ५—शिक्षक स्वयं इस स्थिति को स्वीकार करने के लिए प्रशिक्षित किया गया हो कि वह आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता से बहुत दूर है और व्यावसायिक रूप से किसी अन्य की अपेक्षा अपनी आध्यात्मिक और नैतिक आत्मा को निरन्तर उन्नत करने के लिए वह कर्तव्य से बँधा हुआ है।

- ६—शिष्य को आध्यात्मिक ज्ञान का भक्त होना चाहिए, जो निम्नतर व्यक्ति की तरह नहीं, बल्कि पवित्र व्यक्ति की तरह शिक्षक के चरणों में बैठता है, जिसका आध्यात्मिक जीवन में अभी विकास होना शेष है।
- ७—अनुशासन को शिष्यों पर आरोपित नहीं करना चाहिए। शिक्षक को केवल आत्मानुशासन और उसके माध्यम से आत्मज्ञान का विकास करने में सहायता करनी चाहिए।
- ८—आत्म, दिव्य सार्वभौमिक या आध्यात्मिक जीवन का ज्ञान ही केवल उच्चतम ज्ञान है। वह मन वास्तविक स्वतंत्रता की ओर ले जाता है।
- ९—शिष्यों का नैतिक और आध्यात्मिक चरित्र पूर्णरूप से विकसित होना चाहिए।
- १०—शिष्य को सांस्कृतिक उत्तराधिकार की शिक्षा मिलनी चाहिए, पूर्णरूप से इसमें भाग लेने के लिए उसे उत्साहित करना चाहिए और इसे अपने विचार और क्रिया से उन्नत बनाना चाहिए।
- ११—शिष्यों को स्वस्थ धार्मिक और आध्यात्मिक परम्पराओं की शिक्षा मिलनी चाहिए, इसके विषय में उन्हें सन्देहवादी नहीं होना चाहिए।
- १२—शारीरिक स्वास्थ्य का विकास, यद्यपि यह शिक्षा का स्वस्थ उद्देश्य है, मानसिक एवं आत्मिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक स्वीकार किया जाना चाहिए।
- १३—स्कूल में जितने भी सामाजिक सद्गुण और क्षमताएँ विद्यमान हैं, आध्यात्मिक पैमानों अर्थात् सत्यं, शिवं, सुन्दरम् से निर्णीत की जानी चाहिए।
- १४—स्कूल, शिक्षक और शिष्य की प्रगति आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा प्रस्तुत किसी बुद्धि और उपलब्धि परीक्षा की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन के मानदण्डों से निर्णीत की जानी चाहिए। बुद्धि, दक्षता और सामाजिक कौशल का निर्णय भी आध्यात्मिक मानदण्डों के आधार पर होना चाहिए।
- १५—मानवशास्त्र (humanities) या, इस सम्बन्ध में सभी विषय जो मनुष्य के चारों ओर केन्द्रित रहते हैं और जिनका उसके नैतिक और आध्यात्मिक विकास से सम्बन्ध है, भौतिक वातावरणों एवं उनके नियंत्रण का विवेचन करने वाले विषयों से श्रेष्ठ हों।
- १६—सादा जीवन और उच्च विचार शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। वाता-

वरण की अपेक्षा मन अधिक नियंत्रित होना चाहिए, जैसा कि वीर नैपोलियन ने उपयुक्त ही कहा था, “सिर्फ वे ही विजयें स्थायी तथा पञ्चात्ताप से मुक्त होती हैं, जो स्वयं अपने ऊपर हमारी विजयें हैं।”

शिक्षा में आदर्शवाद के आलोचक इसके विरुद्ध अनेक दोष प्रस्तुत करते हैं, उनमें से कुछ नीचे लिखे जा रहे हैं :

- १—परम वास्तविकता के लिए अपने दृढ़, एकांगी दृष्टिकोण के कारण यह व्यक्ति को तत्कालीन वास्तविकता से दूर कर देता है।
- २—बच्चे के मनोवैज्ञानिक स्वभाव से इसका सामंजस्य नहीं है जो आध्यात्मिक वस्तुओं के मनन की अपेक्षा क्रिया को अधिक महत्त्व देता है।
- ३—यह अधिक व्यक्तिवादी और सामाजिक नियमों एवं समाज के सामाजिक पक्षों की उपेक्षा करता है।
- ४—यदि वह बिल्कुल उपेक्षा नहीं कर देता तो कम से कम यह विज्ञान और यांत्रिकी के अध्ययन का महत्त्व कम कर देता है।
- ५—यह प्रयोगशील पद्धतियों का विरोधी है और इसलिए शिक्षा में नयी पद्धतियों की ओर प्रयोगशीलता का प्रयत्न नहीं करता। यह शिक्षा की पद्धतियों की अपेक्षा केवल उद्देश्यों में ही योगदान देता है।
- ६—यह शिक्षक के ऊपर शिष्यों की निर्भरता पर अतिरिक्त जोर देता है, इस प्रकार उनके आत्मविश्वास और स्वस्थ विकास की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है।
- ७—यह शिष्यों की विशिष्ट योग्यताओं और व्यक्तिगत अन्तरों पर ध्यान नहीं देता, और सम्पूर्ण रूप से उन्हें अध्ययनों के एक समान पाठ्यक्रम के अधीन कर देता है।

इस सिद्धान्त के समर्थक कुछ इस प्रकार अधीनता का अनुसरण करते हुए, उपरोक्त आलोचना का एक-एक करके उत्तर देते हैं :

- १—तात्कालिक वास्तविकता—क्योंकि ‘देखने’ और व्याख्या करने का विषय है—चरम वास्तविकता से अपनी सार्थकता को प्राप्त करती है और किसी भी तर्क से यह स्वतंत्र नहीं है। उस बिन्दु की उपेक्षा करना, शिक्षा को मूल समस्या का विवेचन करने की अपेक्षा कृत्रिम वस्तुओं से टकराने की अनुमति देना है। इसीलिए तो छात्रों का आध्यात्मिक और नैतिक स्तर, शिक्षा में नयी शैलियों के प्रति रुझान होने के बावजूद भी पतनोन्मुख हुआ है।

२—बच्चे को क्रियाशील प्रवृत्ति और मात्र शुद्ध क्रिया के जीवन में बनाए रखना बड़ी भारी गलती है। शारीरिक क्रिया आध्यात्मिक जीवन के मनन एवं मानसिक क्रिया के अधीन होनी चाहिए। मनोवैज्ञानिक रूप से यह कहना गलत है कि बच्चा मनन से भागता है। ऐसा इसीलिए होता है कि उसके चारों ओर आध्यात्मिक वातावरण की कमी होती है। आध्यात्मिक वातावरण प्राप्त करके वह आध्यात्मिक जीवन में उसी प्रकार प्रसन्न होगा, जैसे किसी क्रियात्मक स्कूल के वातावरण में कोई दूसरा बच्चा क्रिया का आनन्द लेता है।

३—किसी भी शिक्षा-पद्धति को, जिसका स्वीकृत उद्देश्य नैतिक और आध्यात्मिक रूप से मानवों का विकास करना है, व्यक्तिवादी या सामाजिक परामर्शों की उपेक्षा करने वाली नहीं कहा जा सकता। इसका एकमात्र कारण निश्चित है कि नैतिक विकास निस्सन्देह रूप से सभी सामाजिक और नागरिक सद्गुणों को प्रतिध्वनित करना है। वस्तुतः नैतिक और आध्यात्मिक विकास लोभ, लालसा तथा हिंसा से मुक्त उच्चतर समाज के विकास का साधन है।

४—विज्ञान और यांत्रिकी जब तक सुन्दर मानविक अवस्थाओं के साधन नहीं हो जाते तब तक उनका अपने-आप में कोई महत्त्व नहीं। जीवन और मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान और यांत्रिकी की उपयोगिता के मापदण्ड हैं, क्योंकि मानसिक भ्रष्टाचार के लिए किसी भी प्रकार की क्षतिपूर्ति सम्भव नहीं है। सभी पुस्तकें, विज्ञान की प्रयोगशालाएँ तथा आविष्कार आदि सभी बेकार सिद्ध हो जाते हैं यदि मानवता गिरावट की ओर बढ़ रही हो।

५—शिक्षा का उद्देश्य भौतिक जीवन में निमग्न होना नहीं है, इसलिए विज्ञानों की प्रयोगशील पद्धति का इसके लिए कोई उपयोग नहीं है। यह आत्मा की नयी गहराइयों और ऊँचाइयों को खोजने के लिए आध्यात्मिक जीवन में होने वाले प्रयोगों से सम्बन्धित है।

पद्धति में परिवर्तन लाने की जरूरत अनिवार्य हो गयी है, क्योंकि शिक्षा अन्तिम उद्देश्यों को स्थापित नहीं कर पायी है। उद्देश्यों के निरन्तर परिवर्तन के क्रम में नयी पद्धतियों की स्थापना के लिए संघर्ष होना अनिवार्य है। आदर्शवाद की स्थिति भिन्न है। इसके उद्देश्य सदैव के लिए निर्धारित कर लिये गये हैं, क्योंकि वे सनातन मूल्यों से, यथा सत्यं, शिवं,

सुन्दर से व्युत्पन्न हैं। इस विचारधारा के चिन्तकों ने हमेशा ठीक पद्धतियों का चुनाव किया जिनसे कदाचित् ही सुधार की आवश्यकता रहती है। कहने का भाव यह है कि सनातन उद्देश्यों की पद्धतियाँ भी सनातन हैं। परन्तु यह कहना कि प्रत्ययवाद ने शिक्षा की पद्धतियों में कोई योग नहीं दिया, बहुत बड़ा पक्षपात होगा; क्योंकि यह सर्वश्रेष्ठ पद्धति नहीं है, जब :

- (अ) कक्षा में आध्यात्मिक वातावरण के निर्माण पर ही बल दिया जाता है।
- (ब) इसके अन्तर्गत चिन्तन-मननयुक्त जीवन-यापन पर बल दिया जाता है जिससे मानवता एवं धार्मिक सद्गुणों के अभ्यास द्वारा अधिकाधिक आत्मानुशासन एवं आत्मनिरीक्षण की ओर उन्मुख किया जा सके।
- (स) स्वयं शिक्षक के नैतिक और आध्यात्मिक विकास पर बल दिया गया है जिस पर शिक्षा प्रक्रिया की समस्त कार्य-पद्धति का निर्माण एवं परिचालन निर्भर हैं। शिक्षा की सुन्दर पद्धतियाँ उद्देश्यों से स्वतन्त्र नहीं हो सकती हैं। शिक्षा की आदर्शवादी योजना की पद्धतियाँ अपने उद्देश्यों के अनुकूल हैं। आदर्शवाद की सुरक्षा में सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति जीवन में विश्वास और भविष्य की जीवनदृष्टि उत्पन्न करती है। जबकि विज्ञान, यांत्रिकी तथा पंगु विद्वत्ता से मानव के अन्तर्गत अनास्था अथवा रोगग्रस्तता बढ़ जाती है।

६—शिक्षक पर शिष्य की निर्भरता निरपेक्ष नहीं है। निर्भरता, जिस सीमा तक यह अनिवार्य है, साध्य नहीं है बल्कि आध्यात्मिक प्रगति के लिए साधन है। अधिकतर, शिक्षक पर निर्भरता और उसके लिए समादर दिखलाने से शिष्यों में स्वयं अपने प्रति और उच्चतर मूल्यों के प्रति अडिग विश्वास उत्पन्न हो जाता है।

●—व्यक्तिगत भेद-भाव और विशिष्ट योग्यताएँ निश्चय ही उनके स्वत्व की अधिकारी हैं, लेकिन आदर्शवादी दृष्टिकोण से वे किसी एक आध्यात्मिक विकास के सामान्य उद्देश्य के अधीनस्थ होती हैं। व्यक्तिगत भेद और विशिष्ट योग्यताएँ जीवन के आध्यात्मिक उद्देश्य से सम्बन्धित होनी चाहिए लेकिन इसे अवक्रान्त करने के लिए उन्हें अनुमति नहीं है।

खण्ड (ख)

प्रकृतिवाद

पदार्थ और चेतना का द्वन्द्ववाद दर्शनशास्त्र में एक पुराना विवाद है। आदर्शवाद की धारणा है कि चेतना ही एकमात्र वास्तविकता है, जबकि स्थूल भौतिकवाद जैसा कि इसे कहा जाने लगा है, की मान्यता है कि मानव मन के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व पदार्थ के तत्त्व से निर्मित हुआ है। भौतिकवाद किसी न किसी रूप में १७वीं शती से आगे विज्ञान के उदय और विकास के लिए लाभदायक रहा है, बदले में जिसने प्रकृतिवादी दार्शनिक सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। तथ्य तो यह है कि प्रकृतिवाद एक विशिष्ट दार्शनिक प्रणाली की अपेक्षा अधिकतर एक मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति के साथ प्रकृतिवाद के बहुविध छायाभास यूरोप की विचारधारा में व्यक्त हुए। प्रत्येक ने जीवन के सम्पूर्ण दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। प्रकृतिवाद आधुनिक काल में एक ओर नये विज्ञान के उत्साही दृष्टिकोण से और दूसरी ओर वस्तुजगत की वस्तुपरक वास्तविकता को अस्वीकार करने वाले चरम आदर्शवाद और अतिप्राकृतिकवाद के विपरीत विरोधी आंदोलन के रूप में, लगभग बदले की भावना से उत्पन्न हुआ।

प्रकृतिवाद के अनुसार प्रकृति ही वास्तविक है जो अपने ही नियमों से चालित है। परिणामतः वह उन्हीं से निर्धारित हुई है। इसकी धारणा है कि इस विकास-क्रम में चेतना, ईश्वर या रचनाकार को बीच में स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रकृति स्वयं में एक पूर्ण प्रणाली है। उसकी क्रिया को समझने के लिए अन्तर्दृष्टि या सहजानुभूति जैसा आध्यात्मिक सिद्धान्त अपर्याप्त है। विज्ञान की प्रयोगशील पद्धतियाँ ही उसके रहस्यों को उद्घाटित कर सकती हैं। इसीलिए मानव ज्ञान जैसा कि आदर्शवादी हमें विश्वास दिलाते हैं, न लोकोत्तर है न आध्यात्मिक बल्कि प्रयोगशील एवं अनुभव पर आश्रित है। सनातन और वस्तुपरक मूल्यों का भी अस्तित्व नहीं है क्योंकि मूल्य जीवन और इतिहास की परिस्थितियों से उत्पन्न विशिष्ट आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों की रचनाएँ हैं। स्थूल भौतिकवाद के अनुसार मूल्य प्रत्येक अवस्था में शुद्धतः व्यक्तिनिष्ठ है और विशिष्ट भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार व्यक्तिगत आवश्यकताओं के साथ-साथ बदलते रहते हैं। मनुष्य स्वयं पदार्थ है और उसका मन मस्तिष्क-क्रिया का परिणाम है। बहुविध मानसिक प्रक्रियाएँ भौतिक-रासायनिक संक्षोभों के विभिन्न प्रकार मात्र हैं। मनोविश्लेषण के अनुसार प्रेम और घृणा मनुष्य मानस में उत्पन्न नहीं होते बल्कि उस पदार्थ में उत्पन्न

होते हैं जिससे मानवीय ढाँचा निर्मित हुआ है। सत्य अन्तिम या निरपेक्ष नहीं है बल्कि वातावरणमूलक एवं मनोवृत्तिमूलक परिस्थितियों का परिणाम है और फलतः सापेक्ष एवं अस्थायी है। प्रकृतिवाद को इस रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना एकांगी है, क्योंकि वस्तुतः प्रकृति की अवधारणा कभी भी स्थायी नहीं रही है। विज्ञानों की उन्नति के साथ-साथ इसमें भी तीव्र परिवर्तन उपस्थित हुए हैं। तदनुसार प्रकृतिवादी दर्शनों का नामांकन करना अधिकतर दुरूह है। फिर भी उनके शैक्षिक अभिप्रायों के विवरण के आधार पर प्रकृतिवादी दर्शन के तीन नमूने ग्रहण किए गये हैं यथा रोमानी प्रकृतिवाद, विकासवादी प्रकृतिवाद और समकालीन प्रकृतिवाद।

स्वच्छन्द प्रकृतिवाद

रोमानी प्रकृतिवाद ज्याँ जाके रूसो (१७१२-१७७८) के लेखन से आरम्भ होता है और सम्भवतः उनके व्यक्तित्व की गढ़न से इस नाम का सम्बन्ध है जो पारद मनोवृत्तिवाला, संवेगशील और अनियंत्रित था।

रूसो के अनुसार भौतिक प्रकृति की तरह मानव प्रकृति कठोर नियमों के अधीन है। इन नियमों का ग्रहण बच्चों के लिए उनके विकास के विभिन्न स्तरों पर ठीक-ठीक प्रकार की शिक्षा देने में सहायक होगा। इन नियमों का मूलतत्त्व यह है कि 'प्राकृतिक' शिव है और सम्यं साँप है। जैसा कि वे कहते हैं, "नगर मानव जातियों के कब्रिस्तान हैं।" यह जन्म से स्वतन्त्र, मनुष्य स्वभाव से अछूता अपने स्वभाव का अनुसरण तथा अपने संकेतों एवं प्रथम प्रेरणाओं के आधार पर क्रिया करनेवाला—जो न तो परम्पराओं से प्रभावित हुआ हो और न नैतिक शिक्षाओं से भ्रष्ट—वही रूसो का आदर्श है। उसकी प्रकृति का पूर्णतः विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। अपने क्रान्तिकारी ग्रन्थ 'एमिल' में रूसो ने प्रकृति के अनुसार शिक्षा के लिए एक विस्तृत योजना बनाई है। शिक्षा अपने स्वरूप में न केवल सामान्य मानव प्रकृति के अनुरूप ही है बल्कि व्यक्ति की विशिष्ट प्रेरणाओं एवं प्रकृति का पोषण भी करे। कक्षा में विशिष्ट बालक को अनिवार्य रूप से ध्यान का केन्द्र बनाना अत्यनिवार्य है। उसकी आधारिक प्रकृति की खोज करना एवं इसकी अपनी नैसर्गिक गत्यात्मकताओं के अनुसार इसे विकसित होने देना ही शिक्षक का कर्तव्य है।

बच्चे की मूलभूत प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्ति चाहती हैं और फलतः यही उसकी क्रिया है। उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप क्रिया को पूर्णतः छूट मिलनी चाहिए, किसी तरह से भी उसे बाधित नहीं करना चाहिए। उसके पक्ष से इस स्वतःचालित

क्रिया को स्कूल की संकीर्ण या नियंत्रित योजना के अधीन नहीं रखना चाहिए। जंगलों और मैदानों में, प्रकृति के साथ उसे अन्तरंग सम्पर्क स्थापित करने दीजिए। यहाँ पर ही उसकी प्राकृतिक रुचियों और क्रियाओं का विकास हो पाता है। इसलिए स्कूल योजना पूर्वनियोजित नहीं होनी चाहिए बल्कि बच्चे की विकासशील व्यक्तिगत रुचियों और क्रियाओं के साथ हस्तक्षेप की प्रवृत्ति के विरुद्ध जितना ही सचेत रह सकता है उतना ही रहना चाहिए। इस प्रकार बच्चे उनके बिना भी अच्छी प्रकार सीखेंगे। बच्चों को हर तरह से गलती करने दीजिए, स्वयं शिक्षक द्वारा नियंत्रित दण्ड के साधन की अपेक्षा अधिकतर उन्हें प्राकृतिक रूप से दण्डित होने दीजिए। यह स्वतन्त्र विकास, जिसमें बहुत से शारीरिक अभ्यास भी शामिल हैं, मानव को स्वास्थ्य से सशक्त बनाता है। वस्तुतः यही जीवन की आधारशिला है। “सभी क्रूरता दुर्बलता से उत्पन्न होती है”, ऐसी बुराई के विपरीत यह सुनिश्चित गारंटी है।

रूसो के अनुसार शिक्षार्जन के तीन स्रोत हैं, जैसे प्रकृति, मानव और वस्तुएँ। शिक्षा इन स्रोतों से व्युत्पन्न शक्तियों के सामंजस्यीकरण में निहित है। इसका कार्य मनुष्य और वस्तुओं को प्रकृति के अधीन करना है। बच्चों को पुस्तकों की अपेक्षा प्रकृति से प्राप्त अनुभव के माध्यम से सीखने दीजिए। वे विभिन्न आयु-स्तर के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा निर्धारित करते हैं। एक से पाँच वर्ष की शिक्षा उनकी शारीरिक जरूरतों तथा व्यायाम की देखभाल करने का उत्तरदायित्व उनके अभिभावकों पर है, पाँच से बारह तक उनकी गलतियों के प्राकृतिक परिणामों के द्वारा निषेधात्मक रूप से उनकी इन्द्रियों को प्रशिक्षित करके उन्हें शिक्षा देनी चाहिए। बारह से पन्द्रह तक ज्ञान की उपलब्धि पर बल देना चाहिए, लेकिन यह अंश वही होना चाहिए जो प्रवृत्तियों के लिए स्वाभाविक हो और कल्याण की ओर ले जाता हो। पन्द्रह से बीस तक युवक को सामाजिक सम्बन्धों में एवं सामान्यतः जीवन यापन के लिए प्रशिक्षित करने का उद्देश्य होना चाहिए।

रूसो ने क्रमबद्ध रूप से शिक्षा में प्रकृति के लिए असंतुलित आदर एवं स्वेच्छा-चारी मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद का महत्त्व दिखलाया है। वे शिशु-केन्द्रित शिक्षा का निर्माण करते हैं और शिक्षा के परवर्ती इतिहास में क्रियात्मक आन्दोलन के लिए पथ प्रशस्त करते हैं।

विकासवादी प्रकृतिवाद

डार्विन की पुस्तक ‘मानवजाति की उत्पत्ति’ (Origin of Species) सन्

विकास-सिद्धान्त के मूलतत्त्व—उदाहरणार्थ, जीवन की निरन्तरता, विकास, अनुरूपता, जैविक यंत्ररचना के रूप में बुद्धि की प्रखरता। शिक्षा के क्षेत्र में अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति स्थान ले चुके हैं और इसके पाठ्यक्रम को सांगोपांग प्रभावित कर चुके हैं।

अपनी पुस्तक 'विकासवाद के भौतिक-सिद्धान्त' (Material Basis of Evolution) में गोल्डस्मिथ की इस घोषणा के बावजूद भी कि विकास व्यापक रूप से और कभी-कभी रहस्यात्मक ढंग से घटता है, जीवन के निरन्तर प्रवाह के समान आरम्भ से लेकर अन्तिम अवस्था तक शिक्षा क्रमिक रूप से सम्बन्धित होनी चाहिए, प्रत्येक अवस्था स्वाभाविक एवं स्पष्ट रूप से दूसरी अवस्था की ओर ले जाय और एक-दूसरे को विरोधी प्रयोजनों के समक्ष न खड़ा करे। बच्चों को ऐक्य तथा अपने व्यक्तित्व के संगठन में व्यवस्थित होने के लिए शिक्षकों को सुनिश्चित विचारधारा से सम्बद्ध होना चाहिए। मानव तथा बुद्धि की विकासमूलक प्रक्रियाओं का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जिससे बालकों के विभिन्न स्तरों के विकास पर उन्हें उचित निर्देश दिया जा सके। यही कारण है कि विकासवादी जैविक विज्ञान तथा मनोविज्ञान का अध्ययन उनकी उपेक्षा का विषय नहीं बन सकता। साथ ही जीवन की परिस्थितियों से उनके निजी समायोजन के साथ समायोजन के गुणों का क्रमिक विकास होता चलता है। शिक्षक शिष्यों को यह सीखने में निर्देश देता है कि किस प्रकार समाज या प्रकृति द्वारा प्रस्तुत समस्याओं के समाधान से, जीवन में उच्चतर समायोजनों के माध्यम से जीवन यापन किया जाता है और जीवन पर अधिकार पाया जाता है। जीवन की समायोजनात्मक प्रक्रिया में बुद्धि विशेष रूप से अपना कार्य करती है। फलतः बुद्धि मानव जीवन में सर्वोच्च मूल्य के रूप में विकसित होती है। शेष सभी मूल्य उसके अधीन होने चाहिए। इसको पर्याप्त रूप से योग्य बनाना शिक्षा का मूल प्रयोजन है।

विकासवादी प्रकृतिवाद के अनुसार बुद्धि न तो अमूर्त दार्शनिक या गणितीय अवधारणाओं में शीघ्रता से ग्रहण की गई अमूर्त तत्त्व है, न ही नियत की गई मात्रा, बल्कि जीवन के अनुभवों का विवेचन करने के लिए उन पर नियन्त्रण रखने के लिए एवं उन्हें उचित निर्देश देने के लिए यह मूलतः व्यावहारिक और गत्यात्मक तत्त्व है। बुद्धि और अनुभव एक साथ प्रगति करते हुए एक दूसरे को समृद्ध करते हैं। बुद्धि को जीवन की सभी परिस्थितियों को व्यावहारिक रूप से परखने दीजिए, जिससे कि वह उन्हें हल कर सके और सम्भावित रूप से वातावरणों में परिवर्तन ला सकें। बुद्धि की यह अवधारणा न केवल यांत्रिकी के क्षेत्र में ही कार्यक्षम है, बल्कि सामाजिक

और नैतिक क्षेत्रों में भी समान रूप से चरितार्थ होती है। स्वस्थ नैतिकता और वांछनीय सामाजिकता जीवन के साधारण एवं समस्यामूलक परिस्थितियों में प्रौढ़ बुद्धि के अभ्यास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह स्वीकार करते हुए कि जीवन एक साहसिक उपवर्ग है, विकासवादी प्रकृतिवादी जीवन के संघर्ष से लड़ने के लिए बुद्धि को मोर्चे की अगली पंक्ति में स्थान देता है। लेकिन शक्तिशाली वातावरणों के समक्ष बुद्धि पूर्ण या सर्वशक्तिमान नहीं है। इसे अपनी सीमाएँ स्वीकार करनी ही पड़ती हैं और समाज एवं प्रकृति की सम्मिलित शक्तियों को स्वीकारना पड़ता है, फिर भी गत्यात्मक, विकासमान एवं जीवन के जैविक-सामाजिक साधन के रूप में इसे अपनी ही आवश्यकताओं के लिए अवश्य ही संघर्ष करना पड़ता है। लेकिन बुद्धि को निरंकुश या विशिष्टतामूलक की अपेक्षा उपयोगी अनुभव का चुनाव विधिपूर्वक करना है तथा अनुपयोगी को अस्वीकार करते हुए इसे सुसंगत निरीक्षण के आधार पर क्रियाशील होना है।

वह अनुभव क्या है जिसके सम्पर्क से बुद्धि का विकास होता है और जिसे वह निर्देशित करने का प्रयत्न करती है? कोई एक अनुभव व्यक्ति और उसके वातावरण की अन्तर्क्रिया का परिणाम होता है। यह अपने में अतीत, शुभ, अशुभ या तटस्थता की अनेक प्रवृत्तियों को लिये विकसित होता है और भविष्य के विकास के लिए स्वयं में विपुल सम्भावनाओं को ग्रहण किए रहता है। यह कर्तव्य शिक्षक का है कि वह अपने शिष्य को अतीत की प्रवृत्तियों के अभिप्रायों को समझाए, लेकिन अधिकांशतः वर्तमान की समस्याओं सम्बन्धी पकड़ को ही समझने में सहायता दे और वर्तमान या भविष्य में परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर उन्हें हल करने के तरीके और साधन ढूँढ़ निकाले। विकासवादी प्रकृतिवाद के अनुसार इतिहास का दर्शन इस बात पर बल देगा कि इतिहास को अतीत के विषय-के रूप नहीं पढ़ाया जाना चाहिए, बल्कि सम्भाव्य भविष्य के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में इतिहास की नैतिक शिक्षाओं सम्बन्धी गीत कक्षा में दिन प्रतिदिन गाने के लिए नहीं है बल्कि वर्तमान समाज की यांत्रिकी, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की पुनर्रचना करने के लिए बुद्धिमत्तापूर्वक और वर्णनपूर्वक उपयोग में लाने के लिए है। यह वस्तुतः इसकी भविष्य गति को नियन्त्रित एवं निर्देशित करने के लिए है। क्योंकि जीवन मात्र एक संयोग नहीं है बल्कि पर्याप्त रूप से बौद्धिक कार्य-कुशलता के लिए स्थान देता है। शिक्षा ठीक अपने रूप में अतीत की ओर भावुकतापूर्ण पुनरावर्तन नहीं है बल्कि वर्तमान पर की गहरी पकड़ के साथ भविष्य में बँधी एक टकटकी है जो सशक्त रूप से

प्रगतिशील है। साथ ही अतीत की झलकियों की ओर भी ध्यान रखना अनिवार्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि सभी अनुभव का समान रूप से शैक्षिक मूल्य नहीं होता। विकास के सिद्धान्तों के अनुसार वे अनुभव अधिक मूल्यवान् होते हैं जो अगले विकास के लिए मार्ग निर्देशित करें। जैसा कि बुद्धिपूर्वक निर्देशित विकास शिक्षा का उद्देश्य है इसलिए यह शिक्षकों का कर्तव्य बन जाता है कि शिष्यों की सहायता करें, उन्हें जीवन के ऐसे अनुभवों का चुनाव करना है जो न केवल तात्कालिक विकास की ओर उन्मुख हो बल्कि भविष्य में अधिक विकास करने की सारगर्भित सम्भावनाओं से युक्त हो। इसका अर्थ यह है कि अध्ययन सीखना मात्र प्रवरणपरक नहीं है बल्कि सम्बन्धपरक और संगठनमूलक है। जीवन तथा विभिन्न घटनाओं और वस्तुओं के अनुभव एक दूसरे के बहुमूल्य सम्बन्ध के रूप में परखे जाने चाहिए। एक घटना-समूह का दूसरे पर जो प्रभाव पड़े उसके गहरे अर्थों में इसका अध्ययन किया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम के विभिन्न विषय बदनुसार अलग प्रणालियों के रूप में नहीं बल्कि खुली प्रणालियों के रूप में निर्वाचित किए जाने चाहिए, जो एक-दूसरे के लिए सार्थकता रखते हों और परस्पर प्रभाव को स्वीकार करते हों।

विकासवादी प्रकृतिवादी स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व के लिए सर्वाधिक मान्यता देते हैं लेकिन इस शर्त पर कि यह नित्य या प्रदत्त गुण नहीं है, बल्कि जीवन की परिस्थितियों की बौद्धिक ग्रहणशीलता से निचोड़े हुए गुण हैं। कोई व्यक्ति उस सीमा तक स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व का अधिकारी होता है जिस सीमा तक वह वर्तमान पर पूरा अधिकार और भविष्य पर शासन की सम्भावना एवं आशा रखता है। और पुनः उस सीमा तक जहाँ तक कोई अतीत के प्रतिकूल प्रभाव के बोझ से दब नहीं जाता है। शिक्षकों का यह कर्तव्य है कि वे शिक्षाप्रद परिस्थितियों एवं अतिरिक्त पाठ्यक्रम क्रियाओं के माध्यम से इन गुणों को उदात्त बनायें। प्रत्येक परिस्थिति का विवेचन परिप्रेक्ष्य में होना चाहिए; अतीत जिससे यह उत्पन्न होती है और इसका अर्थ वर्तमान परिस्थिति और भविष्यगत निरीक्षण और निर्देशन के लिए बोधगम्य हो पाता है। परिणामस्वरूप अतीत का मृतक भार शिष्यों के सिर पर अनावश्यक रूप से बोझ नहीं बना रहता।

स्पष्टतः विकासवादी प्रकृतिवादी के लिए कोई भी मूल्य नित्य नहीं है क्योंकि सत्य भी उनके लिए अस्थायी है। मूल्य, अनुभव में विकसित बुद्धि की रचनाएँ हैं जो उसी से उत्पन्न तथा परिवर्द्धित होती हैं और इसलिए लोकातीत की अपेक्षा स्वभाव

में सामाजिक और प्राकृतिक हैं। वे परस्पर क्रियाशील उत्पाद्य हैं। इनके द्वार जन निरीक्षण और प्रमाणीकरण के लिए खुले हुए हैं।

समकालीन प्रकृतिवाद

प्रकृतिवाद के सभी रूप बिना किसी प्रतिबन्ध के आगमनात्मक निरीक्षण की वैज्ञानिक तथा प्रयोगशील पद्धति के प्रतिबन्ध हैं। लेकिन समकालीन प्रकृतिवाद हाल की एक पुस्तक *Naturalism and the Human Spirit*^१ में प्रत्यमान नए दृष्टिकोण के अनुसार कला, धर्म, नैतिकता को लेते हुए मानव अनुभव के सम्पूर्ण क्षेत्रों में विज्ञान की प्रगति के विस्तार पर बल देकर दूसरे रूपों से स्वयं को अलग करना है। इसका उद्देश्य सम्पूर्ण अनुभव को एकता और समग्रता में एक साथ एकत्रित करना तथा इस अन्वेषणात्मक निरीक्षण के केन्द्र में खड़ा करके सार्वभौमिकता की मुहर लगाना है। जब मानव के सम्पूर्ण क्षेत्र—इसकी महत्वाकांक्षाओं और हताशाओं, असफलताओं और सफलताओं, मूल प्रवृत्तियों और उद्देश्य, शारीरिक और मानसिक क्रियाओं एवं वैज्ञानिक प्रयत्नों और रहस्यवादी लालसाओं का वैज्ञानिक अध्ययन एक साथ किया जायेगा और प्रयोग-विधि से परिणाम निकाले जायेंगे तो निश्चय ही मानव अनुभव की सम्पूर्णता से एक सामान्य और सहज ज्ञान की घोषणा की जा सकती है। क्योंकि अनिवार्य रूप से मानव अनुभव के किसी भी पक्ष को गणना से बाहर नहीं छोड़ा जायेगा।

समकालीन प्रकृतिवाद अतिप्राकृतिक जगत को अस्वीकार करता है। जगत न तो पदार्थ है न चेतना, न एक को दूसरे के रूप में न्यून किया जा सकता है। यह अपने विविध भेदों में वही है जो कुछ अपनी क्रिया के विशिष्ट प्रकारों के साथ है^२, परिणामतः इसने पूर्ण रूप से परम्परागत मूल्यों के त्रिक्रयी यानी सत्यं, शिवं, सुन्दरं को अस्वीकार नहीं किया बल्कि अन्य अनुभवों की तरह इनके वैज्ञानिक परीक्षण की भी मांग करता है। भले ही परीक्षण का अन्त इनमें सुधार करने से या इन्हें

१. Krikorian, Y. H. (Ed.) *Naturalism and the Human Spirit*, Columbia University Press, New York.

२. संक्षिप्त विवरण के लिए देखिए : Otto Max C. (Selected writings by) *Science and the Moral life* (Chapter 9), The New American Library, New York.

अस्वीकार करने से हो। मानव अनुभव का प्रत्येक अंश संक्षेप में वैज्ञानिक पद्धति की क्रिया के माध्यम से विचार-विमर्श के अनुकूल होता है।

समकालीन प्रकृतिवाद किसी अन्य प्रकृतिवाद के रूप की अपेक्षा दर्शन के अधिक निकट पड़ता है। इसका दृष्टिकोण मानव अनुभव के प्रति अधिक उदार है। एक प्राकृतिक एकता में अनुभव के समन्वय के लिए इसकी सहानुभूति व्यापक है। शैक्षिक रूप से यह दर्शन, निरीक्षण, प्रमाणीकरण और परिकल्पनाकरण की वैज्ञानिक मनोवृत्ति पर आधारित होकर शिक्षण प्रक्रिया को सम्पूर्ण जीवन के लिए सम्पूर्ण मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा की ओर निर्देशित करने की सम्भावनाओं से युक्त है। समकालीन प्रकृतिवाद की शाखाओं में से एक शाखा वैज्ञानिक मानवतावाद है।^१ जो दर्शन और जीवन शैली के रूप में वैज्ञानिक और यांत्रिक पद्धतियों के माध्यम से मानवता की सेवा के लिए इसकी प्रगति और प्रसन्नता के लिए जगत के साधनों को व्यवस्थित करने में तत्पर है।

प्रकृतिवादी शिक्षा के कुछ विस्तृत लक्षण निम्नलिखित हैं :

१—शिशु शिक्षा का मूल केन्द्र है। इस प्रकार उसका विशिष्ट महत्व है। शिक्षा के इतिहास में ऐसा पहले कभी नहीं था। शिशु की प्रकृति ही है जिसे सर्वप्रथम समझना अनिवार्य है और तब शिक्षकों या अभिभावकों के अकारण हस्तक्षेप के बिना इसे प्राकृतिक रूप से प्रस्फुटित होने की अनुमति दी जानी चाहिए। रूसो का अनुकरण करते हुए मुनरो कहते हैं, “शिक्षा सम्पूर्ण रूप से शिशु के जीवन और शिशु के अनुभव के अन्तर्गत ही अपने उद्देश्य, अपनी प्रतिक्रिया और अपने साधनों को प्राप्त करती है।” यदि उनकी प्राकृतिक क्रियाओं में प्रौढ़ लोगों के हस्तक्षेप या उन पर प्रौढ़ मानदण्डों के आरोपण होंगे तो शिशुओं के स्वस्थ विकास को क्षति पहुँचेगी। पूर्ण पुरुष या नारी बनने से पूर्व उन्हें पूर्ण रूप से शिशु होने दीजिए।

२—शिशु की प्रकृति पर बल देना मनोविज्ञान के अध्ययन की ओर अग्रसर करता है। रूसो को अगुआ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिसने शिक्षा का मनोवैज्ञानिककरण किया जिसके फलस्वरूप शिक्षा में पूर्ण रूप से विकसित मनोवैज्ञानिक आन्दोलनों में देखा जा सकता है।

१. विस्तृत विवरण के लिए देखें, Gallie, W. B. P., Pierce and Pragmatism, Penguin Books, Middlesex.

प्रकृतिवादी मनोविज्ञान शिशु की प्रकृति से सम्बन्धित है जो मूल रूप में स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम है। इसी मूलभूत अवधारणा के चारों ओर प्रकृतिवादी शिक्षा चक्कर काटती है। किसी खतरे के होने पर शिशु की प्रवृत्तियों एवं प्रेरणाओं को सम्पूर्ण स्वच्छन्दता की अनुमति दी जानी चाहिए। यदि उसे किसी से प्रणय-निवेदन करना है तो बेहतर होगा कि वह व्यक्तिगत अनुभवों से सीखें और तदनुसार अपने को ढालें। सर्वोत्तम शिक्षा विशिष्ट व्यवहारों के प्राकृतिक परिणामों के माध्यम से प्राप्त की गई है और हर वक्त बच्चे को आज्ञा देना गलत बात है। इससे उसमें अनावश्यक भय और बेचैनी प्रतिबद्ध होती है, जिससे उसके व्यक्तित्व की क्षति होती है।

रूसो के शैक्षिक मनोविज्ञान में दो प्रकार की शिक्षा परिभाषित की गई है : निर्दिष्ट और निषेधात्मक। निर्दिष्ट शिक्षा वह है जब बच्चे की इन्द्रियों को पूर्ण रूप से विकसित होने से पहले उस पर ज्ञान आरोपित करने का सचेत और श्रमशील प्रयत्न किया जाता है और उसकी प्राकृतिक रुझानों और आनन्दों का जरा भी ध्यान किये बगैर उसे ढालने का प्रयत्न किया जाता है। दूसरी ओर निषेधात्मक शिक्षा प्रभावपूर्ण रूप से बुद्धि का संचालन करने से पूर्व शिशु को अपने शरीर और इन्द्रियों को विकसित करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देती है। यह गलतियों से उसकी रक्षा करती हुई उसमें कहीं उच्चतर सद्गुणों का निर्माण करती है। यह युवक में मानसिक स्वास्थ्य और बौद्धिक क्षमताओं को कहीं अधिक सशक्त बनाती है और बाद में उसे अपने शरीर और इन्द्रियों के अनियंत्रित और स्वतन्त्र विकास के साथ उसकी प्राकृतिक क्षमताओं को शक्ति प्रदान करती है इसलिए नैतिक और धार्मिक शिक्षा का इस प्रणाली में कोई महत्त्व नहीं है। यह सम्पूर्ण दृष्टिकोण Poidocentric कहा गया है और शैक्षिक मनोविज्ञान में लोकप्रिय हो रहा है, शिशु ही शैक्षिक प्रक्रिया और शैक्षणिक प्रयोगों का मूल विषय है।

३—स्कूल शिशु के विकास के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता का एक वातावरण प्रदान करता है। बच्चों को क्रियाओं के स्वच्छन्द चुनाव का अधिकार होना चाहिए। सिर्फ सामग्री, अवसर और अन्य सुविधाएँ ही स्कूल द्वारा पर्याप्त और अपरिमित विविधता में प्रदान की जानी

चाहिए जिससे शिशुओं की अलग-अलग रुचियाँ अविकसित न रह जायँ।

४—शिक्षक शिशु के प्राकृतिक विकास का द्रष्टा मात्र है और इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर उसे वातावरण और आवश्यक सामग्री प्रदान करना ही उसका कार्य है। उसका काम निर्देश देना या हस्तक्षेप करना कतई नहीं है।

५—परिणामतः प्रकृतिवादी शिक्षा की पद्धतियाँ वस्तुओं की प्रत्यक्षानुभूति पर बल देती हैं। विशुद्ध शाब्दिक अध्ययन और शब्दों के चुस्त प्रयोग का तब तक कोई शैक्षिक मूल्य नहीं होता जब तक वह बच्चे के अनुभव से सम्बन्धित नहीं होता। पाठकों या शिक्षकों द्वारा विशिष्ट पाठों की मात्र पुनरावृत्ति करना शिक्षा का निषेधात्मक पक्ष है। प्रत्यक्षानुभूति ही शिशु का मूल स्रोत है। अस्तु, विज्ञान का अध्ययन पुस्तकों से नहीं होना चाहिए बल्कि प्रयोगशाला में व्यक्तिगत निरीक्षणों एवं प्रयोगों से भी होना चाहिए। और इसी प्रकार इतिहास और भूगोल जहाँ तक सम्भव हो सम्बन्धित स्थानों के प्रत्यक्ष निरीक्षणों से पढ़ा जाना चाहिए।

६—सामाजिक जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव समसामयिक प्रकृतिवादी पद्धति के लिए सहायक है। इसका अभिप्राय यह है कि बच्चों को नागरिकता सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति पुस्तकों, उपदेशों अथवा अधिकारियों द्वारा नहीं करनी चाहिए बल्कि उनका कर्तव्य है कि स्कूल के संगठन में प्रत्यक्षतः भाग लें, जिसकी नींव बच्चों के स्वशासन के अधिकारों पर आधारित हो। प्रकृतिवादी शिक्षा में अधिकारवाद का कोई महत्त्व नहीं है।

७—क्रीड़ा-विधि प्रकृतिवादी शिक्षा की एक प्रधान पद्धति है। इसको सीखने के लिए खिलाड़ी मनोवृत्ति की पद्धति श्रेष्ठ है। क्रीड़ा शरीर की मात्र गति ही नहीं है। आज इसे बच्चे के द्वारा सीखने के मूल स्रोत के रूप में व्यापक मान्यता मिली है और आधुनिक शैक्षिक मनोविज्ञान का यह मूल उपादान है। यदि बच्चों को स्वयं अपने ऊपर छोड़ दिया जाए और उन्हें आदेश न दिया जाय जैसा कि नियन्त्रित खेलों और कसरतों में होता है तो निश्चित रूप से यह स्वाभाविक रूप में रचनात्मक है। खेल के माध्यम से शिशु अपनी प्रवृत्तियों को तो व्यक्त करता ही है, साथ ही अपने लाभ और खेल के लिए वह वातावरण को सुनियोजित करता है। रचनात्मक और परिचारक आत्मविश्वास दोनों के माध्यम से वह विविध कलाओं में निपुणता प्राप्त कर लेता है। क्रीड़ा बच्चों के प्राकृतिक श्रुकावों का एक

संकेत है और सचमुच 'आने वाले जीवन का पूर्वाम्यास है'। शिक्षा की मान्देसरी प्रणाली, किन्डरगार्टेन्स, क्रिया-स्कूलों तथा विविध नामों की अन्य प्रणालियों में क्रीड़ा-विधि आज अत्यधिक पद्धति लाभप्रद सिद्ध हुई है।

८—बच्चों को प्राकृतिक वातावरण प्रदान करने के लिए सहशिक्षा की वकालत की गयी है। लड़कों और लड़कियों के लिए एक परिवार में एक साथ रहना स्वाभाविक है। स्कूल में उनका अलगाव अप्राकृतिक है। सहशिक्षा से बच्चों में स्वस्थ काम-प्रवृत्ति का विकास होता है जिससे यौन सम्बन्धित अनेकों ग्रन्थियों से उनकी रक्षा होती है। एक साथ मिलने-जुलने के लिए प्राकृतिक अवसर देकर यह स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों को अधिकतर सुखद बनाती है।

ए० एस० नील का समरहिल स्कूल निवास संस्थाओं में से एक ऐसी संस्था है जो पूर्ण रूप से प्रकृतिवादी उद्देश्यों एवं पद्धतियों का उत्तर देती है।

इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रकृतिवादी शिक्षा ने शिशु की स्वतन्त्रता की घोषणा की है जैसा कि पहले कभी नहीं किया गया था। उसे क्रीड़ा-विधि के माध्यम से अधिकतम अभिव्यक्ति की सुविधा दी है, शिक्षा में नयी मनोवैज्ञानिक पद्धतियों की खोज के लिए गतिशीलता प्रदान की है। किन्तु इसके बावजूद इसके दोषों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, जिसे संक्षेप में नीचे गिनाया गया है :

१—यह एकांगी मनोविज्ञान पर आधारित है कि सभी बच्चे प्रत्यक्षानुभूति के माध्यम से और अभिव्यक्ति की अनियन्त्रित स्वतन्त्रता से लाभ उठाने में सक्षम है। चूँकि सभी बच्चे बुद्धि के समान स्तर पर एक नहीं होते, न ही समान मनोवृत्तिवाले होते हैं, इसलिये विशेषतया, रूसों की शिक्षा-पद्धतियाँ सभी दिशाओं में लाभ की दृष्टि से लागू नहीं की जा सकतीं। बहुत से बच्चों को शिक्षकों की 'सक्रिय' सहायता की जरूरत होती है, जिससे वे उनकी क्रियाओं के भयावह परिणामों से उन्हें बचा सकें। कुछ बच्चे, जो सोखने में किसी विशेष बिन्दु पर भटक जाते हैं, यदि उन्हें शिक्षक की ओर से तात्कालिक और प्रभावोत्पादक सहायता न मिले तो वह हताश हो जाते हैं। इसलिए रूसों का सार्वभौमिक सिद्धान्त व्यक्ति भेदों के युगों पुराने मनोविज्ञान के विपरीत पड़ते हैं।

२—गलत जोर देने के कारण यह शिक्षा-पद्धति प्रौढ़ व्यक्तियों को बच्चों के

विरुद्ध खड़ा कर देती है जबकि शिक्षा लाभ के साथ उनके सहयोग, परस्पर प्रेम और आदर के आधार पर ही आगे बढ़ सकती है।

३—प्रत्यक्षानुभूति के माध्यम से सदा ही सीखना सम्भव नहीं है। बहुत सी परिस्थितियों में दूसरों के अनुभवों से सीखना वांछनीय और सम्भव नहीं है। बहुत सी परिस्थितियों में दूसरों के अनुभवों से सीखना वांछनीय और सम्भव है। इसके लिए सीखने के क्षेत्र में स्वयं अकेले जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

४—यह मानवीय प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं को अत्यधिक महत्त्व देती है और आरम्भ से प्रबुद्ध तर्क और दृढ़ अभ्यास के माध्यम से उनके नियन्त्रण पर अपर्याप्त ध्यान देती है। आधुनिक मनोविज्ञान की धारणा के अनुसार जीवन के आरम्भ में ही आदतों का निर्माण हो जाता है और बाद में उनका उन्मूलन और सुधार कठिनतर हो जाता है। बचपन में मनो-प्रेरणाओं को पूर्ण अनुमति देकर प्रकृतिवादी शिक्षा आत्मनियंत्रण के जीवन की सम्भावना समाप्त कर देती है, बच्चे इससे व्यक्तिवादी और संवेगशील हो जाते हैं, जो बाद में किसी भी सामाजिक नियन्त्रण के प्रति आक्रोश के लिए बाध्य हो जाते हैं।

५—इसके उद्देश्य उत्तेजक हैं और वे मनुष्य की किसी योग्यता से आरम्भ नहीं होते। अधिकतर इससे यह लगता है कि व्यापक दृष्टि और नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की पिपासा से युक्त होकर यह मनुष्य की अपेक्षा जानवरों की शिक्षा से अधिक सम्बन्धित है। आदर्शवाद ही इसमें सुधार कर सकता है।

खण्ड (ग)

उपयोगितावाद (व्यवहारवाद)

हाल के अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की भाँति उपयोगितावाद विज्ञान की चेतना में हिस्सा लेता है लेकिन यह विशिष्ट रूप से अमेरिकी उपज है। नयी खोजी हुई धरती के विदोहन करने की अमेरिका की अवसरवादी प्रवृत्ति, ऐसी प्रवृत्ति है जो परम्परा से विमुक्त है और प्रतियोगिता की स्वतन्त्र मनोवृत्ति में रचना करने के लिए और प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्र है।

दर्शन के रूप में यह प्रकृतिवाद की एक शाखा है और लगभग इसके सभी आधा-

रिक सिद्धान्तों में भाग लेता है। अतः प्रकृतिवाद और उपयोगवाद की समय-समय पर परस्पर व्याप्ति अनिवार्य है।

उपयोगितावाद का आरम्भ चार्ल्स सैन्डर्स पियर्स' (१८३९-१९१४) की कृतियों से होता है। पियर्स मुख्यतः तर्कशास्त्री और तत्त्वमीमांसक थे। उनका सम्बन्ध तार्किक एवं तत्त्वमीमांसक दृष्टिकोण से भाषा की समस्या के साथ था। चूँकि आदमी प्रतीक निर्माण करने वाला जानवर है यानी वह संकेतों और प्रतीकों का उपयोग भाषा के रूप में करता है इसलिए भाषा की अवधारणाएँ दार्शनिक अध्ययन की महत्वपूर्ण समस्या हो जाती है। पियर्स के अनुसार कोई भी अवधारणा अन्तिम नहीं है, वह अपने व्यावहारिक प्रभाव के अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं रखती। इसलिए, वास्तविक व्यवहार में वे जिन परिणामों को उत्पन्न करती हैं उसी के अनुसार उनका निर्णय किया जाना चाहिए। अवधारणाएँ परस्पर सम्बन्धित होती हैं और उनका सीखने का उद्देश्य इन अन्तर-सम्बन्धों को उचित अर्थ में देखना ही होना चाहिए। साथ ही उन अवधारणाओं को स्पष्ट एवं विकसित करना भी अनिवार्य है क्योंकि वे विकास की सम्भावना से युक्त होती हैं जिससे तार्किक चिन्तन सम्भव हो जाता है। उनके अनुसार सत्य का अर्थ वैज्ञानिक पद्धतियों में व्यस्त निरीक्षकों के समुदाय द्वारा प्राप्त परिणाम है। इसीलिए यह अन्तिम नहीं किन्तु अस्थायी है।

विलियम जेम्स ने (१८४२-१९१०) पियर्स से उनके तात्त्विक और तार्किक सिद्धान्तों के व्यावहारिक पक्ष को उधार लिया और इसे लोकप्रिय दर्शन के रूप में विकसित किया।^१ मनोविज्ञान के रूप में उन्होंने मानसिक जीवन के तथ्यों पर प्रकाश डाला, जिसे उन्होंने एक दर्शन की रूपरेखा में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार विचार का प्रयोजन मानवीय रुचियों को संतुष्ट करना है। विचार अनुभव के अन्तर्गत विद्यमान रहता है और वह उस तरह अनुभवातीत नहीं होता जैसा कि आदर्शवादी विश्वास करते हैं। अनुभव ही सब कुछ है और हमारे मूल्य और अमूल्य इसी के अन्तर्गत विकसित होते हैं। सत्य निरपेक्ष नहीं है। "सत्य वह है जो क्रियाशील होता है।" यानी जो मानवीय आवश्यकताओं एवं प्रयोजनों में सहायक होता है। इसका व्यावहारिक मूल्य होता है—एक उपयोगितावादी अवधारणा है।

१. विस्तृत विवरण के लिए देखें : Gallie, W. B., *Pierce and Pragmatism*, Penguin Books, Middlesex.

२. विस्तृत विवरण के लिए देखें : James William, *Pragmatism, a New Name for Old Ways of Thinking*, Longman Green & Co.

जेम्स का आमूल परिवर्तनवादी अनुभववाद जैसा कि इसका नाम है, विशिष्ट रूप से कुछ दार्शनिक समस्याओं को हल करने के लिए एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

जी० एच० मीड और जॉन डिवी के साथ उपयोगितावाद अमेरिकी विचार-धारा की नई अवस्था में प्रवेश करता है और इसे गहराई से प्रभावित करता है। विशेषतः डिवी के दार्शनिक और शैक्षिक सिद्धान्तों के साथ उपयोगितावाद अमेरिकी जीवन और शिक्षण-प्रणाली से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। सामाजिक उद्देश्यों एवं प्रगति के लिए अपने स्वभाव में प्रयोगशील एवं साधनापरक होने के कारण, डिवी का दर्शन क्रमशः प्रयोगवाद एवं उपकरणवाद कहा जाता है जिसमें प्रकृतिवादी और उपयोगितावादी दर्शनों की रूपरेखा के अन्तर्गत उनकी आधारिक स्थिति का ठीक संकेत मिलता है।

डिवी की विचारधारा है कि मनुष्य और प्रकृति अविभाज्य हैं और उनकी परस्पर अन्तर-क्रिया मूलभूत तथ्य है। मनुष्य वातावरण का निर्माण करता है जो बदले में उसे निर्मित करता है। उसका जीवन अपने विविध अनुभवों के साथ क्रियाशील रहता है और उस प्रयोगात्मक रूप से परखा गया है और फलस्वरूप उसकी रचनात्मक एवं व्यावहारिक बुद्धि द्वारा स्वीकृत, अस्वीकृत और संगठित किया गया है। वस्तुतः यही जीवित तथ्य है। जीवन के मूल्यों या सत्य को मनुष्य के अनुभव से परे मनुष्य की कल्पना के अतीन्द्रिय जगत में खोजना व्यर्थ है। उनके अनुसार यह मनुष्य का भय और उसकी दुर्बलता है या निश्चितता के लिए उसकी ललक है जो उसे अतीन्द्रिय जगत की रचना करने की अनुमति देती है, जिससे परिवर्तनशील जीवन के संकटों में वह आराम और सुरक्षा महसूस कर सके। शाश्वत मूल्यों या निरपेक्ष तथ्यों की रचना आदिम मन के अन्धविश्वास का अवशेष है, जो प्रकृति को समझने एवं उस पर नियन्त्रण करने में असफल हो चुका था। बुद्धिमान व्यक्ति को 'सामान्यों' की नकली वास्तविकता के पीछे शरण लेकर जीवन्त क्रिया की धार को कुंठित करने की जरूरत नहीं पड़ती। क्रिया में यापन और विस्तृत किया गया जीवन स्वयं अपनी अनुज्ञप्ति है—किसी आदर्शवादी या कवि के दिमाग में छितराया हुआ जीवन नहीं है और इसी से हमारे शुभाशुभ के, आदर्श और कर्तव्य के अन्तरबोध उत्पन्न होते हैं और किसी अतिरिक्त प्राकृतिक घटक को बीच में लाने की जरूरत नहीं है।

अनुभव की प्रकृति सार्वदेशिक नहीं—डिवी सार्वभौमिकता और अमूर्तनों के घोर विरोधी हैं लेकिन मूर्तों और विशिष्ट अनुभवों के लिए पूर्ण सहानुभूति रखते हैं—बल्कि व्यक्तिपरक हैं। प्रत्येक व्यक्ति का निजी अनुभव होता है जिससे वह

अपने परिणाम निकालता है। अनुभव का कार्य यह सीखना है कि कैसे क्रिया करें, कैसे लाभप्रद क्रिया का जीवन बिताएँ। लेकिन व्यक्तिपरक अनुभवों को अराजक पथ पर विचरण नहीं करने दिया जाना चाहिए। छानबीन और प्रमाणीकरण के लिए उनकी खुली परख होनी चाहिए, बल्कि वैज्ञानिक और तार्किक होना चाहिए और प्रक्रिया में भाग लेने वाले व्यक्तियों की विकासमान बुद्धि के आधार पर इसे फूलना-फलना चाहिए। अतः सत्य किसी एक व्यक्ति या एक सामाजिक समुदाय का अन्वेषण या एकाधिकार नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध जनता से है। निर्माण प्रक्रिया की यह सम्मिलित उत्पत्ति है जिसमें विभिन्न प्रकारों एवं श्रेणियों के अगणित व्यक्तिगत अनुभव सम्मिलित रहते हैं और जिसका सामान्य स्वर क्रिया एवं सामाजिक बौद्धिकता होता है।

डिवी के दार्शनिक अनुभव के आधार पर प्रजातंत्र का वातावरण इस प्रकार की प्रतियोगिता के लिए अत्यधिक उर्वर है, क्योंकि यह जनता को एक साथ रहने के प्रयोजनों, पारस्परिक लाभ और प्रसन्नता, उसकी बुद्धि की शिक्षा एवं उपयोग के लिए अवसर एवं आवश्यक उत्तेजना प्रदान करता है। बुद्धि का वास्तविक कार्य सामाजिक एवं व्यावहारिक है और जिस सीमा तक कोई 'सामाजिक बुद्धि' को प्रशिक्षित करता है उस सीमा तक वह शिक्षित है। जीवन, शिक्षा एवं प्रजातन्त्र-प्रणाली सभी में एकात्मक समन्वय हो जाता है।

डिवी के अनुसार मानवता जैसी कोई वस्तु नहीं है—पुनश्च सर्वसामान्य भी नहीं। बल्कि जीवन की अपनी विशिष्ट गतियों से स्पन्दनशील मूर्त व्यक्ति जो अनुभवों के ताने-बाने की गहराई में पहुँच जाता है। सामाजिकतया स्वस्थ उपयोगी जीवन की ओर बढ़ रहा है। स प्रक्रिया के माध्यम से उनकी स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्व की उपलब्धि हुई है, जिसे न तो उपहार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है और न ही कर्ज में लिया जा सकता है। उन्हें अर्जित करने के लिए जीवन के कार्यों में बुद्धिमत्तापूर्वक सक्रिय भाग लेने की आवश्यकता है। जीवन मूर्त कार्यों से पूर्ण होना चाहिए। मूर्त समस्याओं को हल करने के लिए पूर्ण प्रयत्न किए जाने चाहिए। इसे व्यर्थ एवं निरुद्देश्य क्रियाओं में समाप्त नहीं कर देना चाहिए क्योंकि इससे समस्या का कोई भी हल नहीं निकल सकता। सामान्य रूप में क्रिया जीवन का उद्देश्य नहीं है और फलतः शिक्षा का भी उद्देश्य नहीं है बल्कि दैनिक जीवन में उत्पन्न होने वाली विशिष्ट समस्याओं को हल करने वाली प्रयोजनपरक क्रियाएँ जीवन का उद्देश्य है। यह सभी उत्तरोत्तर अनुभव की पुनर्रचना करती है और व्यक्ति को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व एवं प्रतिष्ठा की पुनः शिक्षा देती है। जीवन के कार्यों

या क्रियाओं अथवा प्रयत्नों के लिए लोकातीत या स्वर्ग से प्रेरणा पाने की जरूरत या उपयोगिता नहीं है, बल्कि इसे जैविक एवं सामाजिक गति का प्राकृतिक पक्ष समझ कर स्वीकार किया जाना चाहिए और उस विवरण में अतिरिक्त रुचि लेनी चाहिए।

डिवी ने साध्य और साधन के गल्प को, जो एक-दूसरे से अलग हो चुके थे, निर्मूल सिद्ध कर दिया। उनके अनुसार साधन साध्य के अन्तर्गत उत्पन्न होते हैं। किसी समस्या के समाधान के लिए जिस प्रकार के साधन अपनाए जाते हैं उसी से परिणाम निर्धारित होते हैं। साधनों के किसी एक कुलक से एक प्रकार का और दूसरे से दूसरे प्रकार का परिणाम निकलेगा। ऐसा कदाचित् सम्भव नहीं हो सकता कि साधनों के दो कुलकों से ठीक-ठीक एक ही प्रकार के उद्देश्य प्राप्त हों। इसलिए उद्देश्य स्वर्ग में निर्धारित नहीं होते, बल्कि अनुभव के विशाल क्रीडा-क्षेत्र में हमारी क्रिया के साथ उत्पन्न होते हैं। इसी व्यवहारवादी दर्शन को स्पष्ट करने में सहायता करनी चाहिए जिससे जीवन के वास्तविक अभ्यास में ठीक पद्धति और साधन अपनाए जा सकें जो स्वयं में उद्देश्यों या परिणामों की सम्भावनाओं से युक्त हो जैसे मानव-निर्माण के साधन होंगे उसी प्रकार के उद्देश्य भी होंगे।

मनोवृत्ति से उपयोगितावाद प्रकृतिवादी, पद्धति में वैज्ञानिक और व्यावहारिक एवं उद्देश्य में सामाजिक और मानवीय है। इस रूप में शिक्षा के लिए इसका गहनतर महत्व है।

शिक्षण को रचनात्मक बनाना आवश्यक है। इसको बुद्धिपूर्वक निर्देशित करना है और मानवों को उद्देश्यपरक बनाने की प्रगतिशील प्रक्रिया में नियंत्रित करना है। जीवन को समस्याओं एवं स्थितियों से निपटने के लिए बुद्धियुक्त बनाना है। इसलिए पाठ्यक्रम को पूर्व-निर्धारित नहीं करना चाहिए बल्कि समस्याओं के रूप में उन्हें प्रस्तुत करना चाहिए जिससे शिष्यगण खण्ड-क्रिया से या सामूहिक रूप से अपनी बुद्धि के अनुसार उन्हें हल करने का प्रयत्न करें। अनुसन्धान-कार्य, जो समस्याओं के व्यावहारिक समाधान की ओर ले जाता है, प्रोत्साहित किया जाना चाहिए और शाब्दिक सैद्धान्तिककरण, जो समस्याओं को सिर्फ उलझाता है, हतोत्साहित किया जाना चाहिए। स्कूल में शिष्यों को अपनी समस्याओं और योजनाओं को स्थापित करने और उन्हें व्यावहारिक रूप से हल करने के लिए अत्यधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। शिक्षकों को चाहिए कि वे ऐसी स्थितियों की कल्पना एवं स्थापना में उनके सहायक हों और जब तक अनिवार्य न हो जाय तब तक समस्याओं का हल ढूँढ़ने में व्यस्त शिष्य के विषय में हस्तक्षेप न करें। शिष्यों के पक्ष से रचनात्मक क्रिया और

शिक्षकों की ओर से समस्याओं एवं सामग्री का रचनात्मक चुनाव, शैक्षिक प्रक्रिया का अनिवार्य लघुतम है। शिक्षक स्वयं शिक्षण की प्रक्रिया में सीखता है और यदि प्रयोगमूलक शिक्षण की गति में उसे कोई नया रास्ता दिखाई पड़े तो उसे किसी भी पद्धति का अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए जैसा कि प्रत्येक रचनात्मक शिक्षण का यह कार्य होता है। शिक्षण और सीखना दोनों स्वभाव में प्रयोगमूलक हैं और उनके परिणाम उपयोगितावादी फार्मूले पर कसे जाने चाहिए। भले ही शिक्षा की किसी एक विशिष्ट पद्धति या प्रक्रिया के अत्यधिक सक्षम अभ्यास को सुविधाजनक बनाया जा सके या नहीं। परिणामों की यह कसौटी है, जो शिक्षण प्रक्रिया को अत्यधिक उत्तरदायी और सक्रिय बना देती है अन्यथा शिक्षा का भाग्य शिक्षकों की शैक्षिक सनकों पर निर्भर रहता है।

परिणाम निकलता है कि शिक्षा का उद्देश्य शाब्दिक ज्ञान की उपलब्धि नहीं है बल्कि क्रिया और सीख है। क्रिया की सभी मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ जो इस उद्देश्य का पोषण करती हैं, शिक्षा की उपयोगितावादी प्रणाली में उच्च स्थान रखती हैं। लेकिन शिष्यों के अनुभवों या क्रियाओं को किसी भी प्रकार नियंत्रित नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि फ्रान्सीसी दार्शनिक बर्गसाँ ने जैसा कहा है, “हम किसी प्रणाली की माँगों के लिए अनुभवों का बलिदान नहीं कर सकते।” शिक्षा की क्रियात्मक पद्धति स्वभावतः विभिन्न कौशलों में क्षमता प्रदान करती है और व्यावसायिक शिक्षा को कहीं अधिक सफल बनाती है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सीखते समय कमाना क्यों चाहिए, जो अमेरिकी शैक्षिक मंच की अति सामान्य विशेषता है। कौशल में सक्षम होने पर शिक्षार्थियों को आत्मबल प्राप्त होता है, उन्हें समाज के उपयोगी सदस्य होने की अनुभूति होती है, क्योंकि अपनी निपुणता और क्रिया के माध्यम से वे समाज की भौतिक समृद्धि में सहयोग देते हैं। इससे उन्हें सामाजिक और सहकारी प्रक्रियाओं में शिक्षा मिलती है और सबसे बढ़ कर उन्हें रचनात्मकता से आनन्द प्रदान करती है, जिससे उनकी शिक्षा सुदृढ़ होती है। उपयोगितावादी शिक्षा, उदारवादी शिक्षा के विपरीत यांत्रिकी शिक्षा के प्रति एकांगी दृष्टिकोण रखती है। लेकिन यह स्पष्ट है कि विज्ञान और यांत्रिकी के तथ्य, जैसा कि डिवी ने बार-बार संकेत किया है, स्वयं अपने में उद्देश्य नहीं हैं बल्कि मानवीय प्रगति और विकास के लिए साधन हैं। इसी रूप में उनका उपयोग किया जाना चाहिए। यही एक क्षेत्र है जिसमें खोज नहीं हुई। इसमें आधुनिक शिक्षक अत्यधिक रचनात्मक और उपयोगी कार्य कर सकते हैं क्योंकि विचार और व्यवहार सम्पूर्ण व्यक्तित्व को कार्य में व्यस्त करने तथा अनिश्चित प्रकृति की चुनौती स्वीकारने के परिणामस्वरूप उत्पन्न

होते हैं। इसलिए यह देखना शिक्षक का कर्तव्य है कि शिष्य के किसी एक अंग का नहीं बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व का पोषण हो। उपयोगितावाद द्वैतवादी या अनेकान्तवादी दर्शन नहीं है। यह वस्तुओं को सम्पूर्ण में देखता है। मनुष्य और प्रकृति एक दूसरे के साथ निरन्तर हैं और उसी प्रकार व्यक्ति और समाज, विचार और क्रिया, शरीर और मन भी, जिससे यह ध्वनित होता है कि शिक्षा का पाठ्यक्रम नियंत्रण-मूलक नहीं होना चाहिए बल्कि व्यक्तिगत विभिन्नता के लिए व्यवस्था करते हुए सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शिक्षा की अनुमति देने में व्यापक होना चाहिए। हमें याद रखना चाहिए कि उपयोगितावाद व्यक्तिपरक व्यक्तित्व और इसकी प्रतिष्ठा का एकनिष्ठ आदर करता है। यह सम्पूर्ण रूप से नई पद्धतियाँ एवं योजनाएँ खोजने के लिए तत्पर है जिससे व्यक्तिपरक विचित्रताओं एवं रुझानों का उत्तर मिलेगा, फल-स्वरूप इन अनुभवों की खाद से शैक्षिक प्रयत्न की नई उपजें उत्पन्न होंगी। चाहे ये नवीनताएँ यांत्रिकी अन्वेषण हों, सामाजिक योजनाएँ और व्यवस्थाएँ हों, शिक्षण और सीखने की नई पद्धतियाँ हों, मानव-क्षमता की वृद्धि करने वाली तकनीकें हों, औषधियों में और नये विचारों में नई खोजें हों, वे सभी जिस सीमा तक व्यक्तिगत और सामाजिक वैभव और प्रगति की ओर अग्रसर और व्यवहार के गुण को बढ़ाने में सहायक होते हैं, परखे जाने के उपरान्त महत्वपूर्ण होते हैं। इससे यह भी ध्वनित है कि शैक्षिक प्रक्रिया सरल परन्तु कठिन कार्य करने के लिए सक्षम विधियों को पाने का प्रयत्न करें जिससे मानव श्रम की हर कदम पर बचत हो। समय और शक्ति की इस बचत के साथ, जिसका अंश अवकाश-कार्यों में लगाया जा सकता है, समस्या हल करने की एक अत्यधिक जीवन्त योजना कार्यान्वित की जा सकती है। उपयोगितावादी रूप से शिक्षा जीवन के लिए योग्यता की प्रशिक्षा है।

उपयोगितावाद मन के व्याहारिक रुझानों को ध्वनित करते हुए, संवेगात्मक प्रौढ़ता को प्राथमिकता देता है, साथ ही यह निर्णय की प्रौढ़ता को भी महत्व देता है। ये दोनों सफल जनतांत्रिक रहन-सहन के लिए अनिवार्य हैं। तदनुसार, यह स्कूल में और इसके बाहर क्लबों और गोष्ठियों की व्यवस्था करके शिष्यों को व्यावहारिक निर्णय विकसित करने के कार्य से शिक्षा को तत्पर करता है, जिसे शिष्यगण स्वयं जनतांत्रिक पद्धति से इसका संचालन करते हैं, जहाँ वे सोचते हैं और कार्य करते हैं। अपने कार्यों का स्वयं प्रबन्ध करते हैं। गलतियाँ करते हैं और उनसे लाभ उठाते हैं। प्रजातन्त्र—या इसी कारण मानव जीवन—प्रौढ़ और यथासमय क्रिया की माँग करता है, जिसकी तकनीक किसी सिद्धान्त से चाहे वह कितना ही घोषणीय क्यों न हो, नहीं सीखा जा सकता, बल्कि परिवार से लेकर समाज

तक सभी जनतांत्रिक संस्थाओं से सीखा जा सकता है। प्रौढ़ निर्णय के लिए कौशल विकसित करने में शिष्य को प्रशिक्षित करते समय शिक्षक को नये तथ्यों के पाने में, उन्हें वर्गीकृत करने में और उनके साथ सफल तार्किक परिणामों के लिए प्रयोग करने में सहायक होता है। लेकिन निर्णय की यह प्रक्रिया तब तक पूर्ण नहीं होगी जब तक कि :

१—प्राप्त निर्णयों से दूसरों के निर्णयों की तुलना नहीं की जाती। आपस में उन पर आलोचनात्मक विवाद नहीं किया जाता और विधिवत रूप से सभी सहमत नहीं हो जाते।

२—निर्णयों को उनके परिणाम के अनुसार परखा नहीं जाता और उपयोगितावादी दृष्टि से उन्हें उपयोगी नहीं समझा जाता। यह न केवल क्षमता की ओर ही अग्रसर करता है वरन् सामाजिकता, सहनशीलता, परस्पर मानव प्राणियों की प्रतिष्ठा को पूर्ण करते हुए उन्हें समुन्नत करता है जिसके लिए स्कूल व्यक्ति और सामाजिक प्रगति के साधन के रूप में अस्तित्व बनाए रखने के लिए अधिकार रखता है। यह स्पष्ट होना चाहिए कि उपयोगितावादी रूप से नैतिक मूल्य रहस्यवादी स्रोतों से आयात नहीं हैं, वे चाहे स्कूल के स्तर पर या व्यापक समाज के स्तर पर हों, जनतांत्रिक रहन-सहन की प्रक्रिया से स्वयं उत्पन्न होते हैं। अनुशासन भी, जिसका शिक्षा में अत्यधिक महत्त्व है, जीवन की उपयोगिता प्रणाली के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

उपयोगितावाद के व्यापक शैक्षिक अभिप्रायों को निम्नलिखित रूप से संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

- (१) चूँकि शिशु अपने अनुभवों से मूल्यों की रचना करता है, इसलिए स्कूल स्वतन्त्रता और आवश्यक साधनों को अवश्य प्रस्तुत करें, जिससे वह अपने अनुभवों से सीखने में समर्थ हो सके। सिर्फ इसी प्रकार जीवन की माँगों और निरन्तर परिवर्तित स्थितियों से निपटने के लिए अनुकूल और साधनपूर्ण मन का विकास कर सकता है। फलतः शिक्षकों को पूर्व प्रयोजन निर्धारित नहीं करने चाहिए, जिससे कि शिशु की रचनात्मक क्षमता के सीमित होने का भय है। स्वयं को अकेला पाकर शिशु अन्तहीन क्रियाओं में व्यस्त रहेगा और उत्तरोत्तर स्वयं लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा।
- (२) बच्चे की साधारण खेल से लेकर बौद्धिक और सौन्दर्यमूलक पक्षों से जोड़ने तक की विभिन्न क्रियाएँ स्वयं क्रियाओं के लिए नहीं, बल्कि मानव आव-

श्यकताओं की पूर्ति के हेतु अपनाई जाती हैं। इसलिए क्रियाएँ व्यक्तिगत आवश्यकताओं और सामाजिक प्रयोजनों के लिए साधनमूलक हैं। स्कूल की योजनाओं के अनुसार ही उनका निर्णय किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, इस प्रकार शारीरिक खेल-कूद की क्रियाएँ यद्यपि उपयोगी होती हैं, इन्हें चरम सीमा तक ले जाने से समस्त शिक्षण-प्रक्रिया को नष्ट-भ्रष्ट कर देंगी।

- (३) शिशु का व्यक्तित्व शिक्षक के व्यक्तित्व से धुंधला न होने पाये। शिक्षक मित्र और सहायक होता है, वह स्कूल व क्रीडाक्षेत्र में प्रयोग करने के लिए शिशु को अवसर प्रदान करता है। आदर्शवाद से भिन्न शिक्षक का अधिकार उपयोगितावाद की सेवा के द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाता है। सामाजिक रूप से बालक एवं अध्यापक दोनों में समान स्तर है।
- (४) मात्र शाब्दिक ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है। ज्ञान का उद्देश्य व्यावहारिक है, जिससे उपलब्ध ज्ञान से शिष्य स्थिति के अनुसार कार्य करने में सक्षम हो सके। अतः एकपक्षता व्यावहारिक कौशलों और यांत्रिकी विषयों के लिए है। यह क्रिया ही है जो शिक्षा का उद्देश्य है, चिन्तन का काम इसमें सहयोग देना है, लेकिन निरपेक्ष रूप से नहीं। चिन्तन चिन्तन के लिए उपयोगितावादी दर्शन में महत्वहीन है। सिद्धान्त और व्यवहार में बिलगाव होना शिक्षा का निषेध पक्ष है।
- (५) एकता का सिद्धान्त उपयोगिता का एक प्रधानभूत अंग है—व्यक्ति और समाज, व्यवहार और सिद्धान्त, ज्ञान और बुद्धि एवं ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में एकता। पाठ्यक्रम में विषयों का संकीर्ण विभाजन शिक्षार्थियों की रुचि के विरुद्ध पड़ता है। जीवन की स्थितियों में विभिन्न पक्ष इस तरह अविभाजनीय रूप से घुले-मिले होते हैं कि उन्हें एक विषय पर निर्भर रख कर समझना मुश्किल हो जाता है। उदाहरण के लिए मानव शरीर की दो विशेषीकृत शाखाओं को ले, शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान। एक विशिष्ट रोग शरीर-विज्ञान के आधार पर विश्लेषण और देखरेख के लिए सम्भवतः उपयुक्त है और शायद उसका मनोवैज्ञानिक आधार हो, जिसे मात्र मनोविज्ञान के द्वारा ही ढूँढ़ा जा सकता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि शरीर-विज्ञान का एक छात्र अपनी मानसिक खिड़कियों को मनोविज्ञान के लिए भी खुली रखे अथवा भिन्न स्थिति भी सम्भव होनी चाहिए।

इन दोनों विषयों के बारे में जो तथ्य है वह ज्ञान की सभी शाखाओं के लिए भी चरितार्थ होता है। ज्ञान को एकात्मक और समन्वयात्मक होना चाहिए, विभागात्मक नहीं। शुद्ध विशेषज्ञ, जो दूसरे विषयों के बारे में कुछ नहीं जानते, उन्हें पूर्णतः शिक्षित नहीं कहा जा सकता। शिक्षा की आधुनिक प्रवृत्ति निश्चय ही समन्वयात्मक ज्ञान की ओर है। स्कूलों और विश्वविद्यालयों में छात्रों को उनके निजी विशेष विषयों पर प्रभाव डालने वाले अनेकों सम्भव विषयों को सीखने के लिए उत्साहित किया जाता है। यदि अपनी बात की पुनरावृत्ति की जाय तो जीवन की समस्याओं को हल करने के लिए, समन्वयात्मक विधि से ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की शिक्षा देने का उद्देश्य बनाया गया है। निश्चय ही ज्ञान इतना विस्तृत है और मानव क्षमता इतनी सीमित है कि स्कूलों और विश्वविद्यालयों में विषय-विशेषज्ञता अनिवार्य हो जाती है। लेकिन इस पिछड़ेपन का सुधार एक सीमा तक किया जा सकता है बशर्ते कि शिक्षक लोग क्रमिक रूप से एकत्र होकर अपने विषयों के मूल लक्षणों की चर्चा करते रहें। शिक्षण महाविद्यालय (बैंकाक) का उल्लेख करते हुए अपने एक पत्र में मेरे एक सहयोगी कहते हैं, "... वास्तव में प्रत्येक शिक्षक को अपनी व्याख्यान-योजना को अध्यापक-सभा में प्रस्तुत करना पड़ता है और कक्षा में प्रस्तुत करने से पहले इसकी अध्यापक-सभा के प्रत्येक सदस्य द्वारा पूर्ण रूप से विवेचना की जाती है और इसके बाद जब व्याख्यान हो रहा हो तो अध्यापक-सभा के समय, सम्पूर्ण व्याख्यान, जिस रूप में शिक्षक द्वारा प्रस्तुत किया गया था, एक बार फिर उसकी व्याख्या होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से तैयारी निश्चित हो जाती है।"

- (६) नैतिक शिक्षा और अनुशासन विशेष विषयों के अध्ययन, उपदेशों या अन्य किसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकते। वे शिक्षार्थियों द्वारा चुनी गयी स्वस्थ क्रियाओं के प्राकृतिक परिणाम और उनके उत्तरवर्ती अनुभव होते हैं। छात्रों का स्कूल के सामाजिक जीवन और समुदाय में भाग लेना उन्हें स्वस्थ नागरिकता के लिए तैयार करना है। परिणामतः नैतिक बोध और अनुशासन अलग विभाग नहीं हैं बल्कि जीवन की क्रियाओं और अनुभवों के समसामयिक हैं। क्रिया के द्वारा सीखना ही दृढ़तापूर्वक स्वीकार्य सूत्र है।

(७) शैक्षिक अभ्यास के लिए उपयोगितावाद की महान् देन प्रक्षेप विधि है : सर्वप्रथम एक समस्या प्रस्तुत की जाती है, एक परिस्थिति का निर्माण किया जाता है। शिष्य उस समस्या का समाधान ढूँढ़ने में लग जाता है और इस प्रक्रिया की गति से, विभिन्न समस्याओं को परखते हुए, वह विभिन्न कौशल सीखता है जिससे उन बातों में उसकी अन्तर्दृष्टि का विकास हो जाता है। इस प्रकार दूसरों द्वारा प्राप्त ज्ञान की उपजों को प्रस्तुत करने के बदले वह प्रथम व्यक्तिगत अनुभवों और व्यक्तिगत असफलताओं-सफलताओं में सीखता है। स्पष्टतः प्रक्षेप फलस्वरूप चुनाव का समाधान ऐच्छिक क्रिया के आधार पर संचालित करता है। शिक्षक का कार्य शिशु की क्रियाओं को आवश्यकतानुसार उचित निर्देशन करना है, जिससे स्कूल में प्राप्त शिक्षा आसानी से जीवन की समस्याओं पर लागू या स्थानान्तरित की जा सके।

प्रक्षेपों के दो प्रकारों में से जैसे व्यक्तिगत और सामाजिक, पिछला उपयोगितावादियों में अत्यधिक समादृत हुआ है। इसका कारण है कि समूह द्वारा गृहीत प्रक्षेप सहयोग, सामाजिक भागीदारी और सामाजिक सम्बन्धों को विकसित करता है। समूहों के द्वारा प्रक्षेपों का चुनाव स्कूल की अत्यावश्यकताओं एवं स्थितियों के प्रति ऐच्छिक और सापेक्षमूलक होता है। निजी विशिष्ट वातावरण और सुविधाओं के साथ, प्रत्येक स्कूल व्यक्तियों और समूहों को भिन्न-भिन्न प्रक्षेप निर्देशित करता है। शिक्षकों द्वारा कभी-कभी ही प्रक्षेप प्रस्तुत किए जाते हैं। आरम्भिक अवस्था के समय प्रक्षेप कल्पित किए जाते हैं और क्रीड़ा-विधि के माध्यम से उन्हें संचालित किया जाता है। उदाहरण के लिए एक नाटक अभिनीत किया जाता है, जिसमें अगणित क्रियाएँ विषय के चुनाव या लेखन से लेकर, संगीत, दस्तकारी और कला तक सम्मिलित रहते हैं। बाद की अवस्था में, किसी तरह प्रक्षेपों के माध्यम से शिक्षा को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि सीखने के सभी पक्षों का स्पर्श करने के लिए उनका सूत्रीकरण करना कठिन है, विशेषतः उनका जिनमें अत्यधिक अमूर्त अवधारणाएँ संलग्न होती हैं। उदाहरण के लिए प्रक्षेप-विधि साहित्य, दर्शन और समान रूप से उच्चतर शिक्षा में अल्प सहायता ही दे सकती है।

उपयोगितावाद ने शैक्षिक विचार और व्यवहार के लिए पर्याप्त योगदान किया है। आदर्शवाद के सुधारक के रूप में चेतना के विषय में सन्देह और परम्पराओं

के निरन्तर परीक्षण को इसने न्यायसंगत बतलाया है। वास्तव में यह चरमबिन्दु का स्पर्श करता है और स्थापित करता है कि प्रत्येक युग—यहाँ तक कि प्रत्येक स्कूल को अपने निजी मूल्य खोजने चाहिए। यह प्रत्येक सामाजिक विषय में, यहाँ तक कि सामाजिकेतर विषयों में भी साधनमूलक पद्धति पर और आत्मराज्य के लिए अधिकार और स्वतन्त्रता पर पूर्ण विश्वास करता है। अधिकारवाद को मर्यादित आघात पहुँचाकर तदनुसार इसने स्कूल में प्रजातंत्र की वृत्ति को त्वरित किया है। मानवतावाद और समाज के ढाँचे के अन्तर्गत कार्य करते हुए इसने लोगों को अत्यधिक उत्तरदायी और परस्पर सहयोगी बनाया है, इस प्रकार उन्हें उच्च नागरिक, नैतिक और अनुशासनपूर्ण बनाया है। प्रक्षेप-विधि का प्रयोग करके, इसने शिक्षा को अधिक रुचिकर, उद्देश्यपरक और योग्य बना दिया है।

आलोचक लोग उपयोगितावाद को अत्यधिक आमूल परिवर्तनवादी और संदेहवादी कहते हैं। उन्हें डर है कि यह विश्वास और अधिकारी को अस्वीकार करना चाहता है, साथ ही शाश्वत मूल्यों को भी, फलतः वह व्यक्तियों के लिए प्रसन्नता और समाज के लिए सामंजस्य का निषेध करता है। उपयोगितावाद का अध्ययन सचमुच भय के लिए कोई स्थान नहीं देता। वास्तव में दूसरे दर्शन के माध्यम से यह प्रत्ययवाद की पूर्णतः कई समस्याओं को पूर्ण करता है। आदर्शवाद और उपयोगितावाद का समन्वय शिक्षा के लिए सम्भवतः एक आदर्श दृष्टिकोण हो सकता है।

सहायक पुस्तकें :—

1. Hocking, William E. : Types of Philosophy, Charles Scribner's Sons, New York.
2. Taylor, A. E. : Platonism and Its Influence, The Marshall Jones and Company, Boston.
3. Dewey, John : The Influence of Darwin on Philosophy, Holt and Co., New York.
4. Dewey, John : Experience and Education, Macmillan and Company, New York.

शिक्षा के उद्देश्य

‘प्रत्येक वस्तु सीखी जा सकती है; किसी भी वस्तु को सिखाया नहीं जा सकता।’

—एक चीनी कहावत

शिक्षा के उद्देश्यों की खोज करते समय हमें निम्नलिखित स्रोतों की उपलब्धि होती है :

- (१) शिक्षा के क्षेत्र में उपक्रमी लोगों के व्यक्तिगत रूप से कहे गए कथन एवं सूत्र प्राप्त हैं। यह वस्तुतः उनके अपने जीवन के अनुभवों एवं विशिष्ट दृष्टिकोण पर आधारित हैं। यदि वे किसी एक अथवा अन्य बिन्दु पर बल देते दिखाई देते हैं तो इसका कारण उनकी मनोवृत्ति, परिस्थितियों तथा समय की आवश्यकताओं के आधार पर गहरी अन्तर्दृष्टि, अथवा किन्हीं संहितों में एकवचन में या बहुवचन में प्राप्य विधिवत सैद्धान्तिकरण ही हो सकता है।
- (२) शिक्षा के आदर्श या तो संस्थागत घर्षों, राज्यों और राजनीतिज्ञों को या किञ्चित् शक्ति-पिपासु अभिजातों और व्यापारियों को सुरक्षित रखते हुए शैक्षिक संस्थाओं में मूर्तिमान किये गये हैं।
- (३) शैक्षिक मूल्य निम्नांकित अवस्थाओं में प्रकट होते हैं :
 - (अ) विशिष्ट दार्शनिकों तथा प्रणालीबद्ध दार्शनिक कृतियों में,
 - (ब) विकासमान मनोविज्ञान के अंश के रूप में
 - (स) समाजशास्त्र के अंश के रूप में।
 - (द) आधुनिक क्रमबद्ध एवं समन्वयात्मक शैक्षिक सिद्धान्तों के रूप में।

इस प्रकार के अन्धकारमय अनुभव के माध्यम से शिक्षा की किसी संक्षिप्त परिभाषा तक आसानी से पहुँचना न तो सम्भव है और न वांछनीय ही, क्योंकि आप सूक्तियाँ और अतिसामान्य परिभाषाएँ ही प्राप्त कर पाते हैं—शिक्षा इसके या उसके लिए, या शिक्षा का उद्देश्य प्रथम या दूसरा है। इस अत्युक्ति में फँसकर सीधे-सीधे शिक्षा को पारिभाषित करने का प्रयत्न भी व्यर्थ है। एक चीज के लिए इसे कुछ विचारकों की ओर से प्रस्तुत किया जा सकता है कि शिक्षा के नियत उद्देश्य नहीं होते, वे हमेशा निर्मित होते रहते हैं और परिणामतः यथातथ्य परिभाषाओं के अनुसार निर्धारित नहीं किए जा सकते। दूसरी के लिए शिक्षा के विभिन्न ऊपरी ढाँचे की आधारिक पूर्वमान्यताएँ परिवर्तित होनी चाहिए। उदाहरण के लिए ज्ञान के स्थान में, कोई शिक्षा के विषय के रूप में मनुष्य की मानवता को स्थानान्तरित करने की स्वतंत्रता को ले सकता है। लेकिन वह समस्या का हल नहीं है। अतः इस समस्या के प्रति हमें क्रमबद्ध दृष्टिकोण ग्रहण करना चाहिए।

शिक्षा के उद्देश्य या स्वभाव

एक दृष्टिकोण से शिक्षा के उद्देश्य दो रूपों में लिये जा सकते हैं—पहला सार्वभौमिक या विशेष रूप में। शिक्षा के सार्वभौमिक उद्देश्य वे हैं जो अपने सामान्य रूप में सम्पूर्ण मानव जाति पर लागू होते हैं। प्रेम और अहिंसा जैसे मानवीय गुणों को विकसित करना शिक्षा के कमोबेश सामान्य उद्देश्य होते हैं या होने चाहिए। मानव व्यक्तित्व का संगठन, स्वस्थ शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, समाज के स्वास्थ्य एवं प्रगति के महत्तम को समानान्तर बनाए रखना भी उसी तरह शिक्षा के सामान्य उद्देश्य हैं। दूसरे क्षेत्र में मूल तत्त्व होते हैं, जो एक स्तर पर शिक्षा को एक सामान्य चरित्र प्रदान करते हैं। सभी स्वस्थ दार्शनिक और शैक्षिक सिद्धान्त इस विषय पर एकमत हैं, चाहे उनकी भाषा जो भी हो, आन्तरिक मूल्य सार्वभौमिक होते हैं।

व्यक्तिगत या विशिष्ट उद्देश्य क्षेत्र और स्वभाव में सीमित होते हैं। वे समय और स्थिति सापेक्ष होते हैं। निश्चित आवश्यकताओं के अनुरूप वे प्रबलता के विषय भी होते हैं। उदाहरण के लिए यांत्रिकीय रूप से पिछड़ा हुआ देश, अनुपात या उससे बाहर, पाठ्यक्रम में विज्ञान और यांत्रिकी पर जोर देने की अनिवार्यता समझ सकता है। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि विज्ञान और यांत्रिकी के मूल्य आधिकारिक मानव मूल्यों से गुण में उच्चतर है। इसका पूरा अर्थ यही है कि

मानव मूल्य को उन्नत बनाने के लिए समाज की किसी विशिष्ट परिस्थितियों में तकनीकी विषयों को उच्चतम प्राथमिकता देना अनिवार्य है, जिससे पर्याप्त भौतिक प्रगति सुनिश्चित हो जाए। लेकिन यदि भौतिक प्रगति और यांत्रिकी ही प्रयाण में अग्रदल हो जाते हैं और मानव मूल्य पृष्ठभूमि में छूट जाते हैं तो शिक्षकों को खतरा महसूस करने के लिए गम्भीर कारण आ उपस्थित होता है। विशिष्ट उद्देश्य कितने ही शुभ और उपयोगी हों, शिक्षा के सार्वभौमिक एवं आन्तरिक उद्देश्यों की अवहेलना न करे, बल्कि दूसरी ओर उन्हें अधिक सम्पन्न बनाएँ। इन दोनों को उचित सामंजस्य में बनाए रखना शिक्षा के प्रधानभूत कार्यों में से एक है क्योंकि सामान्यतया जो होता है वह यह है कि सर्वसामान्य उद्देश्य, विशिष्ट परिस्थितियों के लिए विशिष्ट पाठ्यक्रम और शिक्षा की विशिष्ट पद्धतियों की आवश्यकता का ध्यान किए बगैर, बार-बार दुहराए जाते हैं; विशिष्ट समस्याएँ, आन्तरिक सार्वभौमिक मूल्यों की चरम उपेक्षा के साथ सीमित विधि से प्रस्तुत की जाती हैं। एक उदाहरण लेने पर स्पष्ट होगा। यदि भारतवर्ष शैक्षिक पुनर्निर्माण की अत्यन्त आरम्भिक अवस्था में यांत्रिकी प्रगति के मूल्य पर आध्यात्मिक उद्देश्यों की उपलब्धि करने के लिए शिक्षा की सम्पूर्ण प्रणाली को संचालित कर देता है तो अपने बौद्धिक धन में कुछ जोड़े बिना ही उसका अन्त आध्यात्मिक दिवालियापन में होगा। यदि हमेशा नहीं तो इस समय की आवश्यकता गरीबी को दूर करना और यांत्रिकी ज्ञान में प्रगति करना है, जिससे जीवन के उच्चतर उद्देश्य के लिए उसका उपयोग करने में हम समर्थ हो सकें या दूसरी ओर से यदि वह अपने आध्यात्मिक उत्तराधिकार पर किसी तरह का ध्यान दिए बगैर यांत्रिकी ज्ञान की प्रगति पर दृढ़ाग्रह रखता है तो इस तरह वह शैक्षिक हेत्वाभास का शिकार होता है।

शिक्षा के विशेष उद्देश्य, जो बाह्य या साधनमूलक मूल्यों में निहित होते हैं—वे मूल्य जिनका प्रयोजन उच्चतर या आन्तरिक मूल्यों का बोध प्राप्त करना है—उस सीमा तक न्यायसंगत है, जिस सीमा तक वे आध्यात्मिक मूल्यों का विरोध नहीं करते। इसलिए शिक्षा के उद्देश्यों के मूल्यांकन का एक निकष सामंजस्य और सन्तुलन की सीमा है जिसे सर्वसामान्य और विशेष उद्देश्यों में उपलब्ध किया जा सकता है।

व्यक्तिगत और सामाजिक उद्देश्य

दूसरे दृष्टिकोण से शिक्षा के उद्देश्य व्यक्तिगत और सामाजिक रूप में लिये जा सकते हैं।

व्यक्तिगत उद्देश्य अधिकतर व्यक्ति की निजी आवश्यकताओं को पोषित करने का प्रयत्न करते हैं। वे उसे व्यक्ति रूप से दृढ़, सुयोग्य और सफल बनाने का प्रयास करते हैं। एक चरम सीमा तक कार्यान्वित करने पर, वे समाज-कल्याण की उपेक्षा करते हैं और भावात्मक रूप से इसे हानि भी पहुँचाते हैं। दूसरी ओर सामाजिक उद्देश्य समाज और राज्य के कल्याण की प्रगति करने का प्रयत्न करते हैं। एक चरम सीमा तक कार्यान्वित करने पर वे व्यक्तित्व और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का गला घोट देते हैं।

शैक्षिक विचार के इतिहास में रूसो की कृतियों में व्यक्तिगत उद्देश्यों पर बल दिया गया है, जिन्होंने व्यक्ति के व्यक्तित्व को उन्नत करने के लिए, समाज को इसके अधीन कर दिया। उनकी शिशु-शिक्षा का तर्क सारगर्भित सत्य होता यदि इसमें व्यक्ति और समाज के विरोध की आधारिक पूर्वमान्यता न होती। जर्मनी की शैक्षिक प्रणाली में, दार्शनिक हीगेल की कृतियों के उन्मेष के साथ शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य की प्रबलता को लक्षित किया जा सकता है। हीगेल के अनुसार एक व्यक्ति जो वह राज्य से प्राप्त करता है, उसके सिवा उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता। राज्य 'वास्तविक' व्यक्ति है, 'वास्तविक' तत्त्व है, जिसकी एक इच्छा होती है। व्यक्ति राज्य के उद्देश्यों का पालन करे, चाहे वह कुछ भी हो। किसी व्यक्ति के गुण का मानदण्ड, सामान्य इच्छा या राज्य की इच्छा के प्रति व्यक्ति की ऐच्छिक अधीनता की सीमा से निर्णीत होना चाहिए। दो विश्वयुद्धों के पहले जर्मनी की शिक्षा ने अपने पाठ्यक्रम और योजना में हीगेल के दर्शन को ही आधार बनाया था और राजकार्य एवं सैनिकता को सर्वोपरि स्थान दिया था। शिक्षा का एक प्रारम्भिक उद्देश्य देशभक्त सिपाहियों को प्रशिक्षित करना था, जो युद्ध और शान्ति दोनों में राज्य के लिए जियें और मरें। शिक्षा राजनीति की गुलाम हो गई और फासिस्ट सेना का जन्म हुआ।

राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में व्यक्ति और समाज के अत्यारोपित दावे को दो आन्दोलनों की प्रक्रिया से स्पष्ट किया जा सकता है। १८वीं और १९वीं सदियों में व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता पर दिए गये बल से न केवल व्यक्ति द्वारा व्यक्तिगत शिक्षात्मक प्रवृत्ति विकसित हुई, बल्कि हस्तक्षेप-रहित सामान्य सिद्धान्त द्वारा भी हुई, यानी व्यक्तिगत लाभ के लिए भौतिक धन का स्वतंत्र रूप से शोषण। पूँजीवाद और व्यक्तिगत सफलताएँ इस युग के अग्रगण्य गुण हैं। दूसरे छोर पर साम्यवाद अपने आरम्भिक उदय और क्रियात्मक उद्देश्य में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पूर्ण बहिष्कार और सम्पूर्ण उद्योगों के राजकीय प्रशासन की स्थापना

करना चाहता है। निम्नवर्ग से स्वतंत्रता के सम्पूर्ण तत्त्व प्राप्त करके उन्हें राजहित में लगा दिया गया। साम्यवाद और फासिस्टवाद दोनों को राज्य-अधिनायकत्व सम्बन्धी एक जैसी विचारधारा व्यक्तिगत विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रति तीव्र अरुचि प्रकट करती है। यद्यपि दोनों इतिहास की भिन्न आवश्यकताओं एवं भिन्न दर्शनों के प्रभाव के माध्यम से एक जैसे निष्कर्षों पर पहुँचे हैं।

दोनों उद्देश्यों की सैद्धान्तिक व्याख्या

व्यक्तिगत और सामाजिक उद्देश्य समय-समय पर समाज और शिक्षा में चरम सीमा तक विकसित होते रहे हैं। इसका कारण कदाचित् एक अथवा दूसरे उद्देश्य के महत्त्व को स्वीकारना रहा है जिस पर ऐतिहासिक आवश्यकताओं के दबाव रहे हैं। परन्तु मुख्य कारण भ्रामक दर्शन रहा है कि समाज और व्यक्ति एक दूसरे के विरोधी या परस्पर विरोधी हैं। यह भ्रांति अधिकतर योग्यतम व्यक्ति के जीवित रहने के जैविक सिद्धान्त की गलतफहमी और भ्रामक व्याख्या से अधिक पोषित हुई जिसने पूर्णरूप से व्यक्ति का पालन करने के लिए एक बहाना बना लिया था। वह संस्कृति जिसमें व्यक्ति और समुदाय के दावे सुव्यवस्थित होते हैं। इतिहास की साक्षी से वे अपने ऐक्य (Integration) के कारण अधिक स्थायी रहे हैं। जब कि वे संस्कृतियाँ जिनमें व्यक्ति और समुदाय के हित परस्पर विरोधी उद्देश्य वाले हैं, शीघ्र ही खंडित हो गईं।

दोनों उद्देश्यों की सैद्धान्तिक व्याख्या व्यक्ति और समाज के संशोधित दर्शन पर आश्रित है। और वह है, व्यक्ति और समाज दोनों पवित्र तत्त्व हैं जो परस्पर प्रगति के लिए एक दूसरे के साथ समन्वयात्मक साझादारी में क्रियारत हैं। एक दूसरे के मूल्य पर उनमें से कोई किसी तरह की प्रगति नहीं कर सकता। समाज-मंगल का मूल दोनों की स्वस्थ अन्तर्क्रिया का अभ्यास ही है।

आत्मा या व्यक्तित्व का विकास समाज के बिना सम्भव नहीं है। मीड के शब्दों में, "हमारी धारणा यह है कि एक सामाजिक परिवेश के प्रतिबन्ध के अतिरिक्त मन न तो कभी अभिव्यक्ति कर सकता है और न वह कभी अस्तित्व में आ सकता था, क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों और अन्तर्क्रियाओं का एक संगठित ढाँचा या कुलक..... इसके माध्यम से अनिवार्यतापूर्वक कल्पित है और इसकी प्रकृति में अन्तर्निहित है। मन विकसित होता है एवं इसका अस्तित्व सामाजिक अनुभव एवं क्रिया से निर्मित होता है। यह इसी की भावी कल्पना है। किसी दूसरी विधि से न यह विकसित हो सकता था, न इसके अस्तित्व की सम्भावना ही

होती।” एक व्यक्ति के आत्म-बोध और प्रगति के लिए श्रेष्ठ समुदाय का विकास फलतः अनिवार्य है। जैसा कि हार्ट ने बाद में लिखा है, “जनतांत्रिक शिक्षा में बच्चों को प्रशिक्षित करने को समस्या नहीं है। यहाँ समुदाय निर्माण की समस्या है जिसमें बच्चे जनतंत्रवादी, बुद्धिमान, स्वतंत्रता के प्रति अनुशासित, जीवन की शुभ वस्तुओं के प्रति श्रद्धालु और युग के कार्यों में हिस्सा लेने के लिए उत्साहित होने के लिए बाध्य हों।”^१

शिक्षा की भाँति समाज की समस्या भी, व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय में महत्वपूर्ण स्थायी उन्नति की खोज करना है। राजनीतिक स्तर पर गणतांत्रिक ढाँचे के अन्तर्गत समाजवाद और जनकल्याण राज्य निर्माण की अवधारणाओं का शुभारम्भ कर चुकी है। प्राचीन ग्रीक नगर राज्यों एवं भारतीय गणतंत्र ने ग्राम पंचायत के नमूने पर इसी उद्देश्य का पालन किया है। शिक्षा की गणतांत्रिक अवधारणा, समुदायिक स्कूल^१ की विकासमान संस्था में अपने निश्चय के साथ सत्वरता से व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित को समुन्नत कर रही है। प्राचीन ग्रीस और विशेषतः भारत की शिक्षाओं का परस्पर साम्य है। अपने से पूर्व सेवा भारतीय शिक्षा की आत्मा रही है।

व्यक्तिगत और सामाजिक उद्देश्यों को नापने के निकष इस प्रकार होंगे :

- (१) व्यक्ति के व्यक्तित्व के अत्यधिक सम्भव विकास के लिए समाज अपने राज्य और सामाजिक, व्यापारिक और शैक्षिक अभिकरणों के माध्यम से कितना सहयोग दे सकता है।

व्यक्तित्व के विकास से अभिप्राय सुगठित इकाई से है। विशिष्ट रूप से इसका अर्थ होता है :

- (क) शारीरिक और मानसिक गुणों का यथा स्वास्थ्य, बुद्धि, कल्पना, शाब्दिक एवं श्रमिक कौशलों का विकास, और
- (ख) सामाजिक और नैतिक गुणों का, जैसे कृतज्ञता, सहयोग, सेवा का आदर्श, ईमानदारी के लिए आदर और अभ्यास, सत्य और अहिंसा का विकास।

१. George H. Mead : Mind, Self and Society, pp. 317-18, University of Chicago Press.

२. Joseph K. Hart: Democracy in Education, pp.370-71, Appleton Century, New York, 1918.

३. अध्याय ४ में विस्तृत व्याख्या की गयी है।

- (ग) आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास जो सामाजिक और नैतिक जीवन के विकास को ध्वनित करता है। आध्यात्मिक गुणों के विकास का लक्षण यह है कि व्यक्ति अपनी आत्मा पर अधिक नियन्त्रण रखता है, न केवल स्वयं और समाज से सामंजस्य रखता है बल्कि विश्व या ब्राह्मांडिक शक्तियों से भी उसी तरह परिचित होता है। आध्यात्मिक जीवन स्वयं सार्वभौमिक या ईश्वर से मिल जाता है और मैं एवं तू का भेद समाप्त हो जाता है। आध्यात्मिक गुणों का विकास मनुष्य की प्रौढ़ता की अन्तिम अवस्था है जो संवेगात्मक और आत्म-केन्द्रित जीवन की शैशवावस्था और बौद्धिक एवं समाज-केन्द्रित जीवन की किशोरावस्था का अनुगमन करती है।

यद्यपि सामाजिक, नैतिक और शैक्षिक उद्देश्य को आसानी से यन्त्रों द्वारा मापा नहीं जा सकता फिर भी मूर्त परिणाम एक विशिष्ट सीमा तक नापे जा सकते हैं। स्वास्थ्य, सामाजिकता, व्यवसायिक कौशल, रोजगार इत्यादि में वृद्धि या घटती को संख्या के आधार पर नापना कठिन नहीं होना चाहिए। विभिन्न परिश्रमों के माध्यम से समाज और स्कूलों में व्यक्तियों की प्रसन्नता को भी नापा जाना सम्भव होना चाहिए। मानसिक रोगों, अपराध और भ्रष्टाचार का अभाव और सहयोग एवं सामाजिक सामंजस्य की प्रचुरता व्यक्तियों की प्रसन्नता की एक निश्चित अवस्था के संकेत हैं। प्रगतिशील स्कूलों में स्तरों का लेखा एवं स्वास्थ्य, बुद्धि, व्यावसायिक कौशल, परस्पर सहयोगिता की प्रगति की मात्रा और ऐसे सामाजिक सद्गुण का आँकना नित्यप्रति के प्रयत्न हैं।

- (२) समाज की प्रसन्नता और स्वास्थ्य के लिए व्यक्ति कितना योगदान देता है इसका निश्चय इन आधारों पर किया जा सकता है।
- (क) समाज के निर्धारित नियम एवं नागरिक के रूप में दैनिक कर्तव्यों के पालन में किसी की कर्तव्य-परायणता से।

स्कूल में इस घटक का किसी व्यक्ति के पक्ष से प्रमाण के आधार पर मूल्यांकन किया जा सकता है कि उसने स्कूल के नियम-संयम का उल्लंघन किया है, जैसे बिना उचित न्याय या आज्ञा के स्कूल या कक्षा से अनुपस्थित होना, स्कूल की सम्पत्ति को नष्ट करना, गन्दगी फैलाना, बिना सुरताल के हुल्लड़ मचाना इत्यादि।

- (ख) व्यावसायिक क्षमता और मानवता के गुण और स्तर जिससे एक व्यक्ति समाज की सेवा करता है।

स्कूल में व्यावसायिक क्षमता की सम्भावनाओं और समाज सेवा के स्तर को तार्किक रूप से नापा जा सकता है और व्यक्तियों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है। जिन स्थानों पर विद्यार्थी सामुदायिक कारखाने और व्यापारिक व व्यावसायिक केन्द्रों में आंशिक समय काम करते हैं वहाँ इन बिन्दुओं का मूल्यांकन आसान हो जाता है।

- (ग) विभिन्न क्षेत्रों में एक व्यक्ति द्वारा प्रदत्त नेतृत्व का गुण और श्रेणी एवं समाज सेवा की मात्रा जिसे एक व्यक्ति स्वेच्छा से करता है किसी दबाव के कारण नहीं।

यदि समाज एवं स्कूलों में नियमित रूप से संगठित 'समाज सेवी संघ' हों तो व्यक्ति द्वारा की गई समाज सेवा के विवरण प्राप्त करना सम्भव होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि स्कूल व्यावसायिक अनुकरण का लेखा कायम करना चाहते हैं, जैसा कि कुछ अमेरिकी स्कूलों और विश्वविद्यालयों में किया जा रहा है तो सांख्यिकीय विधि से यह गणना करना सम्भव हो जाएगा कि विशिष्ट शैक्षिक संस्था में व्यक्तियों ने कहाँ तक समाज सेवा के बोध एवं आदत को बनाए रखा, छोड़ दिया या विकसित किया।

- (घ) धन, वैधानिक सम्पत्तियों एवं व्यक्तिगत सुविधाओं का बलिदान किसी सीमा तक जिसे व्यक्ति शुभ कार्यों में अर्पित कर सकता है। शुभ कार्यों के लिए जैसे रेड-क्रास और निर्धन सहायता कोष के लिए अपने जेब खर्च की बचत से बच्चों द्वारा दिए दान से इस प्रवृत्ति को स्कूलों में मापना आसान है।

व्यक्तिगत और सामाजिक उद्देश्यों की सैद्धान्तिक व्याख्या के प्रतिबन्धों के अन्तर्गत ही हमें निश्चित उद्देश्यों का विवेचन करना चाहिए जिस पर अत्यधिक बल देने की आवश्यकता है। हमें एक बार फिर स्मरण कर लेना चाहिए कि विविध उद्देश्यों का सम्यक समन्वय स्कूल की क्षमता की जाँच है।

शारीरिक स्वास्थ्य

आध्यात्मिक प्रश्न : मनुष्य क्या है ?—एक अत्यन्त उपयुक्त प्रश्न है जिसकी उपेक्षा किसी भी शैक्षिक चिन्तक को नहीं करनी चाहिए। विविध उत्तरों के बावजूद भी सभी इस बात पर सहमत हैं कि उसमें जैविक संगठन और सामाजिक

एवं बौद्धिक प्राणी का समन्वय है। सर्वप्रथम आती हैं उसकी जैविक आवश्यकताएँ—स्वस्थ शरीर स्वास्थ्य—प्रासंगिक रूप से यह दीर्घायुता को ध्वनित करती हैं। अस्तित्व के लिए जिससे सामर्थ्यपूर्वक संघर्ष किया जा सके या चाहे कह लें कि जीवन अच्छी प्रकार जीने योग्य हो सके। इसलिए शिक्षा में क्रियाओं की क्रमशृंखला में हर्बर्ट स्पेन्सर ने सुगठित स्वास्थ्य के लिए शारीरिक अभ्यास को प्रारम्भिक महत्त्व दिया है। ब्रह्मचर्य का प्राचीन भारतीय आदर्श अंशतः शारीरिक संस्कृति की व्यंजना करता है, इसलिए यह शिक्षा का प्रथम सवेद्य हो जाता है जिसका कार्य मानव अस्तित्व का विवेचन करना है। इसका अभिप्राय किसी तरह पशुशक्ति का संरक्षण नहीं होता, जिससे जीने के लिए पाशविक प्रतियोगिता के अर्थ में एक-दूसरे की हत्या करते हैं, बल्कि इसके विपरीत उपयुक्त स्वास्थ्य की उपलब्धि के माध्यम से दूसरों की सेवा करना होता है। व्यक्तिगत कार्य एवं दूसरों के हित जीवित रहने के लिए स्वास्थ्य मूलतः अनिवार्य साधन है। स्पष्ट रूप से स्वास्थ्य स्वयं में एक साध्य नहीं बल्कि अच्छे ढंग से रहने का साधन है। शुभतर रहन या नैतिक रहन से रिक्त यानी शारीरिक शक्ति के लिए शारीरिक शक्ति, कुछ जानवर आसानी से मानवों को पछाड़ सकते हैं, तिस पर भी वह ईर्ष्या का विषय नहीं है। कोई भी स्वस्थ मानव चिल्ला कर नहीं कह सकता, “कितना अच्छा होता कि मैं एक हाथी होता !”

व्यंग करनेवाला हस्तक्षेप कर सकता है : क्या जीवन व्यापार बिना स्वास्थ्य के सम्पादित नहीं किया जा सकता या मानव जाति के कुछ सर्वोत्तम रक्षक क्या शारीरिक रूप से विक्षिप्त और कमजोर नहीं थे ? सर्वप्रथम कौन जान सकता है कि वे रक्षक यदि शुभतर स्वास्थ्य से युक्त होते तो अधिक समय तक मानव जाति की सेवा के लिए जीवित रहते ? शारीरिक रूप से कमजोर व्यक्तियों में, जिनकी धमनियों में सामाजिक उद्देश्य दृढ़ता से प्रवाहित होता है, वहाँ पूर्णतः अधिक जीने का प्रयत्न होता है, ध्यान रहे ऐसा उतना अधिक भय के कारण नहीं बल्कि मानवता की सेवा करने के लिए संवेगात्मकता (passion) के कारण होता है। द्वितीय यह आलोचना वैज्ञानिक उपलब्धियों के सामने नहीं टिक सकती। सर्वसामान्य भाग के रूप में नयी और देदीप्यमान मनः-शारीरिक विज्ञान की शाखा ने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है कि मानसिक गुण और प्रवृत्तियाँ शारीरिक क्रियाओं एवं शारीरिक स्वास्थ्य अथवा प्रत्यक्रम रूप में अत्यधिक प्रभावित होते हैं। अस्तु, शारीरिक दुर्बलता मन की शक्तियों को निर्जीव करने और नैतिक पतन के लिए उत्तरदायी है। शब्दों के मनोवैज्ञानिक अर्थ में किसी तरह भी क्षतिपूर्तियाँ

या उन्नयन शारीरिक कल्याण के शुद्ध आनन्द का स्थान ग्रहण करने योग्य नहीं होंगे। रूसो ने अपने कतरनी जैसे सूत्र से मूल समस्या को उपलब्ध कर लिया है : “सारी क्रूरता कमजोरी से उत्पन्न होती है।”

यह सिद्ध है कि शारीरिक स्वस्थता शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य है। लेकिन इस उद्देश्य के अनुभव में एक सावधानी बरतने की जरूरत है और वह है मात्र शारीरिक अभ्यास की कठोरता जो स्वयं में एक उद्देश्य या स्कूल का दैनिक अभ्यास नहीं होता। शारीरिक स्वास्थ्य अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से शिक्षित और उन्नत किया जा सकता है बशर्ते कि आनन्दप्रद क्रिया जैसे सामाजिक खेल प्रस्तुत किए जाएँ जो कि व्यक्तित्व के अनेक अंगों की क्रीड़ा को आमंत्रित करते हैं जिनकी गणना शारीरिक गति प्रदान करनेवाले तत्त्वों में की जाती है। इसीलिए प्राचीन ग्रीस की शिक्षा-प्रणाली में खेलों और व्यायामों का महत्त्वपूर्ण स्थान था और स्वदेशी रूप से नृत्य खेल और अभ्यास के रूप में, हमारे सांस्कृतिक विकास में अग्रिम रहा है। यह निश्चित है कि कोई भी प्रक्रिया जो ऊब के लिए की गई है और जो अनुवर्ती रूप से आनन्दप्रद नहीं होती, वह मानव प्रणाली में तनाव जमा करती है जिससे जैवी संघटक को अत्यधिक हानि पहुँचती है। फलतः यह अनिवार्य हो जाता है कि इस सम्बन्ध में शैक्षिक योजना को स्वास्थ्य और आनन्द के दोहरे प्रयोजन को लक्ष्य में रख कर करना चाहिए जो वास्तव में एक ही वस्तु के दो प्रकारों का उल्लेख करते हैं। और यह बात समझने योग्य है जब इस तथ्य को ध्यान में रखते हैं कि शरीर और मन दो विभिन्न प्रणालियाँ नहीं हैं बल्कि परस्पर प्रभावित करने वाले तत्त्व हैं जिनका उल्लेख सुविधा तथा अवधारणात्मक स्पष्टता के लिए दो अलग-अलग नामों से किया गया है। इससे संकेत मिलता है कि गति जिसका आरम्भ में उल्लेख किया गया है, न केवल शारीरिक है, बल्कि साथ ही मानसिक संतुलन को भी समाहित करता है। प्लेटो ने बहुत पहले ही मानसिक संतुलन की सार्थकता समझ ली थी, और ठीक ही जोर दिया था कि बचपन की आरम्भिक अवस्था से बच्चों को अनुभूतियों के विषय में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए, जिससे वे स्वभावतः जीवन की ठीक चीजों से वे आनन्द प्राप्त करें और गलत चीजों से विरक्त हों। यह शिक्षा के संवेगात्मक संस्कृति के लिए उपयुक्त कारण प्रस्तुत करता है और शारीरिक कल्याण के विपरीत पहलू की परख की ओर ले जाता है यानी मानसिक प्रतिपक्ष, जो शरीर और व्यक्तित्व के स्वास्थ्य पर सम्पूर्ण रूप से एकात्मक प्रभाव डालता है।

मानसिक स्वास्थ्य

मानव जीवन के बुनियादी रूप में मानसिक स्वास्थ्य की अवधारणा उतनी ही प्राचीन है जितनी कि मानवता। संक्षेप में यह संवेगात्मक संस्कृति एवं प्रौढ़ता को ध्वनित करती है। एक व्यक्ति की मानसिक सुदृढ़ता, यथार्थ का स्वीकार करने, मानसिक रूप से सामना करने, जीवन के आधारभूत जीवन-मूल्यों एवं अपने केन्द्र, व्यक्तित्व तथा वर्तमान स्थिति को बिना गँवाए परिवर्तित परिस्थितियों के साथ समझौता करने में है। इसका अभिप्राय होता है कि व्यक्ति अपने 'अहं' का त्याग कर दे। अपने एवं दूसरे व्यक्तियों के साथ शान्तिपूर्ण ढंग से रहने के लिए अपनी स्वार्थपरता का निराकरण कर दे। इसका तात्पर्य यह है कि वह दूसरों को सहज ढंग से अपने में आत्मसात कर ले तथा उसे भी चैन से रहने दे जिससे वह जीवन के वांछनीय आनन्द को स्वयं अनुभव कर सके तथा दूसरों को भी आनन्दित कर सके। इसका अर्थ है भ्रातृ-भाव एवं सार्वमांगलिक भावना की क्षमता के लिए पूर्ण शक्ति संचय। मनोवैज्ञानिक सत्य को यह स्थापित करने की जरूरत नहीं कि व्यक्तिगत मानसिक स्वस्थता और सामाजिक सेवा साथ-साथ चलती हैं। मानसिक रूप से संतुलित व्यक्ति न केवल व्यक्ति-स्तर पर जीवन-प्रयोजनों को ही सुविधाजनक बनाते हैं बल्कि सामाजिक स्तर पर भी। दूसरी ओर हताशाएँ, ग्रन्थियाँ और मानसिक रूप से अस्वस्थ लोगों की बीमारियाँ व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों संघटकों को हानि पहुँचाती हैं। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं कि शैक्षिक संस्थाओं को असाधारणताओं के उपचार के लिए पागलखाने के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए। बात इससे बहुत भिन्न है। इस सम्बन्ध में उद्देश्य, गुणों के क्रम में, सर्वप्रथम जैविक संघटन के हितकर है, द्वितीय निरोधक और तृतीय उपचारात्मक है।^१

प्राचीन दार्शनिक कथन के अनुसार कि आत्मा, अनात्मा या सामाजिक वातावरण के साथ एक अन्तर्क्रिया के परिणामस्वरूप विकसित होता है और विशिष्ट चेतना प्राप्त करता है, जिसे आधुनिक मनोविज्ञान का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। यह शिक्षा का उत्तरदायित्व है कि बच्चों को ऐसे सामाजिक अनुभव प्रदान करने के आदर्श को अपना उद्देश्य बनाए जिससे उनके व्यक्तित्वों एवं प्रत्यक्रम से समाज की वृद्धि

१. और अधिक विवरण के लिए देखिए मेरा लेख 'Psycho-analysis in Education' Punjab Educational Journal का जून १९५२ का अंक; Government Training College, Jullundur.

एवं संतुलन विस्तृत हो। समाज के प्रति एवं व्यक्तिगत आत्माओं के प्रति शिष्यों के मन में ठीक प्रकार की प्रवृत्तियों का निर्माण करना भी शिक्षा का कार्य है, जिससे क्षमताहीन करने वाले विरोध न उत्पन्न होने पाएँ। उन्हें सामाजिक जीवन के यथार्थ के सम्यक परिपार्श्व में प्रस्तुत कर देना, उन्हें जीवन में निर्विघ्नता एवं योग्यतापूर्वक विकास की ओर अग्रसर करना है। हितकर एवं संतुलित व्यक्तित्व सामाजिक प्रयोजन से युक्त अधिक शारीरिक और मानसिक शक्तिवाले होते हैं और वे हमेशा उपयोगी रूप से और अच्छी प्रकार जीने के अवसर रखते हैं। वे अधिक सहनशील और व्यापक-मन होते हैं, जीवन की क्षुद्रताओं से मुक्त, शुभ कार्यों के लिए स्वयं और अपनी सम्पत्ति को उदारतापूर्वक प्रदान करते हैं। भय-मुक्त होते हैं और जीवन के शुद्धतम आनन्दों का भोग करते हैं और ठीक दृढ़ता के साथ जिस तरह उनमें दूसरों के साथ हिस्सा लेते हैं उसी प्रकार उनके दुःखों में भी वे हिस्सा लेते हैं। वे रुग्णतापूर्वक अति में नहीं जाते, या वांछनीय क्रिया या दैनिक कर्तव्य-पालन से बचने के लिए समस्याओं का सामना करने के लिए पलायनशील यंत्र रचना की खोज नहीं करते बल्कि वर्तमान की घड़कन पर सुदृढ़ पकड़ रखते हुए और भविष्य में बैँधी एक टकटकी के साथ वे अच्छी तरह जीने के लिए, शुभ करने के लिए और भली मृत्यु के लिए क्रिया के जीवन में डूब जाते हैं। इस प्रकार का जीवन, लेकिन शांत मन व्यक्तियों का निर्माण एवं युवकों के मन में शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के मूल्यों को बार-बार बैठाना शिक्षा का स्पृहणीय उद्देश्य होना चाहिए।

स्कूलों में अभिभावकों के साथ विशेषरूप से और समाज के साथ सामान्य रूप से इस उद्देश्य में हिस्सा लेना पड़ता है और जहाँ पहले पर्याप्त रूप से प्रबुद्ध नहीं होते हैं तो इसे उन्हें शिक्षित करना है और इस जीवन्त समस्या पर उनके साथ काम करना है यथा, दूसरे महत्वपूर्ण विषयों में समाज का ऊपरी ढाँचा मानवों का आधारीक व्यक्तिमूलक ढाँचा या एडलर के अनुसार—‘जीवन शैली’ की माँग करता है।

लेकिन मानव व्यक्तित्व कभी भी समापित नहीं है। इसकी क्रिया निरन्तर-शील है। न वातावरण और न अवधियाँ एक समान हैं। यह मानव परिस्थितियों सम्बन्धी तथ्य है, जिसे शिक्षकों तक फैलाने के लिए और उनकी सार्थकता का अनुभव कराने के लिए शिक्षा स्वयमेव मूल्यांकन करे। स्कूल का छात्र जो भूगोल के तथ्यों को उँगली पर गिन सकते हैं, लेकिन जिसे अपने शरीर के आरम्भिक कार्यों एवं उसके विकास के सामान्य नियमों के विषय में कुछ भी जानकारी नहीं उसे पूर्णतः शिक्षित नहीं कहा जा सकता। वह भी शिक्षित नहीं है जो, जिसने अपने को अतीव

की जड़ता में गाड़ रखा है, परिवर्तन और वृद्धि के प्रति संवेदनहीन हो गया है, और अपने पक्ष से प्रगति की ओर किसी नये आन्दोलन के प्रति कुण्ठा का शिकार हो गया है। वृद्धि के जैविक नियम के समानान्तर ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए कि वह समाज के वर्तमान प्रयोजनात्मक संगठन का उल्लेख करते हुए परिवर्तन, विकास और पतन के मानवीय और सामाजिक नियमों को आलोचनात्मक दृष्टि से शिष्यों को समझाने में सहायक हो। तो क्या यह सब एक ही बार शिष्यों के सम्पूर्ण जीवन के लिए शिक्षा का सम्भव उद्देश्य हो सकता है ?

सूक्ष्मतया शिक्षा का उद्देश्य छात्रों के आलोचनात्मक विभागों के विकास में चिन्तन और निर्णय के लिए उनकी क्षमताओं में, और उनके व्यवहार का सुधार करने में सहायक होना है, जिससे अभी और बाद में शिक्षा उन्हें जीवन की परिस्थितियों को ठीक-ठीक परखने और उनके योग्यतापूर्वक एवं सत्वरता से व्यवहार करने में असफल न कर दे। बच्चों की सामाजिक बुद्धि के विकास के लिए अर्थक्रियावादी शिक्षक का उद्देश्य इस सन्दर्भ में एक मौलिक संकेत देता है। इससे आगे शिक्षा अपने उद्देश्य में उस सीमा तक सफल होती है, जिस सीमा तक यह शिष्यों को ग्राह्य बनती है कि जीवन में सीखना पूर्णतः स्कूल शिक्षक की देन नहीं है, बल्कि अपने प्रयत्नों से प्राप्त की जाती है, इसमें कमोबेश समाज, स्कूल और शिक्षक का सहयोग हो सकता है, जो पहले के सामंजस्यपूर्ण विकास के लिए शुभ साधन-मूलकताओं के रूप में कार्य करते हैं। शिक्षा अपने उद्देश्य में, कुछ ही जोर देने पर, आत्म-शिक्षा का एक मसला हो जाती है। किसी भी शैक्षिक संस्था की प्रगति की यह कसौटी है कि इसने आत्म-शिक्षा के जीववृत्त के लिए कितने भूतपूर्व शिष्यों को तैयार किया है।^१

शिक्षा का उद्देश्य मुख्यतः प्रयत्न के माध्यम से स्कूल द्वारा प्रदत्त वातावरण में समुदाय के साथ गहरे सहयोग में सम्पूर्ण और हितकर जीवन के लिए सम्पूर्ण व्यक्तित्व की सम्पूर्ण शिक्षा में रूपान्तरित हो जाता है।

उपरोक्त कथन की पुनः और अधिक व्याख्या अपेक्षित है। शिक्षा का इतिहास मसले का पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करता है, जबकि किसी एक तत्त्व पर बल देने से शिक्षा एकांगी हो गई है। १६वीं शती का पांडित्यवाद एकांगी शिक्षा का एक उदाहरण है। शिक्षा का मुख्य भार तब बौद्धिकता का विकास मात्र था जिससे विद्वानों को उत्पन्न किया जाए, क्योंकि उस योजना में बुद्धि सर्वोच्च थी। शिक्षा का चरम

१. और अधिक विवरण के लिए देखिए मेरी पुस्तक Education—a few problems (Chapter I), University Publishers, Jullundur.

लक्ष्य विविध एकादमिक विषयों पर अधिकार-प्राप्ति था। वही उसका सब कुछ था। सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य, यदि उन्हें मान्यता देनी ही है तो उन्हें गौण समझ कर पीछे धकेल दिया जाता था। विद्यार्थी की बौद्धिकता का पोषण किया जाता था परन्तु उसका शेष व्यक्तित्व अविकसित रहने से क्षत-विक्षत हो जाता था। हमारे समय में शिक्षा में यांत्रिक एकांगिता ने एक चरम बिन्दु पर जाकर एक परिस्थिति पैदा कर दी है, जो फिर एकांगी शिक्षा की अपेक्षा शुभतर नहीं है। एक पारिभाषिक शब्द, 'यांत्रिकवाद', अमेरिका में समकालीन शैक्षिक दृश्य के उदाहरण के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अभी हाल ही में अग्रणी विश्व-विद्यालयों में पाठ्य-क्रम प्रस्तुत करते हुए विज्ञान और यांत्रिकी में शुद्ध यांत्रिकीय शिक्षा के खतरों के प्रति सचेत होकर पाठ्यक्रम में मानविकी एवं सामाजिक अध्ययनों का समन्वय करना प्रारम्भ कर दिया है। यह एकांगी शिक्षा ही है जो अक्सर शिक्षा के प्रति अविश्वास बढ़ाती है। आलोचकगण बहुमूल्य न्याय के साथ कहते हैं कि एकांगी शिक्षा प्राप्त करने से कहीं बेहतर है कि शिक्षा बिल्कुल प्राप्त ही न की जाए।

शिक्षा तब सम्पूर्ण होती है जब यह सम्पूर्ण जीवन काल और समाज के संदर्भ में पूर्ण व्यक्ति की भावनाओं, समस्याओं और अवसरों की सफलतापूर्वक देखभाल कर सके। प्रथमतः सम्पूर्ण व्यक्तित्व है क्या? विभागीय मनोविज्ञान, लोक-प्रसिद्ध निर्णय एवं शैक्षिक भ्रम के प्रभाव से अलग यह देखना कठिन न होगा कि कोई भी व्यक्ति विशेष न केवल शरीर है न ही विशुद्ध मन, न सिर्फ बुद्धि और न विशुद्ध भाव (इत्यादि), परन्तु एक जैविक सम्पूर्णता (organic whole) के रूप में इन सभी तत्वों का एकीकरण है। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति एक असाधारण व्यक्तित्व है। उसमें क्षमताएँ व्याप्त हैं जिन्हें पूर्ण रूप से विकसित करना शिक्षा का उद्देश्य है। परन्तु यह शिक्षा का केवल एक ही पक्ष है। शिक्षा का दूसरा पक्ष ऐसे प्रभावों को अंकित करना है जो व्यक्ति-विशेष के व्यक्तित्व और समाज के उद्देश्यों के साथ सामंजस्य स्थापित कर सके। बल्कि विकास एवं उसकी स्वतन्त्रता को संतुलन में रखने की अपेक्षा बनी हुई है। शिक्षा का आदर्श है कि वह प्रत्येक व्यक्ति की देख-भाल ध्यानपूर्वक और कुशलतापूर्वक करने में सक्षम हो जिससे सर्वोच्च विकास की उपलब्धि हो सके। यही कारण है कि छोटी-छोटी कक्षाओं और अभिभावकीय प्रणाली को मान्यता प्रदान की गई है जिससे एक शिक्षक अपने शिष्यों से केवल परिचित न रहकर उनको अत्यन्त निकट से पहचान सके। इस प्रकार विद्यार्थियों की भीड़ को शिक्षा देने की पद्धति से, बिना व्यक्तिगत सम्पर्क और एकविधि पद्धतियों

के माध्यम से व्यक्तिगत शिक्षा उन्नत होनी चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा व्यक्तित्व को अत्यधिक संगठित एवं विकसित करती है।

सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शिक्षा का महत्व समय-समय पर अनुभव किया जाता रहा है। परम्परागत भारतीय शिक्षा में शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्य-मूलक क्षमताओं के प्रशिक्षण पर जोर दिया गया है। पेस्टालॉजी ने मस्तिष्क, हृदय और हाथ की शिक्षा पर बल दिया है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के समन्वयात्मक विकास के उद्देश्य को प्रतिध्वनित किया है। दिनों दिन आज इसे अनुभव किया जा रहा है कि यदि मनुष्य की सम्भावनाओं का पूर्णतः उपयोग करने के बदले उन्हें सुषुप्त ही रहने दिया जाए तो इससे शिक्षा में भारी अपव्यय ही होगा। आज की शिक्षा की प्रवृत्तियाँ व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास के स्रोतों को पूर्णतः खोज लेने के सभी प्रयत्नों का संकेत देती हैं।

सम्पूर्ण जीवन के लिए शिक्षा से क्या तात्पर्य है? निश्चित ही किसी विशिष्ट अवधि में प्रदत्त कोई भी शिक्षा सम्पूर्ण जीवन काल के लिए कभी भी पर्याप्त नहीं होगी। प्रत्येक कदम पर नई शिक्षा मूल्यवान होती है। यह विश्वास करना एक बड़ी शैक्षिक गलती है कि स्कूल या कालेज में प्राप्त प्रशिक्षण ही सम्पूर्ण जीवन के लिए आवश्यक है। व्यक्ति और समाज दोनों गत्यात्मक होने से नयी प्रवृत्तियों एवं समस्याओं को जन्म देते हैं जिन्हें सुलझाना अत्यधिक अनिवार्य है। स्कूल और कालेज में शिक्षा का निर्माण ऐसी नींवों पर होना चाहिए कि किसी भी भूमिका के उपस्थित होने पर छात्र लोग उसमें भाग ले सकें। व्यक्तित्व का स्वस्थ आधारिक ढाँचा पाकर इस बात में अधिक विश्वास गलत नहीं कि इस ढंग से शिक्षित एक व्यक्ति रचनात्मक रूप से जीवन के समस्त ऊँच-नीच को जी लेगा। ऐसी शिक्षा के विस्तृत लक्षण हैं: प्रथम, जनतांत्रिक रहन-सहन या सहकारी सहयोग में प्रशिक्षण; द्वितीय, छात्रों को नये शिक्षण सिद्धान्तों के प्रति प्रेरित करना और आलोचनात्मक चिन्तन की आदत और सम्यक् प्रवृत्तियों का विकास करना; तृतीय, न्याय और मितव्ययिता के साथ योग्यतापूर्ण लिये गये निर्णयों के सत्वर कार्य-संपादन की आदत को विकसित करना। दूसरे शब्दों में शिक्षा का कार्य है, कि वह मानसिक विकास जिससे यह सारी संकीर्णता को देखकर इसकी आलोचना करे और इसकी उपेक्षा कर सके।

सम्पूर्ण जीवन में केवल व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की सम्यक् सहा-नुभूति और हितकर स्वार्थ ही समाहित नहीं है बल्कि इससे अधिक और बहुत कुछ भी है। शिक्षा यदि शिक्षार्थी और प्राकृतिक विश्वजनीन जीवन के बीच

दीवार खड़ी कर देती है, तो न केवल वह एकांगी और अवरोधक ही है बल्कि अत्यधिक ध्वंसात्मक भी हो जाती है। मनुष्य किसी भी संकल्पनीय परिस्थिति में सम्पूर्ण ब्राह्माण्डिक जीवन का एक अंश है। यह उसकी मूल्यता है जो उसे अहं के संकीर्ण घेरे में खींच ले जाती है या अधिक सुचारु ढंग से कहें तो समाज की चहारदिवारी में, समाज और व्यक्ति के परे ऐसी भी शक्तियाँ हैं जिनकी गणना अनिवार्य है। प्रकृति और ब्राह्माण्डिक जीवन के साथ मेलजोल से जीवन में ताजगी आती है, व्यक्तित्व जीवन्त और विकसित हो जाता है, रोग-भय नष्ट हो जाता है, मन स्वतन्त्र और प्रबुद्ध हो जाता है। वर्डस्वर्थ ने इस समस्या के मूल बिन्दु को ही इन पंक्तियों में पकड़ लिया है, जब वे लिखते हैं :—

बस केवल एक आवेग !

वासन्ती कानन में

सिखला सकता है—

मानव सम्बन्धों के बारे में,

या नैतिक मूल्यों व अवमूल्यों की बात

कहीं अधिक दृढ़ता से !

समस्त ऋषियों-मुनियों की वाणी जहाँ हो जाती है कुण्ठित !

कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्तिनिकेतन में प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तरंगता के अपने आदर्श को मूर्त रूप दिया था। उनके अनुसार शिशु अपने व्यक्तित्व का सर्वोत्तम विकास तब कर पाता है जब वह प्रकृति की लय, रूप और रंग के प्रति ग्रहणशील होता है। वास्तव में वह अपने अस्तित्व और स्वतन्त्रता तभी प्राप्त करता है जब वह उसके साथ गहरा सम्बन्ध रखता है।

सम्पूर्ण शिक्षा विविध उद्देश्यों को एक सामरस्य एकता में समन्वित कर देती है। शिक्षा के प्रमुख अवयवों का विवेचन निम्नांकित ढंग से किया जा सकता है।

(१) व्यावसायिक शिक्षा। यदि लोग अपने व्यवसाय में सक्षम नहीं होंगे या वे अपने कार्य में दिलचस्पी नहीं लेंगे तो आनन्द और उपयोगितापूर्वक जीवन यापन नहीं किया जा सकता। समाज उद्योगशालाओं से जितना सुसज्जित होगा, विविध व्यवसायों में प्रशिक्षण की उतनी ही जरूरत पड़ेगी। वास्तव में व्यावसायिक शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थियों को जीविका कमाने के लिए सज्जित नहीं करना है, बल्कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्हें एक जीवन-शैली प्रदान करनी है। इससे पता चलता है कि भारत में व्यवसाय को हमेशा धर्म क्यों कहा गया है। यह कर्तव्य व्यक्ति विशेष के प्रति न होकर समाज के प्रति भी है। अतः धन कमाना

बिल्कुल व्यक्तिगत समस्या नहीं है बल्कि व्यापक सन्दर्भ में मूलतः एक सामाजिक समस्या है। इसीलिए तो प्रत्येक व्यवसाय का एक नीतिशास्त्र होता है। भौतिक वस्तुओं के उत्पादन और प्रसन्न जीवन के लिए उपभोग की क्षमता मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि कहाँ तक और कितनी अच्छी तरह लोग अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों के साथ सन्तुलन रखते हुए जीवन की विविध यात्राओं में प्रशिक्षित किये गये हैं।

हमारे देश में बुनियादी शिक्षा की योजना शुरू से ही व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए परिकल्पित की गई है। संक्षेप में इसके उद्देश्य आर्थिक रूप से शिष्यों को समर्थ और शैक्षिक संस्थाओं को स्वयं-सामर्थ्य प्रदान करना है और सामाजिक रूप में शिक्षा को एक व्यावहारिक पक्ष प्रदान करना है। योजना अभी अपनी शैशवावस्था में है और अनेकानेक प्रयोगों और अनुभवों के बाद इससे अधिक लाभान्वित होने की सम्भावना है। बहुधंधी विद्यालय (multipurpose school) आदर्श ग्रामीण संस्थाओं की तरह बुनियादी शिक्षा-योजना के सिद्धान्त का विस्तार ही है। शिक्षा की बुनियादी योजना में इस बात की सराहना की गई है कि पहले की अपेक्षा आज आर्थिक स्वतन्त्रता राजनीतिक और नैतिक स्वतन्त्रता के अत्यधिक निकट है क्योंकि भौतिक आराम के साधन यांत्रिकीय सम्यता के साथ सीमा-रहित विकसित हो गए हैं और स्थायी हो चले हैं।

व्यावसायिक शिक्षा वस्तुतः व्यावसायिक निर्देशन को ध्वनित करती है; जिसका अर्थ होता है व्यक्तियों की क्षमताओं और प्रवृत्तियों के अनुसार उन्हें बनाना और उस आधार पर उनके लिए विविध व्यवसायों की सिफारिश करना। योग्यता-पूर्वक क्रियान्वित व्यावसायिक निर्देशन मानवीय शक्ति में अधिकाधिक होने वाले अपव्यय को बचाता है। यह कार्य को विकृत होने की सम्भावना से बचाता है। साथ ही यह लोगों को घोबी का कुत्ता न घर का न घाट का बनने से रोकता है। आरम्भ किए गये प्रत्येक अध्ययन से यह विदित होता है व्यावसायिक निर्देशन का सम्यक् लाभ प्रदान करने पर व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों ने अधिकतर अच्छे परिणाम और उच्च मनोवृत्तियों को प्रदर्शित किया है तथा वे अपनी नौकरियों पर बने रहे हैं। कुछ उन्नत शैक्षिक संस्थाओं ने अपने साथ व्यावसायिक निर्देशन केन्द्रों को सम्बद्ध कर रखा है। भारत सरकार ने प्रत्येक राज्य में व्यावसायिक-निर्देशन-केन्द्रों को संस्था का रूप देने की योजना बना ली है।

(२) विशुद्ध व्यावसायिक शिक्षा अन्ततोगत्वा एकांगी शिक्षा है। पूर्ण होने के लिए इसे उदार या सामान्य शिक्षा के साथ अन्तर्ग्रथित होना चाहिए, क्योंकि उद्देश्य विशुद्ध रूप से कुशल तकनीकी कारीगरों को प्रशिक्षित करना नहीं है—जो मानव

को बिनाश के हवाले कर सकते हैं। अपितु व्यावसायिक योग्यता के अतिरिक्त मानवता की अच्छी विधियों में समझ और प्रशिक्षण रखने वाले तकनीकी कारीगरों को तैयार करना है जो आसानी से मानवता की रूपरेखा एवं इतिहास के परिपार्श्व में यांत्रिकीय सम्यता के अर्थ को समझते हैं। शिष्यों को इस बात की शिक्षा दी जानी न्यायपूर्ण ही है। आर्थिक शोषण और संगठन जीवन के उच्चतर उद्देश्यों के लिए साधन मात्र हैं, जिससे आर्थिक मूल्यों की उपलब्धि में लगे हुए वे बुद्धिमत्तापूर्वक उन्हें व्यापक मानवीय और सामाजिक मूल्यों के साथ एकीकरण कर सकें और आर्थिक समानता एवं सामाजिक बन्धुत्व के आधार पर जीना सीखें।

व्युत्पत्तिगत शाब्दिक अर्थ किया जाय तो उदार शिक्षा वह है जो मन को विस्तृत और स्वतन्त्र करती है। एकादमिक स्तर पर, यह दर्शन, धर्म, साहित्य, इतिहास और इसी तरह के समान विषयों का अध्ययन और व्यावहारिक स्तर पर उच्च सामाजिक और नैतिक चरित्र के विकास को समाहित करती है। शुद्ध यांत्रिकीवाद की त्रुटियों को समझकर, प्रगतिशील संस्थाओं और विश्वविद्यालयों ने मानविकी के अध्ययन के पाठ्यक्रम को प्रस्तुत किया है। फलतः इस भ्रम का अब अधिक पोषण नहीं होना चाहिए कि व्यावसायिक और उदार शिक्षा परस्पर विरोधी हैं। वास्तव में वे एक दूसरे की पूरक हैं और एक के बिना दूसरी अपूर्ण है।

व्यावहारिक चरित्र का ध्यान न करने वाली व्यावसायिक और उदार शिक्षा का दायित्व है कि वह शिक्षार्थियों में अनिवार्य जिम्मेदारी और आत्मानुशासन की शिक्षा प्रदान करें। चरित्र-निर्माण और व्यक्तियों की क्षमताओं के प्रति सजगता दोनों शिक्षा के वांछनीय उद्देश्य हैं; जिससे व्यक्ति सुविधानुसार परिवार, पड़ोस और व्यापक रूप से समाज के योग्य सदस्यों के रूप में जीवनयापन करने और जीने में सक्षम हो सकें। सामाजिक ढाँचे के अन्तर्गत ऐसी शिक्षा एक व्यक्ति के अपने हितों और अभिप्रायों के अनुसार उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने की स्वतन्त्रता के प्रति सहानुभूतिमूलक व्यवहार करती है। यह आत्मनिरीक्षण के लिए निर्माण करती है जो निश्चित ही सामाजिक कल्याण के विपरीत नहीं है, क्योंकि जैसा पहले ही विवेचन किया जा चुका है, कोई भी व्यक्ति समाज के निकट रह कर अपने व्यक्तित्व को उचित ढंग से उन्नत कर सकता है। और यहीं पर स्वयं व्यक्ति अनुभव करता है कि वास्तविक स्वतन्त्रता क्या है। शिक्षा जीवन के अत्यधिक मौलिक मूल्य के रूप में स्वतन्त्रता का पुरस्कार देती है। जिस सीमा तक कोई अपने ऊपर अधिकार रखता है तथा जीवन के उच्चतर उद्देश्यों के लिए कोई सामाजिक परिस्थितियों और वातावरणों पर अधिकार करना सीखता है, बस उसी सीमा तक वह

स्वतन्त्र है। फलतः शिक्षा-शास्त्र स्वतंत्रता को मात्र समस्या के रूप में प्रस्तुत न करे, जैसे नागरिक-शास्त्र या राजनीति-शास्त्र करते हैं, बल्कि सबसे पहले वह स्वतंत्र नागरिकों का निर्माण करे।

(३) आत्मनिरीक्षण के उच्च स्तर पर कोई भी व्यक्ति अपने में व्यापक और गहरी सहानुभूतियों, अधिक साहस और धैर्य विकसित कर लेता है। भय, ईर्ष्या, घृणा और अनेकों ध्वंसात्मक भावों से मुक्त होकर व्यक्ति मन की सुन्दरतर अवस्था को प्राप्त कर लेता है। प्रेम और अहिंसा व्यक्ति के व्यक्तित्व पर शासन करने लगते हैं। वस्तुतः इस प्रकार की प्राप्ति एक धार्मिक अनुभव है। निश्चयपूर्वक शिक्षा की किसी भी उपलब्धि के लिए जरूरी है कि वह धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था को ध्यान में रखें; जिसका अर्थ होता है, मनुष्य को हमेशा अधिक मानवतावादी बनाना। यह एक ऐसा उद्देश्य है जिसका अन्त नहीं है और वह शिक्षा के लिए एक सनातन उद्देश्य प्रदान करता है।

क्या धर्म-निरपेक्ष शिक्षा की अवधारणा धार्मिक शिक्षा के विपरीत पड़ती है? निश्चय ही यह पड़ती है जब स्कूल एक विशेष धर्म का चुनाव कर लेता है और इसके कर्मकाण्डों और रूढ़ियों को स्वीकार कराने के लिए दृढ़ाग्रह करता है तथा विविध धर्मों के अनुगामियों में बुरी प्रवृत्तियों को उत्पन्न करता है। लेकिन निश्चय ही तब विरोध नहीं होता जब शिक्षक शिष्य को सभी धर्मों के सामान्य सार तत्त्व की शिक्षा देता है और एक धार्मिक जीवन-पद्धति को विकसित करने में सहायक होता है। यही धर्म की मनोवृत्ति है क्योंकि उसका सम्बन्ध किसी भी विशेष धार्मिक संस्था से नहीं।

(४) कोई भी शिक्षा पूर्ण नहीं है जब तक उसमें सौंदर्यमूलक प्रशिक्षण को समाहित नहीं किया जाता। सौंदर्य प्रमुख मूल्यों में से एक है। फलतः शिक्षा सौंदर्य और कुरूपता में अन्तर करने के लिए शिक्षार्थियों को अवश्य ही सक्षम बनाए; जिससे प्रकृति के सुन्दर रूप और रंग की वे प्रशंसा कर सकें और साथ ही अपनी रचनाओं में उनका अनुकरण कर सकें। अपनी स्वच्छता से आरम्भ करके और वातावरण को स्वच्छ और निर्मल रखते हुए शिक्षार्थी लोग चित्रकला, छायाचित्रकारी, संगीत और काव्य में सुन्दर रूपों, रंगों और ध्वनियों की रचना की ओर क्रमशः निर्देशित किए जा सकते हैं। सौन्दर्यमूलक शिक्षा की विशेषता है कि यह साधारणतः वस्तुओं को भी अपने ग्राहकों से कलात्मक रूप में रूपान्तरित करवाती है। उस वक्त रचनात्मकता और आनन्द तीव्र होता है, जब सौन्दर्य के प्रति सम्पूर्ण मन से कार्य किया गया हो; लेकिन जब वे फूहड़ता से किए गये कार्य हों तब विषाद और निराशा

होती है। मानव क्रिया और अभिव्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र में वस्तुओं का सौन्दर्यीकरण करने के लिए अपरिमित स्थान है। फूल उगाकर और गृह-सामग्री को कलात्मक विधि से सजाकर कम मूल्य पर ही घरों को सौन्दर्यमय बनाया जा सकता है। नम्रता और प्रेम के माध्यम से मानवीय सम्बन्धों का सौन्दर्यीकरण किया जा सकता है। व्यक्तिगत चेतना, शुभतर आदर्शों के जीने एवं जीवन के उच्चतर सिद्धान्तों की आवश्यकता के प्रति क्रियान्वित होने से सौन्दर्यमयी हो सकती है। सम्यक रूप से समझे गये सौन्दर्य और शिव अन्तर्ग्रथित हैं। महान् जर्मन दार्शनिक कवि गेटे ने इस सत्य को देखा था, जब उन्होंने कहा था, "सौन्दर्य की परवाह कीजिए, शिव स्वयं की परवाह कर लेगा।"

(५) विविध विषयों के पाठ्यक्रम और स्कूल प्रदत्त वास्तविक जीवनानुभवों के माध्यम से शिक्षण अवश्य ही शिष्यों के दृष्टिकोणों और सहानुभूतियों को विस्तृत करे, जिससे वे अपने समुदाय और राष्ट्र की चहारदिवारी में ही सीमित न रह जायें, बल्कि उनसे परे देखें और किसी भेदभाव एवं अवरोध के बगैर सम्पूर्ण विश्व को एक बड़े परिवार के रूप में स्वीकार करें और उनके विचार और क्रियाएँ इसी दृष्टिकोण से निर्देशित होने चाहिए। इससे विचार और कर्म में शुद्ध अहिंसा की मनोवृत्ति से पूर्ण और अधिक विकासशील नवयुवकों के मन पर विश्व के मामले में सहयोग के सद्गुण और प्राथमिक अनिवार्यता की शिक्षा की मुहर लगानी चाहिए। मानव व्यक्तित्व के इस कान्टीय सिद्धान्त को न केवल अपने व्यक्तित्व में बल्कि व्यावहारिक रूप से दूसरों में मूर्त करना चाहिए। यह शिष्यों की 'स्टाईक' आदर्श की शिक्षा अवश्य दे कि 'मैं विश्व नागरिक हूँ' और उनके मन में मानवता के कल्याण के लिए भावना जागृत करे। यह उन्हें जगत के मामले में रुचि लेने को बाध्य करे और जगत का वर्तमान रूप अत्यधिक सुचारु ढंग से निर्मित करे तथा उन्हें व्यक्तिगत या राष्ट्रीय अहं के घेरे में सीमित न रहने दे जिससे समाज में युद्ध और संघर्ष को निरन्तर बनाए रखने के लिए वे नारे और रूपरेखाएँ लेकर बाहर आएँ। एक कदम और आगे इसे चाहिए कि पदार्थवाद और सेवा की मनोवृत्ति से विश्व-व्यापार में भाग लेने के लिए अधिक से अधिक संख्या में युवकों को शिक्षित करे, जिससे शिक्षा के ऐसे वाहक विश्व के सामाजिक और राजनीतिक कार्यों का दायित्व ग्रहण कर सकें और वे कुछ लोगों के हाथ में रहकर कहीं उथल-पुथल कर सके।

(६) ज्ञान के संगठन में शिक्षा को न केवल व्यावसायिक योग्यता को ही लक्ष्य बनाना चाहिए, बल्कि साथ ही प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रति अधिकतम समादृत भी होना

चाहिए। हर तरह से स्कूल का उद्देश्य ज्ञान का प्रसार होना चाहिए और उसे लड़के एवं लड़कियों की पीढ़ी तक समाज की सम्पन्न परम्परा को बढ़ाने में प्रवृत्त होना चाहिए; लेकिन इसे स्मृति में औपचारिक या ड्रिल की तरह नहीं किया जाना चाहिए। विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है कि वे शिक्षण के वास्तविक क्रम को भली-भाँति अनुभव करें और ज्ञान धन को अर्जित करें। उन्हें समाज-कल्याण और आत्म-निरीक्षण के लिए विज्ञान या कलाओं के इस ज्ञान को क्रमिक रूप से उपयोग करके सीखने दीजिए। उन्हें हमेशा अधिकाधिक ज्ञान में खोज करने दीजिए, नये तथ्यों और मूल्यों को खोजने दीजिए। लेकिन उन्हें अपने व्यावसायिक विषयों की संकीर्णताओं की वीथिकाओं में न भटकने दें बल्कि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं और क्रियाओं के क्षेत्रों में प्राप्त मूल्यों और तथ्यों को एकात्म सम्पूर्ण में समन्वित करना सीखने दें, क्योंकि दार्शनिक स्तर पर ज्ञान एक अविभाज्य इकाई है, केवल एकात्मिक स्तर पर ही स्वयं को विविध विषयों में बाँटना है। किसी भी पक्ष से, शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य शिष्य को संकीर्ण विभागवाद से बाहर ज्ञान में सारग्राही विधि से शिक्षा देना है। सारे एकात्मिक विषय अवश्य ही इसी दृष्टिकोण के अनुरूप ही ढलें, और मानव-जीवन एवं विश्व की सभी समस्याओं के प्रति मन की दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रवृत्तियों को विकसित करने की दृष्टि से पढ़ाए जाएँ।

समस्या पर विचार-विमर्श करते समय एक स्थायी प्रश्न यह उठता है, जिसके साथ जैसा कि स्पष्ट हो जाएगा, शैक्षिक उद्देश्य की समस्या प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई है। क्या शिक्षा को अपने उद्देश्य निर्धारित करने में या उन्हें अनुभव करने में निरपेक्ष रूप से स्वतन्त्र होना चाहिए।

अरस्तू की विचारधारा थी कि शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करना राजनीतिज्ञों का कर्तव्य था और शिक्षकों का काम उन्हें क्रियान्वित करने के लिए दिशा खोजना मात्र था। इस सीमा तक इस प्रकार का दावा आज अधिक उपयुक्त नहीं रह गया है, क्योंकि हम जानते हैं कि इससे कितनी हानि हो सकती है। साम्राज्यवादी राज्यों में शैक्षिक संस्थाओं के सैद्धान्तीकरण और नियन्त्रण ने शिक्षा और स्वस्थ जीवन की मौलिकताओं को निर्मूल सिद्ध कर दिया है, वे जो कुछ भी उपलब्ध कर सके हों। जब मानव-चेतना विनष्ट हो जाती है जैसा कि इसे समुदायवादी वातावरण में होना ही चाहिए, तो शिक्षा और जीवन फल-फूल नहीं सकते। अनियन्त्रित एकात्मिक स्वतन्त्रता से एक कठिन मामला उस समय प्रस्तुत होता है क्योंकि वह अपने सामने किसी भी शिक्षक पर गहरा प्रभाव डालती है, लेकिन जो विशेष क्षणों में समस्या के विषय में आलोचनात्मक विधि से सोचने के लिए मजबूर करती है।

किसी प्रौढ़ और सफलतापूर्वक चरितार्थ प्रजातन्त्र में एकादमिक स्वतन्त्रता, जिसकी अपनी आन्तरिक योग्यता होती है, समान रूप से प्रौढ़ निर्णय, सावधानी और कौशल के साथ अपनी जीवन की प्रजातांत्रिक शैलियों में अच्छी प्रकार विकसित शिक्षकों द्वारा उपयोग में लाई जा सकती है एवं अपनी स्वतन्त्रता और सीमाओं को समान रूप से अनुभव करते हुए इस स्वतन्त्रता का उपयोग करने के लिए बहुत ही कम सम्भावना है, क्योंकि प्रजातांत्रिक परम्परा और व्यावसायिक नैतिकताएँ एक साथ किसी भी दुरुपयोग के विरुद्ध प्रभावपूर्ण कवच सिद्ध होती हैं। दूसरी ओर राजनीतिज्ञों एवं राज्य-नियन्त्रण के अधिकारियों की समस्या को गहराई से समझना चाहिए और जब शिक्षक सही अर्थों में प्रयोग करें, तो उन्हें बुरा-भला कहना उपयुक्त नहीं क्योंकि वे इसमें और सैद्धान्तीकरण में सम्यक् अन्तर करने की क्षमता रखते हैं। उन्हें ज्ञात है कि यह सैद्धान्तीकरण ही है, जब एक शिक्षक समय-असमय बिना किसी कारण किसी एक विशेष वाद का अनुगमन करने के लिए छात्रों को बाध्य कर देता है क्योंकि इसे होना ही चाहिए, वस्तुतः यह सनक है, शिक्षा नहीं है। वे यह भी जानते हैं कि यह सैद्धान्तीकरण नहीं है, जब शिक्षक समस्या के सभी पक्षों को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करता है, उन्हें गणनात्मक और वस्तुपरक रूप से तोलता है और इसे विद्यार्थियों के लिए परिणाम निकालने, विचारों को तोलने के लिए छोड़ देता है, और उन्हें बाध्य करता है कि परिणामों को अन्तिम रूप से तब तक ग्रहण न करें जब तक वे प्रभावकृत न हो जाएँ और प्रौढ़ निर्णय के आधार पर न ग्रहण कर लिये जाएँ। इस तरह राजनीतिज्ञ शिक्षकों की स्वतन्त्रता के विषय में नियन्त्रण का रुख अपनाते हैं और बेखटके सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए सलाह और निर्देशन के लिए उनकी ओर मुड़ जाते हैं। यह सुखद स्थिति है, जो प्रत्येक जगह पर व्याप्त नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए किसी नवजात प्रजातन्त्र में जो गुलामी और सामन्तशाही से मुक्त हुआ हो, जब मानवीय भावना तितर-बितर हो और अनुशासनाधीन न हो, तो शिक्षकों और छात्रों के स्तर पर एकादमिक स्वतन्त्रता में क्रमिक रूपरेखाओं या गलतियों इत्यादि के माध्यम से दुरुपयोग किए जाने की अधिक संभावनाएँ होती हैं। शिक्षा के अन्य मसलों में यह एक ठीक मसला है, जहाँ हमें डिवी के दर्शन से आशय लेना चाहिए और उस पर ध्यान देना चाहिए कि शिक्षा का उद्देश्य मूर्त परिस्थितियों से उत्पन्न होना चाहिए और समाज की परिस्थितियों से उसका सामंजस्य होना चाहिए। ऐसे मसलों में विशेषतः उद्देश्य अग्रिम रूप से या सार्वभौमिक प्रतिबन्धों के अनुरूप प्रस्तुत नहीं किए जा सकते हैं, बल्कि समाज विभिन्न शक्तियों के बीच समायोजन की प्रक्रिया के स्वरूप ही उत्पन्न होने चाहिए।

यद्यपि शिक्षा का प्रजातांत्रिक उद्देश्य आदर्श रूप से एकादमिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है, फिर भी यह किसी विशेष समाज की परिस्थितियों का अनादर करके एक निरपेक्ष उद्देश्य नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए एक रसायन जो एक रोग को अच्छा करने की क्षमता रखता है किसी रोगी की परिस्थितियों की उपेक्षा करके प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। मात्रा को निर्धारित करने में रंचमात्र की उपेक्षा भी उसकी मृत्यु की जिम्मेदार हो सकती है। यह उपमा यद्यपि स्थूल है, फिर भी समस्या के सन्दर्भ में नीतियुक्त है। शिक्षा के उद्देश्य को व्यावहारिक जीवन तक सीमित कर दिया जाय। साथ ही उन्हें परम मूल्यों तक उन्नत रखा जाए। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शिक्षा का उद्देश्य हमेशा जीवन के चरम मूल्यों को पाना एवं शैक्षिक प्रक्रिया को इसके चारों ओर ढालने का प्रयत्न होना चाहिए। लेकिन व्यावहारिक जीवन में सन्तुलन आवश्यक है और समस्या की ओर पुनः मुड़ते हुए एकादमिक स्वतन्त्रता ऐसे मामलों में से एक है जहाँ आज मानवीय दृष्टि के व्यापक क्षेत्र में सन्तुलन आवश्यक है। आखिर एकादमिक स्वतन्त्रता की समस्या के विषय में इतना शोर क्यों है ?

इसका कारण खोजने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। युवक का सुघटय मन अत्यधिक नम्य है और फलतः किसी भी उद्देश्य के प्रति उसे प्रतिबद्ध किया जा सकता है। शिक्षक के मन में उस समय किसी विशेष सिद्धान्त से शिष्य के मन को उत्साहित करने का भारी प्रलोभन होता है जो संभवतः पूर्वावस्था के विपरीत तेजी से आगे बढ़े तथा ऐसे परिवर्तनों में प्रविष्ट कर जाएँ जो नियन्त्रण से परे हों और खतरे की ओर उन्मुख करें। शिक्षा का उद्देश्य निश्चय ही पूर्वावस्था को कायम रखना नहीं है। वस्तुतः शिक्षा विकास के प्रतिबद्ध के लिए है, प्रगति उन्मुख परिवर्तन को बाधित करने के लिए नहीं। लेकिन परिवर्तन हिंसक क्रान्ति की अपेक्षा साधन्य सहमति और विकास क्रम के माध्यम से आना चाहिए अन्यथा एक बार फँस जाने पर इसके परिणाम मानवीय नियन्त्रण से परे हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त क्रान्ति के माध्यम से परिवर्तन शक्ति को ध्वनित करता है जो उन सभी मूल्यों को, जिन्हें शिक्षा ने धैर्यपूर्वक हमेशा पोषित किया है, नकारता है। विचार और क्रिया में अहिंसा शिक्षा का पोषित उद्देश्य रही है। सिर्फ अहिंसक समाज में ही आध्यात्मिक जीवन का उच्चतम ढाँचा निर्मित किया जा सकता है।

क्या शिक्षा स्कूल की चहारदिवारी तक अपने आपको सीमित कर विभिन्न स्तरों पर सामुदायिक जीवन में विद्यार्थियों की साक्षेदारी के लिए जीवनवृत्त का निर्माण करे ? यह फिर वही प्रश्न है जहाँ समाज की परिस्थितियों के उल्लेख के साथ

लक्ष्य की आलोचनात्मक व्याख्या करने की जरूरत है। और जैसा कि समाज की परिस्थितियाँ हमेशा समान नहीं होतीं, आलोचनात्मक मूल्यांकन सभी मसलों में अग्रिम रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता। तात्कालिक मूल्यांकन अधिक विश्वसनीय एवं बुद्धिमत्तापूर्ण हो सकता है। स्कूल को शिक्षा के जीवित अंग के रूप में स्वयं अपने लिए और अपने शिष्यों के लिए एक सुरक्षा की भावना के साथ नमनशील संस्था होना है। विशेषतः उस समय जब समाज में खलबली हो। दूसरे समय में यह समाज से अपनी नैतिक चेतना को खोजने के लिए पूछ सकता है। तब पर भी अन्य अवस्था में जिसे आदर्श परिस्थिति के रूप में परिकल्पित किया जा सकता है, यह समाज के साथ-साथ कार्य कर सका है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि व्यापक रूप से शिक्षा का कार्य विद्यार्थियों को विद्यार्थी जीवन के प्रति कर्तव्यों के अन्तर्गत रहकर ही समुदाय और सामाजिक जीवन में उन्हें भाग्य और रुचि लेने के लिए उत्साहित करना है, जिससे वांछनीय उद्देश्य असफल न होने पाएँ। क्योंकि हमारे लिए इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि सामाजिक सेवा-भाव और सीखने की जिज्ञासा से किसी देश के राजनीतिक कार्यों में रुचि लेने से शीघ्र ही विद्यार्थियों में सस्ती शक्ति-भावना का उदय होगा, जो शिक्षा प्रक्रिया को दूषित कर देगी। जबकि शिक्षा जीवन के उच्च पथ पर एक साहस है फिर भी यह परिकल्पित है और अविवेकपूर्ण नहीं है। इस प्रकार अपने रूप में इसका एक बहुत बड़ा दायित्व हो जाता है कि यह सामाजिक जीवन और इसकी सम्भावनाओं का पूर्णतया मूल्यांकन करे जिससे नपे-तुले घूंटों एवं संग्रह-विधि से अपने अन्तर्गत शिष्यों को लाभ प्रदान करने में सक्षम हो सके। इसे उनको भी ठीक-ठीक प्रत्यक्रम से परखना है।

व्यापक अर्थ में जैसा कि शिक्षा जीवन का पर्यायवाची है, इस पर स्कूल या संस्था का कोई एकाधिकार नहीं है। यद्यपि व्यवसाय के रूप में एक देश की राय पर इसका विस्तृत दावा है फिर भी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि इसके उत्पादन स्वयं जीवन के व्यापक विश्वविद्यालय में अपनी शिक्षा जारी रखे हुए हैं, और उनकी अनुभूतियाँ और अनुभव जीवन्त हैं जो स्वयं स्कूल द्वारा आलोचनात्मक परीक्षण एवं छान-बीन के बाद अपनाए जाने चाहिए। फलतः इसे अपने उद्देश्य के रूप में विशाल-हृदयता और विनम्रता को अपनाना चाहिए और शास्त्रीय अज्ञान को नहीं जो 'संकीर्ण' स्कूल में गढ़ा गया है जो ज्ञान की अपनी पिटारी पर एक मुहर लगा देता है और जो किसी दूसरी चीज को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।

यद्यपि शिक्षा के उद्देश्य सार्वभौमिक प्रामाणिकता से युक्त होते हैं, फिर भी एक तरह से जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, उन्हें मूर्त और स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखना पड़ता है। हमारे देश के सम्बन्ध में शिक्षा के प्रचारित सामान्य उद्देश्य विभिन्न बिन्दुओं पर विशिष्ट महत्व रखते हैं। राष्ट्र के रूप में इस गुलामी के अन्तर्गत हम लम्बी नींद सो चुके हैं। हमारा अतीत परम्पराओं के साथ विस्तृत और जटिल रहा है, जो समय से बहुत पीछे रहा है, जबकि तीव्र परिवर्तन जगत में प्रवाहित हो रहे हैं। हमारा प्रजातन्त्र शैशव काल में है और हमारी समस्याएँ अनेक और कठिन हैं। हमारे देश में शिक्षा का विशेष उत्तरदायित्व है। इसे शिष्यों को प्रमाद से बाहर, जीवन की क्रियात्मक और रचनात्मक विधि से शिक्षित करना, उन्हें अत्यधिक अध्यवसायी और उत्तरदायी, अधिक आत्म-विश्वासी और अधिक परस्पर सहयोगी बनाना है। इसे निर्णय और अनुशासन के स्तरों को उन्नत करना है और युवकों को सामाजिक उद्देश्य के प्रति सचेत करना है, जिससे वे संकीर्ण प्रान्तीयता और सम्प्रदायवाद से बाहर, मानवता के व्यापक पथ पर विकसित हों और अपनी सम्पन्न आध्यात्मिक परम्परा के माध्यम से जिसके साथ स्थायी शान्ति का विस्तृत खंड और इसके साथ मानवता के निर्माण में जो कुछ चला आया है, योगदान करें। हमारी शिक्षा हमारे सम्पन्न आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर अवश्य ही अत्यधिक रचनात्मक और प्रगतिशील हो, और अपने अतीत की अन्वाधुन्य पुनरावृत्ति या दूसरे देशों की शैक्षिक प्रणाली की मात्र अनुकृति न हो। अस्तु, यह युवकों को सामंजस्यपूर्ण, निरन्तर आध्यात्मिक और आनन्दमय जीवन की ओर प्रवृत्त करें जिससे वे विश्व और राष्ट्र की रचनात्मक योजना में श्लाघनीय भाग लेने के लिए तैयार हो सकें।

सहायक पुस्तकें :—

1. Jacks, M. L. : Total Education, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.
2. Raymont, T. : Modern Education, Its Aims and Methods, Longman Green and Co., London.
3. Remmers, H. H. and Gage, N. L. : Educational Measurement and Evolution, Harper and Brothers, New York.
4. Westaway, F. W. : Scientific Method: Its Philosophical Basis and its Modes of Application, Hillman Curl, Inc., New York.

शैक्षिक समाज-विज्ञान—क्षेत्र और प्रभाव

“शिक्षा का उद्देश्य लोगों को मात्र अपरिचित तथ्यों से जानकारी प्राप्त करवाना ही नहीं है। इसका लक्ष्य उन्हें उस व्यवहार के प्रति शिक्षित करना है जिससे वे अनभिज्ञ हैं।” —रसकिन

स्वतन्त्र विषय के रूप में शैक्षिक समाज-विज्ञान का उद्भव समाज-विज्ञान के व्यापक सिद्धांतों तथा अनुसन्धानों के साथ होता है। अस्तु, सर्वप्रथम समाज-विज्ञान का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना जरूरी है।

प्रत्यक्षवादी दार्शनिक ऑगस्ट कोम्ट का स्वप्न समाज-विज्ञान के रूप में १९वीं और २०वीं शती के अन्तर्गत, अपनी प्रस्तावना में क्रियात्मक योग्यता और दृष्टिकोण की विशिष्ट सुसंगत प्रौढ़ता के साथ प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हुआ है। इसकी संवेदना मात्र जिज्ञासा और सैद्धांतिक ज्ञान नहीं, बल्कि सामाजिक प्रक्रिया पर ठीक उसी प्रकार नियन्त्रण प्राप्त करने की है, जैसा कि भौतिक विज्ञानों का प्रकृति पर नियन्त्रण प्राप्त करने का उद्देश्य है। प्राकृतिक शक्तियों के ऊपर भौतिक विज्ञान की उपलब्धियों से प्रोत्साहित होकर और उनकी पद्धतियों का मूल्यांकन करते हुए इसने अपने ऊपर मानव संगठन पर विचारणीय रूप से नियन्त्रण पाने की महत्वाकांक्षी योजना बना रखी है। इसका विश्वास है कि सामाजिक अव्यवस्थाओं को सामाजिक सिद्धांतों की सम्यक् समझ और अत्यधिक उन्नत तकनीकों के माध्यम से व्यवहार में परिवर्तित कर देने पर नियन्त्रित किया जा सकता है। मानव दृश्य को निरन्तर खोजते और निरीक्षण करते हुए यह उदाहरण के लिए भ्रम में नहीं पड़ा कि युद्ध अनिवार्य है, क्योंकि वे युग-युगान्तरों से घटते आए हैं अथवा मनुष्य में युद्ध की सशक्त सहज प्रवृत्ति है। ऐतिहासिक, नृतत्व-शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक सामग्री

पर वृहत रूप से निर्भर होकर इसने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बुद्ध मानव प्रकृति का मूलाधार नहीं है, बल्कि किसी समाज की प्रदत्त परिस्थितियों के अन्तर्गत व्यवहार के ताजे ढाँचे के प्रति व्यक्तियों को नए ढंग से प्रशिक्षित किया जा सके तो युद्ध की दुःखद घटना निश्चय ही मानव जीवन से समाप्त हो जाएगी। अन्य अगणित सामाजिक घटनाओं पर भी यही बात लागू होती है।

अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह न केवल अपनी प्रक्रियात्मक पद्धतियों एवं तकनीकों पर ही निर्भर करता है, बल्कि इतिहास, जैविक एवं सामाजिक विज्ञान की सामग्री से भी व्यापक रूप में सहायता लेता है और समाज एवं व्यक्ति के परस्पर सम्बन्ध के चित्र का पुनर्निर्माण करता है। इस प्रारम्भिक निरीक्षण की सहायता से यह व्यक्ति एवं समाज के प्रयोजनों एवं व्यवहारों को उन्नत एवं निर्देशित करने के लिए विधियों एवं साधनों का संकेत देता है, जिससे सामाजिक घटकों को नियंत्रण के अन्तर्गत रखा जा सके तथा उन्हें आकस्मिक संयोगों पर न छोड़ा जा सके और साथ ही मानव शक्ति का अधिक दुरुपयोग किए बिना मानव समाज अत्यधिक योग्यतापूर्वक एवं मानवतापूर्वक संगठित किया जा सके। दूसरे शब्दों में इसे व्यक्ति, समाज और प्रगति के लिए सामाजिक योजना के माध्यम से मानवीय संभावनाओं एवं शक्तियों का महत्तम उपयोग करना है।

विलियम मैक्डूगल द्वारा मूल रूप से विकसित और प्रसिद्ध किए गए सहज मनोविज्ञान की प्रवृत्तियों से भिन्न, समाज-विज्ञान यह स्वीकार नहीं करता कि मानव-प्रकृति मूलतः जन्मजात और अशिक्षित स्वभाव के द्वारा—जिन्हें सहज प्रकृति कहा गया है, नियंत्रित होती है। न ही, जे० बी० वाटसन द्वारा मनोविज्ञान में प्रस्तुत किए हुए व्यवहारवाद की तरह यह विश्वास करता है कि एक व्यक्ति निष्क्रिय अभिकर्ता होता है जो सम्पूर्णतः वातावरण के प्रभाव को निर्मित करता है। ये दोनों स्थितियाँ एक दूसरे से विपरीत दिशा में चरम बिन्दु हैं, क्योंकि प्रथम मानव व्यवहार के स्रोत को व्यक्ति में निश्चित करता है तो दूसरा समाज में। समाज-विज्ञान के लिए केवल यही तथ्य शेष रह जाता है कि व्यक्ति एवं समाज एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं और विविध सामाजिक प्रक्रियाओं एवं व्यवहार की दिशा को निर्धारित करते हैं। व्यक्ति और समाज के यह अन्तर्निर्भरता स्वयं जैविक तथ्यों में अन्तर्निहित है—एक अत्यधिक जटिल स्नायविक प्रणाली, जिसने विलंबित शैशव के माध्यम से मानवीय स्तर पर सीखने की क्रिया को अनिवार्य बना दिया है, और बदले में जिसे समाज के प्रौढ़ सदस्यों की ओर से ध्यान एवं

देखभाल की जरूरत पड़ती है। सीखना, जिसका अर्थ समाज-विज्ञान के लिए मुख्यतः प्रवृत्ति एवं व्यवहार की विधि है; एक सामाजिक अर्थ रखता है; क्योंकि इसे परिवार एवं स्कूल जो सामाजिक अधिकरणों द्वारा प्राप्त किया गया है, और पूर्णतः व्यक्तिवादी या वंशपरम्परागत मामला नहीं है। आत्मप्रयास एवं सामाजिक प्रशिक्षा की अन्तर्कीड़ा के माध्यम से प्राप्त की गई इस शिक्षा के द्वारा एक नौसिखुआ छोटे समूहों में शामिल होकर या उसका नेतृत्व करते हुए सामाजिक प्रक्रिया में भाग लेता है। इस प्रकार समूह समाज की प्रथम क्रियात्मक इकाइयाँ बन जाते हैं जो मानव जीवन में प्रेम और धृणा, विरोध और सहयोग, उदासीनता और आक्रमण और सभी कुछ, अपने पूरे उलटफेर के साथ घटते हैं। जीवन अपने रूप में स्थिर नहीं है, न ही सरल या कठोर सिद्धान्तों का अनुगमन करता है, बल्कि यह सचमुच गत्यात्मक और परिवर्तनशील, एक समायोजनात्मक और अन्तरशिक्षा की प्रक्रिया है। यही वह प्रक्रिया है जिसे समाज-विज्ञान सूक्ष्म विवरणों सहित अध्ययन करने का प्रयत्न करता है, जिससे यह क्रियाशील मानव प्रकृति की सम्यक् समझ प्राप्त करने में सक्षम हो सके। इसमें यह सामाजिक मनोविज्ञान से सम्बन्ध जोड़ता है, जिससे इसने विशेषतः समाज में मानव व्यवहार के गहरे स्रोतों के ज्ञान को स्वतन्त्र रूप से उधार लिया है। हाल ही में समाज की समस्याओं पर समाज-विज्ञान एवं सामाजिक मनोविज्ञान द्वारा विचार किया गया है, जिससे एक दूसरे का काफी योगदान प्राप्त हुआ है।

समूह का अध्ययन ही समाज-विज्ञान का केवल मात्र क्षेत्र नहीं है। यह मानव व्यवहार पर प्रभाव डालने वाली किसी भी वस्तु का अध्ययन करता है। यह सांस्कृतिक ढाँचों की सम्पूर्ण शृंखला, रीतियों एवं परम्पराओं, लोकविधियों एवं विधाओं, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं, जातीय अन्तरों, जनसंख्या एवं आर्थिक समस्याओं, भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव, अपराध एवं मानव-विकास का परीक्षण करता है और इस प्रकार की अनेकानेक समस्याओं के प्रदान किए गए सुयोग्य विभागात्मक रूप का विशेष अध्ययन करता है। इस प्रकार नृतत्व-शास्त्र मुख्य रूप से मानव के विकास-क्रम एवं जातीय अन्तरों से सम्बन्धित है, जबकि परिवेश-विज्ञान मनुष्य एवं उसके वातावरणों से एवं सामाजिक रोगशास्त्र अपराधों इत्यादि से। एक शब्द में समाज-विज्ञान सम्पूर्ण मानव संस्कृति का अध्ययन करता है, चाहे वह भौतिक हो या अभौतिक जो कि व्यवहारात्मक अनुकृति एवं भाषा के माध्यम से सीखने योग्य एवं संप्रेषणीय हो। इस प्रकार

समाज-विज्ञान, मोटे रूप से सम्पूर्ण समाज एवं व्यक्ति का क्रमिक अध्ययन है जो एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं एवं अन्तर्शिक्षा के स्तर पर सम्बन्धित होते हैं, जिसकी पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक परम्परा एवं मानवीय आकांक्षाएँ होती हैं तथा सामाजिक प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से एवं उस पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए, नियमों एवं सिद्धान्तों की खोज की जाती है एवं तकनीकों को विकसित किया जाता है।

कुछ आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि समाज-विज्ञान सैद्धान्तिक अध्ययन है जिसका कार्य मानवीय सम्बन्धों एवं सामाजिक प्रक्रिया की प्रकृति के नियमों की खोज करना है—मानव व्यवहारों पर नियन्त्रण रखना इसका कार्य नहीं है; अधिक से अधिक यह विभिन्न मार्गों का संकेत कर सकता है। मानव व्यवहार का वास्तविक नियन्त्रण शैक्षिक समाज-विज्ञान का प्रयोजन है। लेकिन यह आक्षेप प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐसे भी क्षेत्र हैं जो स्कूल की पहुँच और साधनों के बाहर पड़ते हैं, जिन्हें समाज-विज्ञान के चिन्तन एवं योजना से दूर नहीं रखा जा सकता। उदाहरण के लिए सामाजिक मामले में सरकारी स्तर पर की गई व्यापक योजना और क्रियान्वित शैक्षिक समाज-विज्ञान के बिना भी हो सकती हैं, और तिस पर भी समाज-विज्ञान से पर्याप्त सहायता ले सकती हैं। समाज-विज्ञान मात्र सिद्धान्त से ही संतुष्ट नहीं हो सकता, बल्कि व्यवहार से अपनी योग्यता को भी सिद्ध करने में सन्तोष का अनुभव करता है।

शैक्षिक समाज-विज्ञान

समाज-विज्ञान की एक प्रभावशाली शाखा के रूप में, शैक्षिक समाज-विज्ञान स्कूल और समुदाय में क्रियान्वित शैक्षिक प्रक्रिया के माध्यम से समाज-विज्ञान के लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह समाज-विज्ञान के आधारिक सिद्धान्तों को प्रभावोत्पादक ढंग से क्रियान्वित करता है, स्कूल के भीतर और स्कूल के बाहर छात्रों के व्यवहारों के संदर्भ में उनका प्रयोग करता है, बहुविध शिक्षाओं, व्यवहारों और सामाजिक प्रवृत्तियों का सामना करने के लिए व्यावहारिक पद्धतियों को विकसित करता है तथा शिष्यों के व्यवहार एवं प्रवृत्तियों में अपेक्षित परिवर्तन लाने के लिए योजनाओं एवं तकनीकों का विधान करता है। इस प्रकार प्रयोजनात्मक एवं एकात्मक अस्तित्वों के लिए उनका पोषण किया जाता है।

दूसरे शब्दों में बेहतर व्यक्तित्व के विकास के द्वारा यह व्यक्तिगत एवं

सामाजिक व्यवहारों पर नियन्त्रण पाने का प्रयत्न करता है। और चूँकि व्यक्तित्व का विकास व्यापक रूप से सामाजिक परिवेश पर निर्भर रहता है, फलतः यह इसके अध्ययन में रुचि रखता है। उदाहरण के लिए यह प्रभाव के विविध अभिकरणों का अध्ययन करता है, जैसे परिवार, क्रीड़ा-समूह, चर्च इत्यादि। इसके अतिरिक्त स्कूल के माध्यम से यह वांछित सामाजिक परिवेश का निर्माण करता है। यह स्कूल और अन्य सामाजिक अभिकरणों में घनिष्ठ सम्बन्धों की सिफारिश करता है तथा साथ ही तकनीकों एवं प्रक्रियाओं की खोज भी करता है। संक्षेप में यह समस्त व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली शैक्षिक प्रक्रियाओं की विवेचना एवं उपयोग करता है और फलतः व्यक्तियों को वांछनीय सामाजिक उद्देश्यों के प्रति सजग कर देता है। इन व्यापकतर उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए इसे समय-समय पर बदलने वाली विशिष्ट समस्याओं का विवेचन करना पड़ता है जो नया महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं। उदाहरण के लिए वे इस प्रकार हैं : (१) समुदाय में शिक्षक के कार्य को समझना और उसे विस्तृत करना, (२) शिक्षक-शिष्य सम्बन्धों के सामाजिक अभिप्रायों एवं शिक्षण उद्देश्यों को समझना एवं उनका उपयोग करना, (३) सामाजिक परिवेश को लघुतर इकाइयों में विभाजित करना, जैसे क्रीड़ा-समूह, परिवार, चर्च, स्कूल और उनके अन्तर्सम्बन्धों एवं परस्पर-प्रभावों को ग्रहण करना, (४) विशेष रूप से स्थानीय समुदाय (Community) की आकांक्षाओं एवं जरूरतों का अध्ययन करना और समुदाय के विविध सामाजिक अभिकरणों एवं स्कूल के बीच प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होना, (५) समकालीन सामाजिक जीवन और सामाजिक प्रवृत्तियों का और व्यक्ति एवं स्कूल पर उनके पड़े प्रभावों का अध्ययन करना; अनेकों दूसरी सामाजिक एवं राजनीतिक विचारधाराओं की पृष्ठभूमि में प्रजा-तांत्रिक विचारधारा की सार्थकता को समझना, (६) व्यावहारिक स्तर पर प्रजा-तांत्रिक प्रक्रिया को स्कूल एवं समुदाय में अन्तर-समूह व्यवस्था एवं स्वस्थ समूह के माध्यम से सम्पन्न बनाना, (७) व्यक्ति और समाज के कल्याण एवं प्रगति के लिए पाठ्यक्रम का सामाजीकरण करना एवं उसे निरन्तर उन्नत करना, और (८) व्यावहारिक रूप में उनके लाभ को प्राप्त करने के लिए अनुसंधान एवं आलोचनात्मक चिन्तन को उत्साहित करना।

अध्ययन की समस्या, जो शिक्षा का केन्द्र-बिन्दु है, शैक्षिक समाज-विज्ञान में बिल्कुल नया महत्त्व प्राप्त कर चुकी है। अध्ययन का अर्थ मात्र शाब्दिक ज्ञान या पांडित्यवाद या बार-बार स्मरण करना नहीं है, बल्कि मूलतः मानव विकास

की एक अवस्था है जो परिणाम स्वरूप अन्तर-व्यक्तिगत एवं अन्तर-समूह एवं आदान-प्रदान की सामाजिक अनुकूलता, योग्यता और रचनात्मक व्यवहार से युक्त रहती है; न ही पुस्तकें, न रूपात्मक कक्षागत व्याख्यान, न स्वयं सभी शिक्षक ही सचमुच शिक्षित करने में सक्षम हो सकते हैं। वास्तविक शिक्षा बच्चों को समुदाय के भीतर रख कर ही दी जा सकती है—जिसमें बालक इसके साथ और इसके लिए कार्य करता है। इसे सीखने के लिए स्वयं प्रयासशील रहता है, नया आलोचनात्मक समझ एवं उच्च सामाजिक प्रयोजन से इसके ज्ञान में योगदान देता है। वास्तविक शिक्षा व्यक्तिगत अन्तरंगता के विविध अनुभवों के माध्यम से प्रदान की जाती है जहाँ बालक जीवन को निर्व्यक्तिक ढंग से देखने की बजाय उसे आमने-सामने देखता है। बालक समुदाय का शिक्षक होने के साथ-साथ अपना शिक्षक हो जाता है, यद्यपि पहला ही दूसरे को शिक्षित करता है। समुदाय का व्यक्ति से और व्यक्ति का समुदाय से, इस प्रकार एक दूसरे से सीखने की अवधारणा उन स्थानों पर अत्यधिक प्रयोजनीय सफलता है जहाँ इसे सम्यक् रूप से लागू किया गया है। उदाहरणार्थ शैक्षिक समाज-विज्ञान वांछित उद्देश्यों के लिए सामाजिक परिवर्तन के साथ व्यवहार करने में गहरा उत्तरदायित्व ग्रहण करता है। सारांशतः इसे 'सामाजिक अभियंत्रण' का विज्ञान कहा जा सकता है। व्यापकतः यह—विकासात्मक, विश्लेषणात्मक और समन्वयात्मक—व्यक्ति और समुदाय के अन्योन्याश्रयी एवं गत्यात्मक सम्बन्धों का एक विधिवत् अध्ययन है, विशेषतः उस परिस्थिति में जबकि एक दूसरे से सीखने की प्रक्रिया के प्रति उनके योगदानों के सम्बन्ध में और एक दूसरे के व्यावहारिक ढाँचे एवं उनके सुधार के सम्बन्ध में, और ऐसी प्रक्रियाओं एवं पद्धतियों को विकसित करके, साथ ही प्रभावपूर्ण ढंग से सामाजिक नियन्त्रण और मानव व्यवहार के गुणात्मक या नैतिक उन्नति की ओर निर्देशित करना है।

शैक्षिक समाज-विज्ञान का दृष्टिकोण सारमूलक एवं एकात्मक है। कहने का अर्थ यह है कि यह सीखने एवं व्यवहार में मानव परिस्थिति का एकांगी या एकपक्षीय दृष्टिकोण ग्रहण नहीं करता, बल्कि जहाँ तक संभव है, एक सम्पूर्ण दृष्टिकोण को स्वीकारता है। इस प्रकार यह शैक्षिक प्रक्रिया के विभिन्न सिद्धान्तों का एक महान् संगठनकर्ता है। इसकी पद्धतियाँ सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विज्ञानों की सामान्य पद्धतियाँ हैं, जिससे विभिन्न अवस्थाओं को लागू किया जाता है एवं प्रत्येक को विस्तृत रूप से, धैर्यपूर्वक और सबसे ऊपर वस्तुपरक दृष्टिकोण पर रखना पड़ता है।

तथ्यों के संकलन एवं निरीक्षण से आरम्भ करके और विश्लेषण एवं समन्वय के कठोर संयम से गुजरते हुए, समान परिस्थितियों में उपलब्ध परिणामों से अन्य परिणामों को परखते हुए, सर्वेक्षण एवं प्रयोगों के माध्यम से शैक्षिक समाज-विज्ञान सामाजिक एवं शैक्षिक घटनाओं की व्याख्या करने के लिए सक्रिय परिकल्पना का निर्माण करता है। अनेक अन्य पद्धतियों के अतिरिक्त यह प्रश्नोत्तरी पद्धति, अनुपरीक्षण के लेखों, साक्षात्कारों, आनुवंशिकी एवं व्यक्ति-वृत्त की पद्धतियों पर निर्भर करता है। इन पद्धतियों का एक उद्देश्य तथ्य का वस्तु-परक ज्ञान प्राप्त करना और अन्तर्निहित अभिप्रायों एवं अर्थों को अत्यधिक गहराई से देखना है। जब से समाज-विज्ञान की अन्तर्क्रिया एवं अन्तर्ज्ञान के सिद्धान्त द्वारा परिपुष्ट ये पद्धतियाँ शैक्षिक क्षेत्र में पूरी तरह से क्रियान्वित हुई हैं, शिक्षा के प्रति नई दृष्टियों, नए तथ्यों एवं नए महत्त्वों के फल उत्पन्न हो गए, यद्यपि प्रत्येक क्षण शिक्षा के विविध पक्षों में निरन्तर जीवन्त अनुसन्धान की आवश्यकता एवं इच्छा बनी हुई है; जैसे इसके उद्देश्यों में, पाठ्यक्रम रचना में, स्कूल संगठन में अन्तर-शिष्य, शिक्षक-शिष्य एवं शिक्षक-समुदाय के सम्बन्धों इत्यादि में। क्योंकि सामाजिक प्रक्रिया कभी भी स्थिर नहीं है, एवं इस प्रकार यह वांछित उद्देश्यों के प्रति अपने को सरणीबद्ध करने के लिए समानुरूप जागरण एवं सक्रियता की माँग करती है। इस पृष्ठभूमि में शिक्षा का कार्य, इसे स्वीकार किया जाएगा, अधिकतम सामाजिक होना चाहिए, जिसकी व्यापक रूपरेखाएँ संक्षेप में निम्नांकित उल्लेखित की गई हैं।

१. ज्ञान एवं अध्ययन एक संचयी प्रक्रिया होने के कारण—किसी एक व्यक्ति की अपेक्षा अधिकतर जाति का उपक्रम—जिसके बिना पर्याप्त सामाजिक क्रिया संभव नहीं है। इस तरह ज्ञान एवं परम्पराओं का प्रचार एवं उन्हें आत्मसात करना शिक्षा के प्रधान उद्देश्यों में से एक हो जाता है। लेकिन निश्चित है कि उस स्तर पर चीजों को निर्धारित करना शैक्षिक समाज-विज्ञान के लिए युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि शिक्षा का कार्य सांस्कृतिक परम्परा का आलोचनात्मक परीक्षण करना है और परम्पराओं को वरिष्ठता से आगे बढ़ाना है। जब तक यह नहीं किया जाता, तब तक निरन्तर विकासमान सामाजिक प्रक्रिया पर्याप्त रूप से नहीं समझी जा सकती। सृजनात्मक शिक्षा—जैसा कि समाजशास्त्रीय विधि से शिक्षा को होना चाहिए—सांस्कृतिक परम्पराओं की सम्पत्ति में योगदान देती है, और केवल अतीत की सांस्कृतिक परम्पराओं पर ही निर्भर नहीं करती। परम्पराओं का अन्धानुकरण समाज-विज्ञान की मनोवृत्ति के प्रति मूलतः

विपरीत पड़ता है, और व्यावहारिक रूप में परिस्थिति के अनुरूप जड़ता, दमन-वाद एवं समुदायवाद की ओर ले जाने के लिए बाध्य है। जब मस्तिष्क निर्माण नहीं करता, इसमें जंग लग जाता है और सामाजिकतया छोटी-छोटी विकृतियों से, समाज में रूढ़ रोगों की परिस्थितियों में बदल जाता है, जो बदले में व्यक्तियों पर प्रभाव डालता है और इस प्रकार कुचक्र जारी रहता है।

बुद्धियुक्त परीक्षण एवं चुनाव के माध्यम से सांस्कृतिक परम्परा में सर्वोत्तम का आरक्षण करना और छात्रों की उत्तरवर्ती पीढ़ी के लिए प्रेषित करना भी समान रूप से शिक्षा का कार्य है।

२. इससे परिणाम निकलता है कि परिस्थिति की माँग के अनुरूप शिक्षा को नए सांस्कृतिक ढाँचे में विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए, और अतीत के उसी एक पुराने ढाँचे की छानबीन नहीं करनी चाहिए। जीवन की निर्धारित रूपरेखाओं में रूढ़िबद्ध होकर चलना आदर्शवादी दार्शनिक के लिए अशुचिकर हो सकता है, लेकिन एक समाजशास्त्री के लिए यह स्वस्थ सामाजिक जीवन का लघुतम पूर्वसाधन है।

३. समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से ज्ञान के दो पक्ष हैं; प्रथम शाब्दिक, जिसका अर्थ है अनुभव को भाव के माध्यम से रूपान्तरित करना और द्वितीय व्यवहारात्मक, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है जिसका अर्थ है जीवन की शैलियों में वृद्धि और उन्नति करना। शैक्षिक विज्ञान की दृष्टि से प्रथम को दूसरे के अधीन रखा गया है।

४. उत्साह के अभाव में समझ एवं योजना के लिए किसी अन्ध एवं असंयमित जीवन के विपरीत योजना, कल्पना एवं रचनात्मक रहन के प्रति प्रवृत्त जीवन प्रयोजनात्मक हो सकता है।

अब तक पाठकों ने शैक्षिक समाज-विज्ञान पर जीवन-केन्द्रित शिक्षा की भौतिकवादी अवधारणा के मौलिक प्रभाव को लक्षित कर लिया होगा। खैर, शैक्षिक समाज-विज्ञान की नयी अवधारणाओं के परिणामस्वरूप, स्कूल, पाठ्यक्रम, शिक्षा की तकनीकों, शिक्षकों एवं समुदाय के उत्तरदायित्व, एवं शिष्यों के उत्तरदायित्व ने भी नए महत्त्व, नई गति-शक्ति एवं नयी दिशा प्राप्त की है।

अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

शैक्षिक समाज-विज्ञान समाज-विज्ञान के अतिरिक्त दूसरे विज्ञानों का भी

ऋणी है और अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उनसे स्वतन्त्रतापूर्वक उद्देश्यों एवं जरूरतों को ग्रहण करता है।

(१) इतिहास—शैक्षिक समाज-विज्ञान इतिहास की व्यापक सामग्री से सहायता लेता है, जिससे वह युगों के सामाजिक परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी शक्तियों एवं सामाजिक यंत्र-रचना में एवं व्यक्तियों पर, शिक्षात्मक प्रक्रियाओं और तकनीकों पर एवं अत्यावश्यक शैक्षिक समस्याओं पर उनके प्रभाव में अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सके। शैक्षिक समाज-विज्ञान में इतिहास की सामग्री के उपयोग का एक ठीक-ठीक उदाहरण जोसेफ के० हार्ट की पुस्तक *Education in the Human Community* में देखा जा सकता है। युगान्तरों के सामुदायिक जीवन की व्याख्या करते हुए, उदाहरण के लिए, वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राचीन समुदाय—समूह में छोटे, सुसंगठित, आत्मनिर्भर, कार्य एवं सामान्य सामाजिक प्रयोजनों के द्वारा इसके सदस्यों में परस्पर-निर्भरता—व्यक्तित्व-विकास के लिए बच्चों एवं युवकों के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण थे। वह परिश्रमपूर्वक इस सिद्धान्त की स्थापना करते हैं कि आज की प्रभावपूर्ण शिक्षा के लिए प्राचीन सामुदायिक जीवन की शक्तियों को पुनः प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि जैसा वे सोचते हैं, आधुनिक कस्बे की घुटन एवं वातावरण बच्चों और किशोरों के सम्यक् सामाजीकरण के लिए शायद ही सहायक है।

(२) भौतिक एवं अन्य दूसरे विज्ञान शैक्षिक समाज-विज्ञान को सिर्फ उसी सीमा तक आकर्षित करते हैं, जिस सीमा तक वे व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करते हैं और व्यक्तिगत एवं सामाजिक कल्याण में सहायक होते हैं। इस प्रकार शरीर-विज्ञान और चिकित्सा-विज्ञान इस दिशा में सहायक होते हैं कि वे योजना का क्रम निर्देश करते हैं, जिसके आधार पर बच्चों का शारीरिक स्वास्थ्य विकसित किया जा सके। शैक्षिक समाज-विज्ञान अपनी पद्धतियों एवं शिक्षा के साधनों में विज्ञान के अन्वेषणों का उपयोग कर सकता है, लेकिन निश्चय ही विज्ञान के उन सारे पहलुओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है जो इसकी समस्याओं पर प्रभाव नहीं डालते।

(३) जीव-विज्ञान मनुष्य समेत, जैविक संगठन के रूप में पूरे जीवित जगत के अध्ययन में व्यस्त है। यह निम्नतर से उच्चतर पशु-जीवन तक विकास-मूलक आरोहण की खोज करते हुए आधारिक विशेषताओं का अध्ययन करता है जो पशु-जगत के लिए सर्वसामान्य है, जैसे वृद्धि, पोषण और पुनरुत्पादन।

इसकी प्रमुख चिन्ताओं में से एक है व्यक्तिपरक जैविक संगठन के व्यवहार पर वंशपरम्परामूलक घटकों के प्रभाव का अध्ययन करना। व्यापक रूप में यह तथ्यों को खोजने का प्रयत्न करता है और पशुजीवन सम्बन्धी नियमों का निर्माण करता है।

चूँकि मानव व्यक्तित्व की जड़ें जैविक सामग्री में निहित होती हैं और आरम्भिक रूप से जैविक तत्त्वों द्वारा नियंत्रित है इसलिए शैक्षिक समाज-विज्ञान स्वभावतः उन घटनाओं के अध्ययन में रुचि रखता है। अध्ययन और विकास जीव-विज्ञान एवं शैक्षिक समाज-विज्ञान के लिए सर्वसामान्य समस्याएँ हैं और जिस हद तक शैक्षिक समाज-विज्ञान जीव-विज्ञान से इंगित प्राप्त करता है उसे किसी भी तरह प्राप्त करना चाहिए। जीव-विज्ञान की कुछ निश्चित मौलिक अवधारणाएँ जैसे गत्यात्मकता, नित्य परिवर्तनशील जीवन या विकास, समायोजनात्मक यंत्र रचना, संघर्ष, सहयोग और जीवन में नए गुणों का उद्भव, जीवन के निम्नतर स्तर पर भी अध्ययन एवं विकास के सिद्धान्तों का निश्चित संकेत देते हैं, जिस पर शैक्षिक समाज-विज्ञान को ऊपरी ढाँचे का निर्माण करता है। लेकिन, जैसा कि उपलक्षित है, उच्चतर मानसिक एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के क्षेत्र में प्रवेश जीवन और व्यक्ति एवं समाज के संगठन को नियंत्रित करने वाले जीव-विज्ञान का क्षेत्र नहीं है।

जबकि शैक्षिक समाज-विज्ञान जीव-विज्ञान की अवधारणाओं में से कुछ उधार लेता है और उन्हें विस्तृत कर सकता है, फिर भी दोनों के लिए उनमें से कुछ को चुनौती भी दे सकता है। उदाहरण के लिए, यह अपने प्रयोगों के आधार पर, प्रमाणित कर सकता है कि व्यक्तियों के व्यवहार को निर्धारित करने में वंश-परम्परामूलक घटकों से सामाजिक वातावरण कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इससे अनियंत्रणीय सामाजिक प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित करने में सहायता मिली है। इस प्रकार मानसिक रूप से अवरुद्ध या अपराधी बच्चे वंश-परम्परा की अन्तिम रूप से उत्पत्ति नहीं हैं जैसा कि जीव-विज्ञान में कुछ चरम नियतिवादी विश्वास करते हैं। शैक्षिक रूप से नए सामाजिक प्रभावों के संदर्भ में व्याख्या करते हुए उन्हें उनकी कठिनाइयों से बाहर लाया जा सकता है।

(४) मनोविज्ञान सम्पूर्ण रूप से मानसिक जीवन और व्यवहार—पशु-जीवन से लेकर मानव-जीवन तक—और उसे निर्धारित करने वाले मानसिक या वातावरणमूलक घटकों का अध्ययन करता है, माप के एक छोर पर, यह मानसिक जीवन और व्यवहार के सामान्य स्रोतों की क्रिया एवं प्रकृति को खोजने

का प्रयत्न करता है—जैसे अविदित सहज प्रवृत्तियाँ तो दूसरे छोर पर, यह व्यक्तित्व पर सामाजिक या भौतिक वातावरण के प्रभाव की खोज करता है। दोनों सीमाओं के बीच यह अचेतन से लेकर चेतन तक मानसिक द्वन्द्वों, मनस्ताप एवं मनोविक्षिप्ति इत्यादि को व्यापक रूप से अचेतन पक्ष तक और भावों, मनोभावों, प्रवृत्तियों, शिक्षण, आदतों, चिन्तन, इच्छा-क्रिया, साधारणतया चेतन के पक्ष से, आदि मानवीय प्रकृति की विविध जटिलताओं का अध्ययन करता है। मनो-विज्ञान, जीव-विज्ञान की तरह उद्दीप्त के प्रति कम संगठित प्रतिक्रियाओं से उच्चतर संगठित प्रतिक्रियाओं के रूप में व्यक्ति के मंद एवं क्रमिक विकास में विश्वास करता है जो विचार एवं व्यवहार के स्थायी ढाँचों में विकसित होता है।

प्राचीन मनोविज्ञान कमोबेश रूप से व्यक्ति को जीवन की पूर्ण इकाई के रूप में विवेचित करता था जो भीतर से विकसित होती थी और जिसने वातावरण-मूलक प्रभावों को अधिक महत्त्व नहीं दिया था। इसने विचार एवं व्यवहार के ढाँचों पर सीखने एवं आदत के सिद्धान्तों पर, और स्नायुतंत्र के क्रम के परिणामों के रूप में अपना ध्यान केन्द्रित किया। वह व्यक्तित्व-निर्माण में सामाजिक घटकों के बृहत्-भण्डार को स्थापित करने वाले हैं। समाज-विज्ञान और शैक्षिक समाज-विज्ञान के ठीक विरोध में लेकिन नए मनोविज्ञान, विशेषतः शैक्षिक मनो-विज्ञान, सामाजिक मनोविज्ञान और प्रयोगात्मक सामाजिक-विज्ञान ने सामाजिक वातावरणों को लेकर समान रूप से खाई को भरा है।

यह ठीक है कि शैक्षिक मनोविज्ञान आरम्भ में प्राचीन मनोविज्ञान के मार्ग का अनुगमन किया, और सीखना और आदतों, अनुबन्धित प्रतिवर्त (conditioned reflex), व्यक्तिगत भेदों, बुद्धिलब्धि (intelligent quotient), प्रतिभावान और अवरुद्ध बच्चों और ऐसी ही समस्याओं के सामाजिक परिवेश की सम्भावनाओं को अधिक महत्त्व दिए बगैर स्वयं को अध्ययन में संलग्न किया। व्यक्ति और उसके व्यवहार पर जो भी दबाव था, उसे यांत्रिक मनोविज्ञान की शब्दावली में अधिक वर्णन किया गया। आधुनिक शैक्षिक मनोविज्ञान दोषों से विमुक्त हो गया है। यह परिवार, स्कूल और समुदाय में सामाजिक वातावरणों का एवं विकासमान व्यक्तित्व के विविध पक्षों पर उनके प्रभाव का अध्ययन करता है और अचेतन की क्रिया एवं जटिलताओं के गहनतर स्रोतों के विरुद्ध उनका प्रदर्शन करता है। आदतों, सीखना, क्षमताओं, प्रवृत्तियों, उत्तेजनाओं एवं अनुत्तेजनाओं, थकान एवं आराम की प्रवृत्ति को शिक्षात्मक प्रक्रिया में उच्च स्थान देने के अतिरिक्त, जो शैक्षिक समाज-विज्ञान के लिए अत्यधिक लाभदायक रहा है; इसमें व्यक्तित्व के गठन

एवं कार्य में गहनतर खोज की आवश्यकता को भी सफलतापूर्वक प्रचलित किया है। अचेतन का अध्ययन और शिष्यों एवं शैक्षिक प्रक्रिया पर इसका प्रभाव शैक्षिक मनोविज्ञान का एकमात्र योगदान है। वास्तव में मनोविश्लेषण आज की शिक्षा में एक मुख्य प्रयोजनात्मक अवधारणा है। मनोविश्लेषण आज प्रगतिशील स्कूलों से सम्बद्ध हैं जिनका कार्य व्यक्तित्व के विषय में बच्चों की परेशानियाँ एवं उनकी चिकित्सा के विषय में शिक्षकों एवं अभिभावकों को सलाह देना एवं निर्देशित करना है। उसी सीमा तक शैक्षिक समाज-विज्ञान शैक्षिक मनोविज्ञान के प्रति ऋणी है, क्योंकि तथ्य तो यह है कि बिना अचेतन का गहरा अध्ययन किए जो समाज-विज्ञान और शैक्षिक समाज-विज्ञान का क्षेत्र नहीं है, न तो सामाजिक प्रक्रिया की प्रकृति पर्याप्त रूप से समझी जा सकती है और न प्रभावपूर्ण रूप से इसे नियंत्रित किया जा सकता है।^१

समाज-मनोविज्ञान और प्रयोगात्मक समाज-मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की शाखाओं के रूप में विभिन्न कोनों से और विविध परिस्थितियों में सामाजिक घटकों का अध्ययन करते हैं। अभी-अभी कुछ वर्षों में मनोविज्ञान की दोनों शाखाओं ने किंचित् निरीक्षण प्रस्तुत किए हैं जो शैक्षिक प्रक्रिया में बहुत लाभदायक हैं और जिन्हें शैक्षिक समाज-विज्ञान अपनी पद्धतियों तक सीमित रहकर नहीं प्राप्त कर सकता था। सहोदरों के बीच सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष के विषय पर गार्डिनर मर्फी और न्यूकाम्ब^२ के प्रयोगात्मक अध्ययन का उल्लेख किया जा सकता है। फिर भी इस बात का अनुभव किया जा सकता है कि जब मनोविज्ञान की विविध शाखाएँ व्यक्ति, समाज और शिक्षा के सैद्धान्तिक नियमों में अधिक विकसित और संलग्न हैं, तो शैक्षिक समाज-विज्ञान समस्याओं को व्यावहारिक रूप देने का साहस कर रहा है, इस प्रकार यह समुदाय से और प्रगतिशील एवं अत्यावश्यक सामाजिक विचारों से व्यक्तियों का सामंजस्य करने का प्रयत्न कर रहा है।

अनुसंधान—महत्त्व और उसकी पद्धतियाँ

किसी दूसरे विज्ञान में अनुसंधान जितना जरूरी है, उतना ही शैक्षिक

१. इस समस्या के विस्तृत अध्ययन के लिए मेरी कृति *Education—A Few Problems* में 'Psycho-analysis in Education' अध्याय देखिए; University Publishers, Jullundur.

२. *Experimental Social Psychology*, Hasper & Brothers, Publishers, New York.

समाज-विज्ञान के क्षेत्र में भी आवश्यक है। तथ्यमूलक आँकड़े—सामाजिक और आर्थिक, सांस्कृतिक ढाँचे और वंश-परम्परा इत्यादि की व्याख्या—को विधिपूर्वक प्राप्त किए बगैर मानवीय सम्बन्धों एवं क्षमता का समायोजन अध्ययन संभव नहीं है। इस तरह से सामाजिक प्रक्रिया भाग्यवादी घटकों पर छोड़ दी जाती है परन्तु योजना को विधिवत् विकलित शिल्प के अधीन नहीं रखी जाती। यह अनुसंधान-पद्धति का उपयोग ही है, जो अधिक तीव्रता से शैक्षिक समाज-विज्ञान को सामाजिक दर्शन-शास्त्र से अलग करता है जो क्षेत्र में तथ्यों, आँकड़ों और प्रवृत्तियों का निरीक्षण किए बगैर परिकल्पनाओं और सिद्धान्तों की रचना करता है। शैक्षिक विषयों में सामान्य सामाजिक कार्यों की तरह, काल्पनिक कथाएँ, भ्रामिकताएँ, भ्रामिक दृष्टियाँ, गलत दृष्टिकोण, भ्रामिक आग्रह निरंतर फलते-फूलते रहते हैं। इन्हें अनुसंधान की वस्तुपरक पद्धतियों के माध्यम से अच्छी तरह निरुद्ध किया जा सकता है, और उपलब्धियों को फलस्वरूप व्यवहार में लाया जा सकता है। शिक्षा के विविध क्षेत्रों में जिनमें अनुसंधान किसी भी समय आवश्यक हैं, वे हैं—

१. शिक्षा के उद्देश्य, २. पाठ्यक्रम का प्रयोजन एवं स्वभाव एवं पाठ्य-क्रम का निर्माण, ३. वर्ग-कक्ष और स्कूल संगठन, ४. शिक्षण-पद्धति, ५. परीक्षा-प्रणाली, ६. अतिरिक्त पाठ्यक्रम क्रियाएँ, ७. शैक्षिक संस्थाओं में आत्मशासन की जनतांत्रिक पद्धतियाँ और ९. विद्यालय-गृह-समुदाय के सम्बन्ध।

शैक्षिक समाज-विज्ञान की पद्धतियाँ अन्य सामाजिक विज्ञानों की तरह ही हैं, जिन्हें व्यक्तिगत परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार किंचित भिन्नता के साथ लागू किया जा सकता है। परिवार, स्कूल और समुदाय सामाजिक अनुसंधान की प्रयोगशालाएँ हैं, जिनमें अनुसंधान की पद्धतियाँ लागू की जा सकती हैं। सामाजिक अनुसंधान की तीन प्रमुख पद्धतियाँ हैं, जैसे—ऐतिहासिक, स्थिति और सांख्यिकी। इनमें से प्रत्येक पद्धति निम्नलिखित तकनीकों में से एक या अधिक को लागू कर सकती है।

१. निरीक्षण—तथ्य एकत्र करने की एक प्रारम्भिक शिल्प के रूप में निरीक्षण की पद्धति की अपनी सीमाएँ होती हैं। प्रथमतः निरीक्षक के व्यक्ति-निष्ठ तत्त्व उसके निरीक्षण में दखल दे सकते हैं जिससे उसके निर्णय को आग्रह-युक्त बना देते हैं। द्वितीय, निरीक्षण दुहराए नहीं जाते और अपर्याप्त निरीक्षण के आधार पर अपरिपक्व परिणामों पर पहुँचने का खतरा है। तृतीय, यह घट रही घटनाओं तक सीमित है और उन पर ध्यान नहीं दे सकता जो पहले ही घट चुकी हैं। एक सीमा तक इस पद्धति को उन्नत करने के लिए और दूसरी पद्ध-

तथ्यों से अनुपूरित करके इन दोषों को दूर किया जा सकता है। व्यक्तिनिष्ठ तत्त्व और अविवेकी परिणाम निष्कासित किए जा सकते हैं। (१) उसी घटना पर अनेक अन्वेषकों के प्रस्तुत निरीक्षणों की तुलना के द्वारा, और (२) प्रयोगात्मक स्तर पर प्रयोगात्मक समाज-विज्ञान के माध्यम से यथावत किए गए निरीक्षणों को दोहराते हुए एवं परिस्थितियों को नियंत्रित करने से; जिसका अर्थ है कि, एक उन्नत स्तर पर निरीक्षण की पद्धति सामाजिक विज्ञानों में प्रयोग की पद्धति में विलीन हो जाती है।^१

२. साक्षात्कार—तथ्यों की खोज करने की दृष्टि से आमने-सामने बात-चीत करना, सामाजिक अनुसंधान की एक उपयोगी शिल्प है। यह मौन-निरीक्षण से पलायन करने वाली सूचनाएँ एकत्र करता है। अनेक विशेषज्ञों द्वारा इसका प्रयोग किया गया है—गणना अधिकारी से मतांकन अधिकारी और सामाजिक कार्यकर्ताओं से लेकर संवाददाताओं तक, लेकिन साक्षात्कार में यदि निम्नलिखित गुण हैं तो एक सीमा तक दोषों का निराकरण हो जाता है। १. वस्तुपरकता के लिए, प्रशिक्षित क्षमता, २. निर्भय होकर विषयों को प्रस्तुत करने की क्षमता और उनमें आत्मविश्वास प्रदर्शित करना, ३. पकड़ वाले प्रश्न पूछने के लिए धैर्य एवं आग्रह, यदि साक्षात्कार की सामान्य गति वांछित सूचना को न निकाल पाती हो और ४. विषयों के यदि कई आरक्षण हैं तो उनकी सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि के प्रकाश में सुदृढ़ परिणाम निकालना।

३. प्रश्नावली तकनीक—इस बात में साक्षात्कार की तकनीक से यह लाभ-प्रद है कि मुद्रित विषय के माध्यम से विस्तृत क्षेत्र में बिखरे हुए अधिकाधिक संख्या में लोगों से प्रश्न पूछे जा सकते हैं। प्रश्न तथ्यों के विषय पर या निर्णय पर हो सकते हैं। इसकी क्षमता प्रश्नों की स्पष्टता, संक्षिप्तता और विशिष्टता पर निर्भर करती है। फिर भी यह साक्षात्कार की पकड़वाली सूक्ष्मता और राधन-पूर्णता से खाली होती है।

४. लेख्य तकनीक—यह प्रलेखों एवं अन्य ऐसे ही लेखों का विश्लेषण करती है जैसे व्यक्तिगत पत्र, डायरी, जीवनी का इतिहास आदि। यह प्रलेख विविध जीवन-परिस्थितियों के प्रति तथ्यों एवं प्रतिक्रियाओं की स्मृतियों के परिणाम होते हैं, जो प्रलेख के मत में स्पष्ट या अस्पष्ट हो सकते हैं। इस तकनीक की उपयोगिता प्रलेख की प्रामाणिकता एवं उसके सम्बन्ध में व्यवहृत तुलनात्मक क्षमता एवं वस्तु-परकता पर निर्भर करती है।

अब हम अनुसंधान की पद्धतियों की चर्चा करना चाहेंगे ।

१. ऐतिहासिक पद्धति, समकालीन सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं एवं संस्कृति के ढाँचों की सम्यक् सार्थकता को ग्रहण करने के लिए इतिहास की शक्तियों एवं आन्दोलनों का विश्लेषण करती है और ऐसे विश्लेषण के आधार पर वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों की व्याख्या भी करती है । चूँकि इतिहास की अधिकाधिक विषय सामग्री अतीत में पड़ी रहती है इसलिए इस पद्धति की सफलता निम्नलिखित घटकों पर निर्भर होती है । तथ्यों का प्रामाणिक संग्रह और दूसरों द्वारा संगृहीत उन तथ्यों से इसका पुष्टिकरण ।

२. एकपक्षीय या बिलग हुई स्थिति के विरुद्ध वह सीमा जिससे अन्वेषक किसी ऐतिहासिक परिस्थिति का यौगिक या सारात्मक दृष्टिकोण ले सकता है : कहने का तात्पर्य यह है कि वह किस प्रकार विशेष तथ्यों को ऐतिहासिक तथ्यों के शेषांश से परस्पर जोड़ता है ।

३. तथ्यमूलक आँकड़ों के आधार पर वह सीमा जिससे अन्वेषक किसी विशेष युग की जनता की गत्यात्मक प्रेरणाओं में गहरी डुबकी ले सकता है या दूसरे शब्दों में किसी युग के बाह्य तथ्यों और जनता की आन्तरिक संस्कृति के रंग को परस्पर सम्बन्धित करने में अन्वेषक क्षमता की जितनी मात्रा रखता है ।

खण्ड २

समुदाय विद्यालय

समुदाय विद्यालय का उत्थान शैक्षिक समाज-विज्ञान के प्रभावों में से एक है, नया विद्यालय पहले की तरह 'बंद' या 'एकाकी' नहीं, बल्कि एक 'मुक्त-द्वार' है जो समुदाय विद्यालय के परस्पर-सहयोग को स्वीकार करता है । शिक्षकों एवं शिष्ट-नेताओं के अन्तर्गत शिष्य-समुदाय के साथ रहते हैं तथा हाथ मिलाकर काम करते हैं, समुदाय में जनता के उभयमुखी-वर्ग से मिलते हैं, और उनके साथ स्थानीय जीवन पर प्रभाव डालने वाली समस्याओं का, राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय मामलों तक विस्तृत करते हुए विवेचन करते हैं । समुदाय के जीवन में उनकी भागीदारी अनेकों रूप एवं अनेकों अवस्थाएँ ग्रहण करती हैं, प्रत्येक एक विस्तृत एवं निर्देशात्मक समुदाय-अनुभव प्रदान करता है । इन सीखे हुए अनु-

भवों का संगठन साधारणतया 'कार्य-इकाई' पद्धति से किया जाता है, किसी भी एक का उद्देश्य जीवन के विशिष्ट क्षेत्र का एक अध्ययन प्रस्तुत करता है तथा सामाजिक परिस्थितियों में अन्तर्दृष्टि देने के लिए, सीखनेवाले के प्रयोजन से इसे जोड़ना है और अन्त में सामाजिक प्रक्रिया के नियंत्रण में योगदान देने के लिए उसकी सहायता करते हुए उसका सामाजीकरण करना है। निश्चय ही कार्य-एककों का चुनाव सावधानीपूर्वक होना चाहिए, जिससे कि वे निरर्थक की अपेक्षा जीवन के सार्थक पक्ष को प्रस्तुत करें। 'कार्य-एकक' का एक वर्गीकरण बर्टोन^१ द्वारा 'विषय सामग्री एकक' और 'अनुभव एकक' के रूप में निर्देशित किया गया है; प्रथम, किसी विशिष्ट विषय सामग्री के सीखने के विषय से सम्बद्ध है और दूसरा, छात्रों के योगिक अनुभवों के विषय से। वर्गीकरण इस अर्थ में सार्थक है कि यह पर्याप्त सीखने और शिक्षुओं के सामाजीकरण के लिए अनुभवों के दोनों प्रकारों की आवश्यकता पर जोर देता है।

'अनुभव एकक' शैक्षिक समाज-विज्ञान का एक प्रधान योगदान विविध अवस्थाओं के माध्यम से विकसित होता है, जो मोटे रूप से निम्न है—

सर्वप्रथम, स्थानीय स्थिति का नियंत्रण पाने के लिए स्थानीय समस्याओं, आवश्यकताओं और साधनों का सर्वेक्षण एवं निरीक्षण का स्थान आता है। इस काम को स्थानीय क्षेत्र के विविध भागों में प्रासंगिक यात्राओं एवं विभिन्न रुचियों का प्रतिनिधित्व करने वाले स्थानीय नेताओं के साथ समस्याओं पर वाद-विवाद द्वारा पूरा किया जाता है। इसका समस्याओं के निकट अध्ययन के द्वारा अनु-गमन किया जाता है, सम्पूर्ण स्थिति का तथ्यमूलक विश्लेषण एवं संश्लेषण करते हुए, और बौद्धिक एवं वैज्ञानिक रूप से उनके आरम्भिक ज्ञान एवं अनुभव को इससे जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन के अनुभवों में क्षेत्र सर्वेक्षण, समुदाय जीवन की विविध समस्याओं एवं उच्चतम कौशल युक्त परीक्षणीय योजनाओं से सम्बन्धित वर्णात्मक और निर्देशात्मक सामग्री सम्मिलित हैं। अध्ययन अनुभवों का संगठन भाग लेने वाले व्यक्तियों के सीखने के स्तर और आयु का पूर्ण ध्यान रखते हुए किया जाता है। ऐसे अनुभव शिष्य को वैज्ञानिक तथ्य-खोज एवं तथ्य-संगठन में प्रशिक्षित करते हैं। अन्य प्रकार के अनुभव अंश-कालिक विचार-क्रम सामाजिक सेवा की विधि से समुदाय-जीवन में भाग लेने के लिए अव-

१. Vide William H. Burton: The Guidance of Learning Activities (New York, Appleton Century, Crafts Inc.), p. 245.

सरप्रदान करती है, उदाहरण के लिए अस्पतालों एवं युवक-केन्द्रों में काम करना। अधिक उन्नत अनुभव उपयुक्त सामाजिक क्रिया के लिए बनाई गई योग्यतापूर्वक योजना सम्बन्धी हैं। समाधान पाने एवं क्रिया में गहराई से उतरने के लिए उत्साहित करने में ये बुद्धि-युक्त मानसिक अभिनय, स्थानीय परिस्थितियों के सुचारु एवं पद्धतिमूलक अध्ययन को उपलक्षित करते हैं और ऐसी योजनाओं की भी शामिल कर सकते हैं, जैसे नगर के चारों ओर का सौंदर्यीकरण, सड़क-निर्माण और तैराकी-तालाब—निश्चय ही ये सब भाग लेने वाली की आयु के स्तर पर, और सामग्री एवं समुदाय के मानवीय साधनों पर निर्भर करते हैं। दूसरे स्तर पर ये अनुभव समन्वयात्मक साधनों से अन्तर-व्यक्तिगत एवं सुपरिचित जीवन के तनावों एवं संघर्षों को पूरा करने के लिए समुदाय के नेताओं के साथ समितियों के गठन को भी शामिल कर सकते हैं।

न केवल स्कूल ही समुदाय के पास जाता है बल्कि समुदाय भी स्कूल में सम्बन्ध स्थापित करता है। सर्वप्रथम शिष्यों के द्वारा चारों ओर के समुदाय-जीवन से जो निरीक्षण-मूलक सामग्री एकत्रित होकर स्कूल में सीखने की प्रक्रिया के माध्यम से आत्मसात् की जाती है, इस प्रकार शैक्षिक प्रक्रिया के प्रति समुदाय को अनुकूलन प्रदान करती है। द्वितीय स्थान पर व्यक्तिगत संपर्कों एवं साधों की विद्यार्थियों द्वारा तैयार की गई प्रश्नावलियों के प्रति समुदाय के उत्तरों की व्यापक विविधता से प्राप्त वास्तविक जीवन अनुभव और ऐसी ही पद्धतियाँ विद्यार्थियों के ज्ञान के लिए उपयोगी योगदान दे सकती हैं। ये अनुभव सामाजिक नाटक में उपयोग में लाए गए हैं, जिनमें बच्चे अभिभावकों एवं समुदाय के अन्य चरित्रों की भूमिका प्रस्तुत करते हैं, जो उन्हें एक या दूसरी चीज के लिए प्रभावित करती है। अध्यापन की यह नई विधि स्वस्थ प्रशिक्षा का परिणाम है जो उन्हें निकट से समुदाय और पारिवारिक जीवन के निरीक्षण करने में प्रदान की जाती है। संयोगवश शिक्षा में बच्चों द्वारा अभिनीत पात्रों का विविध कौशल, जीवनीमूलक तुलनाओं, स्थानीय रीतियों और व्यक्तिगत विशेषताओं के सम्बन्ध में सूचना देने के लिए शिक्षकों द्वारा उपयोग किया जा सकता है और यदि ठीक नियोजन किया गया हो तो सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मूल्यों के सम्प्रेषण में यह सुदृढ़ साधन सिद्ध हो सकता है। इन विधियों के अतिरिक्त, स्कूल के प्रति समुदाय का योगदान अधिक बोधगम्य रूपों में देखा जा सकता है, जैसे सामर्थ्य के अनुसार आर्थिक सहायता, स्कूल की विविध योजना एवं सलाहकार समितियों में समुदाय के नेताओं का आह्वान विद्यार्थियों के लिए स्थानीय व्यापारों द्वारा

प्रशिक्षा-अनुभव प्रदान करना, और सामान्य रूप में समुदाय का स्वतंत्र रूप से स्कूल के कार्यक्रमों एवं उत्सवों में भाग लेना ।

समुदाय विद्यालय का यह कार्यक्रम पुस्तकों में प्रस्तुत समस्याओं और संवेदनशील पात्रों की अपेक्षा छात्रों को वास्तविक जनता और वास्तविक जीवन के सम्पर्क में ले आता है । यह उनकी समायोजनात्मक क्षमता को परखता है और उनका विस्तार करता है, सहयोग में उन्हें नए रास्ते दिखलाता है, उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान प्रदान करता है एवं समस्याओं का समाधान करने और अनुसंधान की मौलिक विधियों की खोज में उन्हें प्रशिक्षित करता है, क्रिया के लिए उनकी प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करता है, उन्हें जीवन का आनन्द और अर्थ प्रदान करता है, जीवन में सामाजिक उद्देश्यों के प्रति उन्हें उच्च स्तर पर सचेत करता है, और चिन्तन एवं व्यवहार में उन्हें उत्तरदायी, आत्मनिर्भर और रचनात्मक बनाता है । समग्र रूप से व्यक्तित्व के ये आपातिक गुण, सामुदायिक जीवन में सुनियोजित भागीदारी के परिणामस्वरूप, सामाजिक जीवन की ठोस बुनियादों की ओर उन्मुख करते हैं । इस प्रसंग में प्रजातंत्र के लिए नैतिकता स्पष्ट है; जीवन्त एवं रचनात्मक रूप से स्थानीय स्तर पर कार्य करना और न कि उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर । क्योंकि जब सभी लोग सक्रिय रूप से समुदाय जीवन में भाग नहीं लेते और निष्क्रिय रूप से एवं अनिच्छा से सिर्फ प्रजातंत्र की मांगों के प्रति स्वयं उन्मुख होते तो प्रजातांत्रिक प्रक्रिया निस्सन्देह नियंत्रण के बाहर जा सकती है । इसके तार्किक परिणाम सामाजिक संगठन में निष्क्रियता, दमन और सर्वाधिकारवाद हैं ।

विद्यालयीय पाठ्यक्रम और कार्यक्रम

उपर्युक्त विवेचन से परिणाम निकलता है कि विद्यालयीय पाठ्यक्रम समाज और जीवन-केन्द्रित होना चाहिए, प्राचीन की तरह पुस्तक-केन्द्रित नहीं । समुदाय ही बच्चों की पहली पुस्तक होगा । समाजशास्त्रीय दृष्टि से पाठ्यक्रम का प्रधान उद्देश्य सम्पूर्ण जीवन और विद्यालय के कार्यक्रम को इस प्रकार संगठित करना है जिससे बच्चों के व्यवहार एवं दृष्टिकोण में सामाजिक रूप से वांछनीय परिवर्तन उत्पन्न हों । पाठ्यक्रम, हर तरह से बच्चे की तात्कालिक रुचियों एवं उनकी व्यक्तिपरक जरूरतों का पालन करते हुए, उन्हें व्यापकतर सामाजिक जगत, इसकी वास्तविकताओं और मूल्यों की ओर उन्हें उन्मुख करे । इसे अतीत और भविष्य के साथ वर्तमान को देखने में उनकी मदद करनी चाहिए जो सामाजिक मूल्यों के अध्ययन के रूप में मानवता का सम्मिलित उद्यम है । जब तक अतीत सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों और बुद्धियुक्त सामाजिक योजना की शब्दावली

में दृष्ट भविष्य और उच्च रूप से प्रयोजनात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं की शब्दावली में असफलताओं एवं सफलताओं के लिए परख नहीं लिया जाता, तब तक पाठ्यक्रम सिर्फ अव्यवस्थित दृष्टिकोण या प्राचीन इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों के मृतप्राय तथ्य ही प्रदान कर पाता है। इस प्रकार यह स्वतन्त्र करने वाले एवं समाजीकरण वाले प्रभाव को मुक्त करने में असफल हो जाता है, फलतः इसे सामाजिक प्रक्रिया और सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों की पूरी सार्थकता को प्रस्तुत करना चाहिए, संगृहीत अनुभवों को प्रदान करना चाहिए और उन्हें प्रजा-तांत्रिक अभिप्रायों, कौशलों एवं अभ्यासों में प्रशिक्षित करना चाहिए। यह उन्हें अपने निजी व्यक्तित्वों के विकास और साथ ही समाज-कल्याण के लिए उत्तरदायी बनाये—सारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ, भावनात्मक रूप से प्रौढ़, बौद्धिक रूप से स्पष्ट और ईमानदार, नैतिक रूप से उच्चमत्ता और आत्म-विश्वासी और सामाजिक रूप से सर्वर, सहयोगी एवं समर्थ। संक्षेप में इसे जीवन-दर्शन पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए तथा खास उद्देश्य या प्रयोजन को क्रियान्वित करना चाहिए जो जीने के लिए मनुष्य के लिए कारण है।

पाठ्य-क्रम किसे तैयार करना चाहिए ?

समुदाय-विद्यालय का पाठ्यक्रम प्राचीन विद्यालय के पाठ्यक्रम से भिन्न, जो ऊपर से ठोसा जाता है और शिक्षक एवं शिष्य दोनों को अनजाने पकड़ता है, समुदाय के प्रतिनिधि-मूलक वर्गों के सहयोग से विकसित किया जाना चाहिए। शिक्षकों, छात्रों, विद्यालय-प्रबन्धकों, अभिभावकों और समुदाय-नेताओं को एक साथ समितियों की रचना करने में समर्थ होना चाहिए, और सम्मिलित प्रयास के द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रम तैयार करना चाहिए। इस तर्क के विरुद्ध कि यह प्रक्रिया समस्त कार्य को उलझा देने के लिए बाध्य है, उपरोक्त सांकेतिक विधि के अनुसार समुदाय-विद्यालयों के लिए सफल पाठ्यक्रम निर्माण के सुदृढ़ प्रमाण विद्यमान हैं। निश्चय ही यह सहयोग प्रत्येक को शिक्षा के कार्य में संलग्न कर देता है, अनुभवों की व्यापक श्रेणी को एकत्र करता है, अनेक जरूरतों, हितों और प्रयोजनों का उत्तर देता है; पाठ्यक्रम निर्माण उस प्रकार के सम्पूर्ण समुदाय का कार्य हो जाता है जो स्थानीय मानव-प्रतिभा एवं प्रजातांत्रिक परिस्थितियों की सुविधानुसार समितियों के माध्यम से कार्य करता है। ग्राहम वाल्लास ने ठीक ही जोर दिया था कि “सम्यता, यद्यपि विशिष्ट शिक्षक के आर्थिक रूप से संगठित कार्य पर निर्भर है, इस तथ्य पर भी आधारित है कि सम्पूर्ण जाति विशिष्ट शिक्षक है और अवश्य ही होनी चाहिए।”

पाठ्यक्रम के निर्माण में शिक्षकों एवं शिक्षार्थियों की सक्रिय एवं सहभागिता भागीदारी उनके लिए एक अतिरिक्त सार्थकता रखती है। यह उनकी स्वतन्त्रता बोधिता की परख को उत्तेजित करती है। शैक्षिक-प्रक्रिया को पूजा के लिए निर्विकृत देवता नहीं बनाती, बल्कि व्यक्तिगत बनाती है, विषय-वस्तु एवं अनुभवों को अतीत की उपलब्धियों से जोड़ती है और वर्तमान एवं भविष्य के व्यक्तिगतों के सिर पर भार नहीं बनाती बल्कि इस बोझ को हल्का करने की प्रयत्न समझती है। इस प्रकार उन्हें जीवन का वास्तविक आनन्द प्रदान करती है। समिति-बोध, जो प्रजातन्त्र का एक अविभाज्य उपादान है, जीवन-मर्मन्त्र वेदा के लिए विकसित किया जाना चाहिए। वे समितियों की प्रजातांत्रिक समर्थता को समझ कर उन्हें संगठित कर संदेहवादियों के समूह में शामिल न हों, जो समर्थन करते हैं कि समितियाँ "चिन्ता का एक समूह है जो व्यक्तिगत काम के कुछ नहीं कर सकती और सामूहिक रूप से तय करती हैं कि कुछ भी नहीं किया जा सकता।"

इस दृष्टि से कि शिक्षक, जो अंततोगत्वा समुदाय विद्यालय-संघटन की शूल हैं, पाठ्यक्रम निर्माण में प्रभावोत्पादक दायित्व लेने में सक्षम हो सकें, वे स्वयं अपने अनुभवों का सदैव पुनः मूल्यांकन करते रहें, त्यागते रहें, नवीनीकरण करते रहें और सीखने वाले होंगे चाहिए। लेकिन यह अभी संभव है कि यदि वे स्वयं समुदाय-जीवन में सक्रिय एवं उपयोगी भाग लें। यद्यपि शैक्षिक रूप से यह ज्ञात निर्दिष्ट नहीं की जा सकती है और शिक्षक समुदाय द्वारा अपना पूर्ण प्रयत्न करने के लिए उत्साहपूर्वक उपदेसित भी किये जाते हैं, यह क्षेत्रों में जहाँ व्यावहारिक और विवादास्पद समस्याएँ उत्पन्न कर देता है, जहाँ विशेष रूप से समाज का सर्वाधिक ठाँवा शिक्षक को निम्नतल में स्थान देता है, और जहाँ समाज-कर्म उनके विरुद्ध अत्यन्त असन्तुलित है। इस व्यवस्था को आप शिक्षान्त में कुछ भी कहें यह स्पष्टतः प्रबोधन-आधुनिक एवं समाज-शास्त्रीय कारणों से समुदाय-जीवन के लिए अत्यधिक अस्वास्थ्यकर है। इस सब के बावजूद भी समुदाय-विद्यालय का नीति-शास्त्र माँग करता है कि शिक्षक विद्यालय में अपनी प्रतिभा नहीं बसाते। समुदाय जीवन में उनकी गम्भीर भागीदारी चाहे जिस स्तर की भी हो, समुदाय के वातावरण, भौतिक रूप-रंग और फलतः समाज के प्रति अपनी अवस्था, उपभोगिता और योग्यता बदलने के लिए बाध्य है। उच्चस्तरीय समुदाय अनुभवों की तरह वे प्रबोधन-पाठ्यक्रम, अन्तर-विद्यालय शिक्षक-संघ, सामाजिक टुकड़ी आदि संगठित कर सकते हैं। उपयोगी समुदाय कार्य करने के लिए

अवसरों की कमी नहीं है, यदि शिक्षक सम्यक् सामाजिक अभिप्राय विकसित कर लें और कार्य का सम्यक् दर्शन रखते हों। अपनी उत्तरदायी स्थिति के कारण स्कूल और समुदाय में शिक्षक का कार्य व्यापक अनुभव, आलोचनात्मक चिन्तन और व्यावहारिक योग्यता के अनुसार नेताओं के सदृश्य है जिससे वे मुख न मोड़े और फलतः निरुत्तर विश्वसनीय रूप से उच्चस्तरीय उत्तरदायित्व को क्रियान्वित करने में समर्थ हों। इस दिशा में वे भली भाँति कार्य करने के लिए बाध्य हैं। यदि वे स्वयं की सुविधानुसार सेवाएँ प्राप्त कर के विद्यालय-समाज-वैज्ञानिक और विद्यालय-मनोवैज्ञानिक से सम्यक् स्थापित करें। उनका विशिष्ट निर्देशन, खास तौर पर जब कि शिक्षक स्वयं समाज-विज्ञान और प्रयोगशाला के विषयों की पर्याप्त पृष्ठभूमि से अनभिज्ञ हों, सचमुच मूल्यवान है, क्योंकि वे उनकी कठिनाइयों में सहायक हो सकते हैं, साथ ही एक ओर बच्चों के अन्तःसमूह-जीवन और अन्तःव्यवहार की सम्पूर्ण श्रेणी को अत्मसात् करते हुए स्कूल कार्यक्रम से सम्बन्धित स्वस्थ विज्ञान का एवं दूसरी ओर व्यवस्थाओं के पाठ्य-क्रम एवं जीवन-अनुभवों के भविष्य का संकेत करते हैं।

समाज का यह कर्तव्य है कि वह अधुनातन तथ्य-मूलक आंकड़े प्राप्त करने और साथ ही प्रश्नावलियों के माध्यम से शिक्षण-व्यवसाय के प्रति जनमत प्राप्त करने के लिए एवं उनके अभिप्रायों का मूल्यांकन करने के लिए शिक्षक के समुदाय एवं पारिवारिक जीवन का राष्ट्रीय सर्वेक्षण प्रस्तुत करने के लिए आगे आये। यह निर्देशात्मक अनुभव एवं उद्घाटक अनुभव हो सकता है और व्यवसाय के प्रति जन-अभिप्राय के स्वस्थतर संकलन की आवश्यकता है जिससे इसका भाव्य अत्यन्त महारई से बँधा हुआ है।

एक महत्वपूर्ण तथ्य के रूप में, यह कहना आवश्यक है कि शिक्षक पुनर्निर्माण में अपनी शिक्षा और कौशल को परखने के लिए और अपनी समझ के अनुसार प्रक्रिया को दिशा देने में, प्रजातांत्रिक सीमाओं के अन्तर्गत ही पर्याप्त स्वयंमत्ता रखता है। उसका सुरक्षा एवं स्वतंत्रता का बोध, उसके द्वारा पूर्णतः न्याय-संगत होकर स्कूल के प्रधानाध्यापक एवं शासकीय संस्था के प्रजातांत्रिक सम्बन्ध का उचित रूप से रक्षित होना चाहिए और उस पर अधिकारीवाद की प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए।

विद्यालय के भीतर मानवीय सम्बन्ध की स्थापना शिक्षा की प्राथमिक समस्या है। उन्हें योग्यतापूर्वक नियंत्रित एवं निर्देशित किए बगैर शिक्षण-प्रक्रिया प्रत्येक बार खतरे में पड़ती जाती है। उसहरण के लिए बच्चे को कुव्यवस्थित

परिवारों से, प्रतियोगिता-मूलक संस्कृति या रंगभेद संस्कृति से आते हैं, विद्यालय में आक्रामक व्यवहार का विशिष्ट प्रदर्शन करते हैं और समूह में सम्मिलित होने या समस्याओं में भाग लेने के लिए डरा-घमका सकते हैं। परिणामस्वरूप विविध समूह निर्मित हो जाते हैं—डरानेवाले नेता, जिद्दी लड़के, कामचोर विरोधी पक्ष इत्यादि। इसका परिणाम मित्रता के आनन्द की अपेक्षा भय, सहयोग एवं प्रेम की अपेक्षा ईर्ष्या और आक्रमण होता है। शिक्षक को चाहिए कि वह विद्यालयीय मनोवैज्ञानिक एवं विद्यालयीय समाज-वैज्ञानिक की सहायता से इन समाज-विरोधी समूहों को प्रजातांत्रिक समूहों में परिवर्तित करके समस्या का हल करे। प्रजातांत्रिक समूहों की विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं : मित्रता एवं समानता का बोध, जाति, रंग या धर्म के आधार पर नहीं बल्कि सदस्यों के गुणों के आधार पर उनका चुनाव, पारस्परिक वादविवाद के माध्यम से संघर्षों का निर्णय, एक-दूसरे के दृष्टिकोण और आलोचना की सहनशीलता, यह बोध कि समूह सामान्य हितों एवं प्रयोजनों पर आश्रित है और व्यापक समस्याओं के उपस्थित होने पर दूसरे समूहों के साथ सहयोग की इच्छा की तत्परता, आवश्यकता पड़ने पर सामान्य कार्य के लिए एक समूह से दूसरे समूह में सम्मिलित होने की नम्रता और समूह के अन्तर्गत ही समूह के नेतृत्व में दूसरों के साथ हिस्सा लेना, समूह भक्ति, अन्य समूहों के स्वार्थों के विपरीत न जाना।

कक्षा-क्रमों, आयु-स्तरों, सामान्य रुचियों आदि पर आधारित विविध विद्यालयीय समूहों को एक प्रजातांत्रिक परिवार में भली प्रकार बाँधना चाहिए क्योंकि केवल तभी बच्चे के मानसिक स्वास्थ्य के अतिरिक्त गतिर्वर्धित सामाजिक शिक्षण और समूह-कार्यक्षमता के लिए वातावरण को सुरक्षित किया जा सकता है। तय है कि समूह सीखने के फलप्रद स्रोत हैं और शिक्षक का कौशल परिस्थिति का पूर्ण रूप से लाभ उठाने में ही निहित है। एक अत्यंत साधारण परिचलित तकनीक है प्रक्षेपण-विधि या सामूहिक क्रिया जिसमें योजना कल्पित की जाती है और समूह के द्वारा उसे प्रत्येक अवस्था में एवं विस्तृत विवरण के साथ प्रस्तुत किया जाता है एवं पूर्वनियोजित श्रम-विभाजन एवं सामान्य सहयोग के साथ क्रियान्वित किया जाता है। यह संघर्षों को कम करते हुए सहयोग का निर्माण करता है, सीखने के कौशल को उन्नत करता है और प्रत्यक्रम से कार्यक्षमता के परिणाम को अधिकाधिक बढ़ाता है। समूह शिक्षा को प्रेरित करने एवं बच्चों के व्यवहार में सुयोग्य परिवर्तन लाने एवं समूह को पुरस्कृत करने के लिए अयुक्त साधनों में से कुछ ऐसे भी जोड़े जा सकते हैं, जैसे संवेगों एवं हितों के

प्रति अपील, वांछित परिणामों के प्रति कुछ कार्य-प्रक्रियाओं का प्रदर्शन, जीवनी-मूलक रेखाचित्रों के माध्यम से प्रेरणा का संचालन करना, चलचित्रों, यात्राओं आदि अनुभवों की विविधता, परिस्थितिमूलक नियंत्रण या परिस्थितियों के परिवर्तन एवं व्यवस्था केवल दृष्टान्त के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। सामूहिक सीख को प्रेरित करने के लिए कोई सामान्य परिस्थितियाँ सार्वभौमिक उपभोग के लिए स्थापित नहीं की जा सकतीं, क्योंकि प्रत्येक की निजी समस्याएँ होती हैं और विविध साधनों के प्रति अनेक प्रकार से प्रतिक्रिया करती हैं। यहीं पर रचनात्मक शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है।

समूह कार्य के लिए सामान्य रूप से प्रयुक्त शिक्षा-पद्धतियों में, कार्य एवं व्यवहारात्मक समस्याओं का समाधान करने के लिए समिति या सभा-पद्धतियों को भी शामिल किया जा सकता है, जैसे कुछ भौतिक सामग्री उत्पन्न करना, और क्रम से संघर्षों को हल करना, सामाजिक नाटक, समूह समालाप इत्यादि।

उपरोक्त पद्धतियों के माध्यम से सांगोपांग रूप से नहीं, बल्कि दृष्टान्त की विधि से समूह की क्षमता अत्यधिक बढ़ गई है और उपलब्ध परिणाम व्यक्तिगत आधार पर किए गए कार्य की अपेक्षा अधिक अच्छे हैं। इसके अतिरिक्त समूह कार्य की प्रक्रिया छात्रों को आत्मविश्वास एवं अस्तित्व प्राप्ति का संतोष एवं बोध देकर जीवन की विधियों में प्रशिक्षित करता है, जो आगे सहयोगी रहन के लिए अधिकाधिक प्रेरित सिद्ध होता है और इस प्रकार क्रमिक रूप से सहयोगी व्यवहार का सुदृढ़ ढाँचा विकसित हो जाता है। देखने में आया है कि जहाँ समूह के भीतर ही व्यक्ति कार्य से रहित होते हैं या आक्रामक रुख अपनाते हैं, वे समूह क्रिया के प्रति अधिक सम्मान रखते हैं। फलतः समूह नेताओं के अन्तर्गत विभिन्न छात्र-समितियों का निर्माण कर, जनतांत्रिक रूप से कार्य करते हुए, विद्यार्थियों को प्रशिक्षित करने की अभीष्टता है, जिससे वे स्कूल के अन्दर ही अनुशासन की समस्याओं को स्वयं हल करें।

मानव सम्बन्धों में कुव्यवस्था परिणाम में न केवल व्यवहारात्मक ही है बल्कि शब्दिक कौशलों को अधिकाधिक नष्ट करती है। इस प्रकार 'मैडिसन शिक्षकों का प्रयोग' ने विवरण प्रस्तुत किए हैं कि भाषागत कठिनाइयाँ—

१. Vide J. Murray Lee and Dorris May Lee: *The Child and His Curriculum*, p. 213, Appleton Century Crofts Inc., New York.

जैसे अपर्याप्त शब्दावली, समय पर सम्यक् शब्दों के प्रयोग का अभाव, भाषण एवं लेखन में समग्रतः कमजोर अभिव्यक्तियाँ—व्यक्तित्व की कठिनाइयों से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार शिक्षक को चाहिए कि वह अनावश्यक रूप से ऐसे मामलों पर वक्तृत्व-कला या व्याकरण के नियमों के साथ ही न जूझता रहे बल्कि कठिनाई को कु-अनुकूल व्यक्तित्व में ढँहना चाहिए।

सामाजिक उत्तराधिकार और सामाजिक नियंत्रण के विशिष्ट क्षेत्रों के प्रेषण में, उनके दिखावे के लिए ही नहीं बल्कि उसकी प्रभावोत्पादकता के लिए सदैव नई पद्धतियों की खोज करनी है। शिक्षण-पद्धतियों में शैक्षिक समाज-शास्त्री को अपना ध्यान इस बात पर केन्द्रित करना चाहिए कि किस प्रकार अतिरिक्त कक्षा-प्रक्रियाओं और वर्ग-कक्षा के प्रति शिक्षण और कौशलों में शिष्यों को उत्प्रेरित करना है जिससे वे स्वयं एवं सामाजिक परिस्थितियों के प्रति समायोजन में प्रभावोत्पादक रूप से प्रवृत्त हो सकें। पद्धतियों की क्षमता इस सीमा पर निर्भर करती है, जिस सीमा तक सामाजिक शक्तियों, विद्यालय एवं समुदाय जीवन की संभावनाओं एवं अवसरों को अल्पतम संभव समय में अत्यधिक लाभ के लिए उपयोग में लाया जाता है—और इसमें इतना और जोड़ा जा सकता है कि आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों में अत्यधिक मितव्ययिता के साथ।

पाठ्यक्रम व्यक्तिगत बालकों की विकासमूलक माँगों, निरन्तर विकास-मान समुदाय की परिवर्तनशील जरूरतों एवं आवश्यकताओं से निपटने के लिए नम्यशील एवं सांगोपांग होना चाहिए। इस भावना से पुस्तक में दी गई यहाँ प्रत्येक चीज अवश्य ही सीखनी है, इसे विषयक्रम से अतिसंयम के साथ प्रस्तुत नहीं करना चाहिए, बल्कि एक ओर उसे व्यावहारिक सामाजिक समस्याओं के आसपास विकसित होना चाहिए, दूसरी ओर व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के आसपास। स्कूल-क्षेत्र के आसपास व्यक्तिगत कौशलों के माध्यम से सामग्री के उपयोग पर इसे जोर देना चाहिए और कामचलाऊ विषय-सामग्री को चुनने की अपेक्षा उसी को विषय-वस्तु बनाना चाहिए। वास्तव में ढीले ढाँचे में पाठ्यक्रम एवं विषय-सामग्री वर्तमान विद्यालय एवं समुदाय समस्याओं के आसपास शिक्षकों के सहयोग से स्वयं छात्रों को ही विकसित करनी चाहिए। बुनियादी शिक्षा जादोऊन, शैक्षिक समाज-विज्ञान से शिक्षा को मिली समाज-शास्त्रीय प्रेरणा का ही परिणाम है। विषय-सामग्री का संगठन बुनियादी शिल्पों के चारों ओर ही हुवा है, और यह स्थानीय समुदाय एवं भौगोलिक साधनों को अपनी सामग्री के अनुरूप इस्तेमाल करती है या सरल से जटिल की ओर, स्थानीय समु-

दाय से विश्व की ओर, मूर्त से अमूर्त की ओर, ज्ञान की अकेली इकाइयों से उनके संघात की ओर, एकात्मकता से सारात्मक की ओर विस्तार का विकास करती है। उदाहरण के लिए, इस प्रकार उनके बीच विद्यालय के उद्यान एवं क्षेत्र, वनस्पति-शास्त्र एवं कृषि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, क्षेत्रों एवं समूहों में उनके व्यावहारिक कार्यों के माध्यम से उनकी रुचियों को उत्तेजित करके विद्यार्थियों के लिए सभी आवश्यक अनुभवों को प्रस्तुत करने में सक्षम हो। कार्यों की विशिष्ट योजना की आवश्यकतानुसार सूचना लेकर इसे न्यून कर दिया जा सकता है, जिसमें कि छात्र तत्काल व्यस्त हों। पुस्तकें व्यावहारिक साधनों के माध्यम से उनके परवर्ती शिक्षण को उत्तेजित करने के लिए व्यावहारिक ही होनी चाहिए, न कि उनके सीखने की प्रक्रिया की सर्वेसर्वा। उसी प्रकार विद्यालय मुद्रण अधिगम प्रदान करे, और क्रमिक रूप से मुद्रण संगठन के व्यापारिक पहलू के विषय में सूचनाएँ विकसित करे, और मुद्रण कानून एवं विधान-सभा के इतिहास और प्रजातंत्र एवं ऐसी ही समस्याओं में स्वतंत्रता एवं मुद्रण के कार्यों को अध्ययन की ओर बढ़ाए। पुनः किसी विशिष्ट समस्या पर जनता का मतसंग्रह पूर्ण सीख प्रस्तुत करता है जिसे प्रत्यक्षतः पुस्तकों से नहीं प्राप्त किया जा सकता। उदाहरण के लिए इस बात पर मत प्राप्त किए जा सकते हैं कि क्या हाई स्कूलों में सहशिक्षा होनी चाहिए या नहीं। समूह एकत्र होकर और समस्या के अनेक विशिष्ट पहलुओं से सम्बन्धित कारणों को पूछते हुए व्यापक प्रश्नावलियाँ तैयार करते हैं। वह विद्यालय में और साथ ही समुदाय में बाँटी जाती हैं, और समूह के सदस्यों में उनपर विवाद होता है, और अन्त में परिणामों को सांख्यिकीय विधि से सारणीबद्ध कर दिया जाता है। यह उन्हें कार्य की वैज्ञानिक पद्धति सिखलाता है, समस्या के अनेकों पहलुओं के प्रति उन्हें सचेत करता है, और आगे अध्ययन एवं अनुसंधान के लिए उन्हें प्रोत्साहित करता है।

विद्यालयीय कार्यक्रम को सामाजिक अनुकूलन प्रदान करने के लिए समुदाय विद्यालय में सामाजिक अध्ययनों की शिक्षा एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करती है। ऐसे विषयों का अध्ययन, जैसे संस्कृति, संस्थाएँ, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक नियंत्रण आदि विभिन्न स्तरों पर प्रारम्भिक सामाज-विज्ञान एवं नागरिक-शास्त्र की विधि से प्रस्तुत किए गए हैं। इतिहास के महान् व्यक्ति के सिद्धान्त को अस्वीकृत करते हुए, इतिहास का अध्ययन जातीय प्रक्रिया एवं उपलब्धि के दृष्टिकोण से संगठित किया जाता है, न कि कुछ राजा-रानियों या राजसभा के व्यक्तित्वों के दृष्टिकोण से। ऐसे व्यक्तित्वों के जीवनीमूलक अध्ययन, जिन्होंने मानवीय कल्याण एवं मूल्यों में योगदान दिया है सामाजिक प्रक्रिया के व्यापक आन्दोलनों

के सम्बन्धित एवं उनके अधीन कर दिये गये हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का अध्ययन करते हुए, विद्यार्थियों को नायकों के चारों ओर आंदोलन को एकत्र करने की अपेक्षा, आंदोलन के चारों ओर नायकों को इकट्ठा करना होगा, क्योंकि समाज-शास्त्रीय रूप से, नायक लोग सामाजिक रिक्तता में उत्पन्न नहीं हुए, बल्कि समाज के प्रभावोत्पादक वातावरण में उत्पन्न हुए हैं, उनके व्यक्तित्व उसी पर निर्भर हैं, और इसलिए समाज इस विषय में अवश्य ही अग्रगामी है। इसके अतिरिक्त यह विशिष्ट अध्ययन विषय के लिए समकालीन घटनाओं एवं उनकी संभावनाओं के अध्ययन से सम्यक् रूप से सम्बन्धित होना चाहिए। अध्ययनों का अन्तिम उद्देश्य आकस्मिक सम्बन्ध एवं एक योगिक अनुद्श्य प्राप्त करने के लिए समाज के लिए विभिन्न क्षेत्रों में सीमाबद्ध अध्ययन से जुड़ा हुआ होना चाहिए। ऐसा उसी परिस्थिति में सम्यक् है कि एकीकृत मूल्य एवं संगठित प्रवृत्तियाँ छात्रों के स्वभाव का अंग बन जाती हैं।

सामाजिक अध्ययन, विषय-सामग्री का एक पक्ष मात्र है जो अध्ययन के पाठ्य-क्रमों के अन्तर्गत सब कुछ को शामिल करता है जैसे पाठ्य-पुस्तकें, दृश्य-श्रव्य, साधन, क्षेत्र-यात्राएँ एवं शेष सारे साधन, जिनके माध्यम से सांस्कृतिक परम्परा छात्रों तक पहुँच जाती है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विषय-वस्तु का प्रयोजन शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य को प्राप्त करना है, इसे वर्ग-कक्षा एवं पद्धतियों की प्रक्रियाओं से इस तरह जुड़ा हुआ होना चाहिए कि यह सामाजिक नियंत्रण का एक प्रभावोत्पादक साधन सिद्ध हो।

विषय-वस्तु को एक ओर तीव्र गतिशील सामाजिक प्रक्रिया की माँगों एवं निरंतर विकासमान जरूरतों से एवं दूसरी ओर व्यक्ति की जरूरतों एवं हितों की विविधता से निपटने के लिए बहुमुखी होने की जरूरत है। आधुनिक सम्यता मात्रिकी प्रगति के उत्थान में बटिल हो गई है और व्यक्ति के लिए, उसके आत्म-साक्षात्कार के लिए और समाज-कल्याण के लिए अनेक प्रकार की अनिवार्यता निर्मित कर चुकी है। इसलिए विषयवस्तु को एक स्पष्ट क्रमशृंखला में हमेशा के लिए निर्धारित नहीं करना चाहिए। उदार एवं तकनीकी विषयों में शिक्षा का प्राचीन संकीर्ण विभागीकरण आज के व्यक्ति एवं समाज की जरूरतों का कठिनाई से उत्तर दे पाता है। सांस्कृतिक एवं सामाजिक पिछड़ेपन की पूर्ति के लिए, परिवर्तन करने या प्राचीन का त्याग करने योग्य होने के लिए विषयवस्तु के अगले

क्षेत्रों एवं संभावनाओं को विकासमान अनुसंधान के प्रकाश में खोजने की एक बहुत बड़ी आवश्यकता है।

शिक्षण-क्षेत्र के अन्तर्गत विद्यालयीय पुस्तकालय का प्रथम स्थान है। समुदाय-विद्यालयीय-पुस्तकालय एक तरह का कारखाना है, जहाँ पहले से ही प्रदत्त एवं स्वयं छात्रों द्वारा एकत्रित कच्ची सामग्रियों से एक अधिगम अनुभव की पुनर्रचना एवं मूल्यांकन होता है, जहाँ बिखरा हुआ ज्ञान पुस्तकालय में प्रदत्त साधनों से पुनः निर्मित किया जाता है। जहाँ छात्र लोग क्षेत्रीय कार्य से लौटकर सुसंग्रहित पुस्तकों एवं आलेखों की सुपाच्य सहायता के साथ अपनी सीख को आत्म-सात एवं घनीभूत करने के लिए क्रमिक रूप से लौटते हैं। वास्तव में समुदाय-विद्यालयीय-पुस्तकालय, तथ्यमूलक आँकड़े, सर्वेक्षण, आलोचनाएँ, समितियाँ एवं ऐसे ही अन्य प्रलेखों के विस्तृत संग्रह रखें, जिसे छात्रों की पीढ़ी ने स्वयं विद्यालय के निरीक्षण से संग्रहीत किया हो। ऐसे प्रलेख उसी समस्या पर विशेषज्ञों की पुस्तकों के साथ व्यवस्थित ढंग से बँधे हुए या सम्बद्ध होने चाहिए। ये बँधे हुए प्रलेख क्रम से वर्गों या समूहों के नाम से युक्त हों जिन्होंने कार्य को सम्पन्न किया हो। अध्ययन के लिए ऐसी एक प्रेरणा, निर्देशन और अनुसंधान-पद्धति कोई भी समुदाय विद्यालय प्रस्तुत करने से नहीं चूकता, मद्यपि यह दूसरी बात है कि कोई एक रूप व्यवहार स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि सब कुछ विशिष्ट परिस्थितियों पर निर्भर करता है। नया विद्यालयीय पुस्तकालय अधिक से अधिक एक कारखाना है, जबकि वह एक भोजनशाला नहीं जहाँ विद्यार्थी जाएँ और इच्छानुसार परोसा हुआ भोजन प्राप्त करें।

व्यावसायिक निर्देशन एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण समाज-विज्ञान एवं यांत्रिकीय सम्यता के प्रभाव के अन्तर्गत नई शिक्षा के महत्वपूर्ण पक्ष हैं। मानसिक एवं श्रमिक कौशल में पर्याप्त क्षमता समाज की सुरक्षा, वृद्धि और कल्याण के लिए अत्यावश्यक है। इसलिए तो युगों तक समाज के जिस सांस्कृतिक स्तर ने अनुमति दी, स्थूल रूप से या वैज्ञानिक रूप से समाज ने श्रम-विभाजन या संगठन किया और आज भी उसमें उलट-फेर नहीं हुआ जिसे विशेषतः उत्साह ने उन संस्कृतियों में मनुष्य की प्रतिष्ठा को निर्बल कर दिया है। जहाँ व्यावसायिक समूह सामाजिक अनुज्ञाप्ति से निर्धारित वर्ग हो चुके हैं और जो इसके सदस्यों को एक व्यवसाय में जाने की सुविधा नहीं देते। पतनोन्मुखी भारत में जातिप्रथा इस दृष्टि से एक उदाहरण है। इतना होने पर भी कार्य की पृष्ठभूमि में एक स्वस्थ समाज-विज्ञान है जिसे प्रत्येक संस्कृति ने अपने निजी शासकीय मूल्यों की शब्दावली में कल्पित किया

है। भारतीय 'धर्म' या कर्तव्य की अवधारणा और ईसाई 'कर्तव्य ही पूजा है' सामाजिक सार्थकता से परिपूर्ण हैं। इसलिए कार्य खामखाह घुटनशील और नीरस चीज नहीं है बल्कि सामाजिक जीवन की आत्मा है। आज प्रजातंत्र अधिक गहराई से व्यवसायों के सामाजिक अर्थ को अनुभव करता है और उन्हें आधार के रूप में एवं मानव-वृद्धि एवं प्रसन्नता के आधार के रूप में स्वीकार करता है। तदनुसार नई शिक्षा ने व्यावसायिक निर्देशन या परामर्श के लिए विस्तृत योजनाएँ तैयार कर ली हैं। इस क्षेत्र में इसे छात्रों के रोम-रोम को पहचानने वाले शिक्षकों के परस्पर सहयोग से विशेषज्ञों द्वारा किया गया है। क्षमता-परीक्षण के माध्यम से, व्यावसायिक रूझानों एवं रुचियों को लाया गया है और एक पैमाने के आधार पर उन्हें श्रेणीबद्ध किया गया है। आर्थिक रूप से संगठित व्यवसायों के प्रति समाज में रुचियों के विपरीत उनकी प्रतियोगिता की गई है—प्रवृत्ति-परीक्षण की विस्तृत व्याख्या द्वारा अन्वेषण किया गया। इन परीक्षणों का एकत्र समन्वय करना अनिवार्य है क्योंकि, उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति साहित्यिक रुचि का हो सकता है, जो समान रूप से शिक्षण एवं पत्रकारिता के लिए अपनी क्षमता का संकेत देता है, यद्यपि वह एक या दूसरे के प्रति दृढ़ रूप से असमर्थनीय प्रवृत्ति रखता है लेकिन क्षमताओं एवं प्रवृत्तियों को संतुलित करते हुए व्यावसायिक प्रवृत्ति का एक स्पष्ट संकेत प्राप्त किया जा सकता है। विद्यालयों में परामर्श कार्य-क्रम को विकसित करने के साथ इसके मूल तंतुओं में व्यावसायिक प्रशिक्षण की भी नींव रखी जाती रही है। अनेकों व्यावसायिक प्रशिक्षण विद्यालय और उच्चतर विद्यालय एवं समाज संस्थाएँ औद्योगिक रूप से उन्नत एवं सामाजिक रूप से सचेत देशों में तीव्रता से विकसित हो रही हैं जहाँ समुदाय विविध तकनीकी विद्यालयों से सम्बद्ध छात्रों को प्रशिक्षण अनुभव प्रदान करने में पूर्णतः सहयोग देता है।

चूँकि अपनी व्यावसायिक शिक्षा में समुदाय भारी दाँव लगाता है इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि राज्य या किसी दूसरे अभिकरण के माध्यम से वह सफल हो, इसे शैक्षिक संस्थाओं एवं रोजगार अभिकरणों के परस्पर सहयोग का ध्यान रखना चाहिए। इसे शैक्षिक समाज-विज्ञान के सिद्धान्तों के साथ संतुलित नहीं कहा जाएगा जब तक कि परस्पर अधिगम और परस्पर विवाद नहीं होगा—शैक्षिक संस्थाओं एवं रोजगार कार्यालयों के बीच घनिष्ठता नहीं होगी। दोनों के बीच यह अन्तर पद्धतिमूलक नहीं है और न इससे सफलतापूर्वक रोजगार की समस्या हल हो पाती है और न ही व्यावसायिक प्रशिक्षण ही, क्योंकि जब आप प्रशिक्षित एवं कुशल मनुष्यों को बाहर निकालें तो मार्केट में सम्भवतः उनके लिए कोई

स्थान नहीं होगा, और परिणामस्वरूप उनका प्रशिक्षण कुंठित हो सकता है और जब उनकी जरूरत पड़ती है तो वे सुलभ नहीं हो सकते। किसी भी तरह व्यवसाय का सर्वेक्षण एवं आँकड़ों का एकत्रीकरण नए स्कूल में बच्चों की शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग हो जाता है।

शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर बल देना शैक्षिक समाज-विज्ञान का एक स्थायी योगदान है। परिणामतः, मानवीय स्वास्थ्य ने सामाजिक आधार प्राप्त कर लिया है। रोग और मानसिक एवं सामाजिक द्वन्द्वों से मुक्त समाज के सक्षम कार्य-संचालन के लिए, स्वस्थ स्वास्थ्य स्थायी सामाजिक मूल्य है। स्वास्थ्य की समस्या न केवल स्कूल में औषधिमूलक सहायता तक ही सीमित है, बल्कि स्वस्थ स्वास्थ्य के प्रति प्रवृत्तियाँ विकसित करने, व्यक्तिगत रूप से स्वास्थ्यमूलक कार्यक्रम के प्रति पर्याप्त ध्यान देने और समुदाय को स्वस्थ एवं स्वस्थ मन बनाने के लिए विद्यार्थियों को पूरी तरह से स्वास्थ्य-शिक्षा में प्रशिक्षित करना अपेक्षित है। विद्यालय स्वयं छात्र-प्रबन्धित, स्वस्थ एवं स्वास्थ्य-विज्ञान-समिति के अन्तर्गत समुदाय में स्वस्थ रहन एवं स्वस्थ वातावरणों के नमूने हो सकते हैं और इसके माध्यम से जब सम्भव हो निदर्शन विविध से अभिभावकों एवं समुदाय को प्रशिक्षित कर सकते हैं। आज न केवल स्वास्थ्य समस्या के प्रति निष्क्रियता ही है बल्कि व्यापक रूप से स्वास्थ्य के विषय में निर्मूल धारणाएँ एवं पूर्वाग्रह फैले हुए हैं, जिन्हें विद्यालयों में संगठित स्वास्थ्य अभ्यसन कार्यक्रम के आधार पर उस क्षेत्र में आवश्यक अनुसंधानों पर निर्भर रहकर सुधारना आवश्यक है। मानसिक स्वास्थ्य के विषय में भी यही सच है जो मूलतः शारीरिक स्वास्थ्य का एक अंग है; लेकिन समाज में भागीदार के परिणामस्वरूप इससे बहुत ही कम अलग पड़ता है। इस प्रकार शैक्षिक समाज-विज्ञान ने विद्यालय एवं कालेज के पाठ्यक्रम में क्रम-बद्ध रूप से शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य अध्ययनों एवं क्रियाकलापों की प्रतिज्ञा प्रस्तुत की है क्योंकि तथ्य तो यह है कि इस सम्बन्ध में अद्युनातन सामान्य ज्ञान, दूसरे विषयों एवं कौशलों की अपेक्षा तुलनात्मक रूप से कहीं अधिक निम्न-तर है।

यह प्रशंसनीय है कि शैक्षिक समाज-विज्ञान का विस्तार एवं सीमा अत्यन्त व्यापक है और यह अनेक पहलुओं को स्पष्ट करता है। इसकी अनेकों संभावनाएँ हैं जिन्हें इन्हें इस अध्याय में प्रस्तुत करना संभव नहीं है। सिद्धान्त एवं व्यवहार में शैक्षिक समाज-विज्ञान के प्रतिनिधि के रूप में व्यापक रूपरेखाओं में समुदाय-विद्यालय विचार को एक तत्पर एवं स्थूल क्रियात्मक अवधारणा के रूप में

स्वीकार किया जा सकता है। समुदाय-विद्यालय के कार्य को संक्षेप में १९४८ विस्कॉन्सिन, शैक्षिक व्यवस्था मैडिसोन-प्राध्यापकों की राष्ट्रीय सभा द्वारा स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है जिसे संक्षिप्तावृत्ति के रूप में नीचे प्रस्तुत किया जा सकता है:—

१. समुदाय-विद्यालय समुदाय-जीवन के सामान्य प्रयोजन का पोषण करते हुए अधिकरणों के परिवार में एक महत्वपूर्ण इकाई के रूप में सचेतनता-पूर्वक क्रिया करने का प्रयत्न करता है।

२. समुदाय-विद्यालय समुदाय की जरूरतों के तादात्म्य के लिए और पर-वर्ती कार्यक्रमों के विकास के लिए, इन जरूरतों से निपटने के लिए दायित्व जारी रखते हुए नागरिकों में भाग लेता है।

३. समुदाय-विद्यालय तात्कालिक आतावरण के साथ अच्छे रहन-सहन के लिए अपना दायित्व आरम्भ करता है।

४. समुदाय-स्कूल का पाठ्यक्रम इसके प्रयोजन की प्राप्ति एवं उसे सुविधापरक बनाने के लिए पर्याप्त रूप से सम्पूर्ण एवं नमनशील होता है।

५. समुदाय-विद्यालय का कार्य-क्रम समुदाय के आपाती जरूरतों से निपटने के लिए गत्यात्मक एवं निरंतर परिवर्तनशील होता है।

६. समुदाय-विद्यालय सीखने संबंधी अनुभवों के लिए सारे समुदाय साधनों का पूर्ण उपयोग करता है।

७. समुदाय-विद्यालय शिक्षण-सामग्रियों के विशिष्ट प्रकारों का विकास एवं उपयोग करता है।

८. समुदाय-विद्यालय समुदाय के सभी सदस्यों के लिए सीख सम्बन्धी अनुभव प्रदान करने के लिए अन्य दूसरे अधिकरणों के साथ दायित्व में भाग लेते हैं।

९. समुदाय-विद्यालय वैयक्तिक अभिवृद्धि एवं विकास के एक संकेत के रूप में सामाजिक एवं सामुदायिक सम्बन्धों के व्यवहार में उन्नति को मान्यता देता है।

१०. सम्पूर्ण विद्यालयीय कार्यक्रम और समुदाय के लिए समुदाय-विद्यालय शिक्षियों, शिक्षकों और शासकों के लिए रहन-सहन के गुण की शर्तों में निरंतर मूल्यांकन का विकास करता है।

११. समुदाय-विद्यालय के शिष्य की व्यक्तिगत सेवाएँ समुदाय की आवश्यकताओं के सम्पर्क में सहयोगी रूप से विकसित होती हैं।

१२. समुदाय-विद्यालय कर्मचारियों को सम्यक् सुरक्षा देता है, विद्यालय के विशिष्ट उद्देश्यों को सहायता देने में तैयार रहता है, शिक्षक सदस्यों के माध्यम से प्रभावोत्पादक कार्य एवं व्यावसायिक वृद्धि को सुविधाजनक बनाता है और सिर्फ उन्हीं शासकीय नीतियों को मान्यता देता है जो विद्यालय के उद्देश्य से मेल खाती हों।

१३. समुदाय-विद्यालय शिष्य-शिक्षक-शासक सम्बन्ध का प्रजातांत्रिक रूप से समर्थन करता है।

१४. समुदाय-विद्यालय ऐसी परिस्थितियों में रचना करता है और क्रियमाण होता है जहाँ यह आशा की जाती है कि समुदाय जीवन को उन्नत करने के लिए अच्छे विद्यालय क्या कर सकते हैं।

१५. समुदाय-विद्यालय के भवन, उपकरण एवं खेल के मैदान इस प्रकार निर्मित, रचित एवं प्रयुक्त होने चाहिए कि बालकों, किशोरों और युवकों के लिए सामुदायिक रहन-सहन के उन अनुभवों को प्रदान करना सम्भव हो सके जिसे विद्यालय के अतिरिक्त दूसरे अभिकरण नहीं प्रदान कर सकते।

१६. समुदाय-विद्यालय का आय-व्यय लेखा शैक्षिक कार्यक्रम को वास्तविकता में रूपांतरित करने के लिए आर्थिक योजना है जिसे विद्यालय परिषद्, शिक्षक, छात्र और अन्य नागरिक अपने समुदाय के लिए जैसा कि वांछनीय है, स्वीकार कर चुके होते हैं।

सहायक पुस्तकें

1. Francis J. Brown: Educational Sociology, Prentice-Hall Inc., New York.
2. Lloyd Allen Cook and Elaine Forsyth Cook: A Sociological Approach to Education, McGraw Hill Book. Co., Inc., New York.
3. E. George Payne: Principles of Educational Sociology—An Outline, New York University Press Book Store, New York.

शिक्षा और सामाजिक परिवर्त-

“जो नये साधनों को कामू नहीं कर सकता उसे अवश्य ही नयी बुराइयों की भाशा करनी चाहिए।”—बेकन।

शिक्षा एक ही साथ सामाजिक परिवर्तन की सृष्टि एवं विधाविका है। इसे शिक्षा से जोड़ने के पहले, कुछ देर तक हम सामाजिक परिवर्तन के स्वभाव का अध्ययन करना चाहेंगे।

भरती पर मानवीय जीवन-काल में, अपने समयों से सम्बन्धित अपनी सम्भावनाओं की सीमाओं के भीतर ही, मनुष्य ने अपने चारों ओर के भौतिक एवं सामाजिक जगत से समायोजन स्थापित करने का प्रयत्न किया है। समायोजन की इस प्रक्रिया के माध्यम से, जो मानव जीवन के उदयकाल में मात्र जैविक अनिवार्यता के रूप में उत्पन्न हुई थी, वह निरन्तर अपने वातावरण एवं सामाजिक जगत का निर्माण करता रहा है, फलतः सांस्कृतिक रूप से स्वयं अपना निर्माण करता रहा है। निश्चित मुष्णों की स्थायी निधि, जैसे हाथों का एवं भाषा का सरल दक्ष प्रयोग उसे अत्यधिक अमिव्यक्तमूलक एवं रचनात्मक जीव बना देता है। उसके बाद, धर्म, कला, साहित्य और प्रतीकों का शेष सम्पूर्ण जगत उसी तरह से उसकी समायुक्त प्रक्रिया के साधन हैं जैसे उसके भौतिक उपकरण, स्थापत्य कला और यांत्रिकीय अन्वेषण। वह इन साधनों को आवश्यक होने के लिए निर्मित करता है, जबकि यह दूसरी बात है कि उन्हें बनाकर उसने उन पर अपना अधिकार स्वीकार दिया और बदले में उन्हीं का दाख हो गया है। वह परिस्थिति फिर से समायोजन एवं सन्तुलन के लिए नवीनतर प्रयत्नों की माँग करती है और इस प्रकार परिवर्तन का चक्र चलता ही रहता है। सामाजिक परिवर्तन अपने मूल में सुविस्तृत जैविक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का केवल अंशमात्र है। नृत्त्वशास्त्रीय एवं पुरातात्विक अन्व-

यनों के आधार पर यह निश्चित हो गया है कि समाज कभी भी निरपेक्ष रूप से स्थिर नहीं रहा है। मनुष्य जीवन के आरम्भिक इतिहास में जैसे हिम-युगों के व्यापक काल में परिवर्तन बहुत धीमा रहा है। किन्तु उपकरण-निर्माण एवं कृषि के क्षेत्रों में क्रमशः मनुष्य की नवीनताएँ आज तक परिवर्तन-प्रक्रिया को संजीवित करती रही हैं, जबकि जगत यांत्रिकी एवं सामाजिक परिवर्तनों के भँवर में फँस गया है। धरती पर मनुष्य के संघर्ष के पूरे सन्दर्भ में सामाजिक परिवर्तन को सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करती हुई क्रीड़ा को पाठक अच्छी प्रकार समझ सकेंगे।

यद्यपि सामाजिक परिवर्तन मनुष्य जाति के जीवन का कठोर तथ्य है, फिर भी सभी सामाजिक परिवर्तन अपनी तरह से ठीक नहीं हैं। यही कारण है कि शिक्षा को सामाजिक नियन्त्रण के उपकरण रूप में, दो अन्तर्ग्रहित प्रयोजनों को पूर्ण करता है: प्रथम, सांस्कृतिक ढाँचों, लोक-रीतियों, लोकाचारों एवं संस्थाओं के उपयोगी तत्वों को आत्मसात करना, सुरक्षित रखना एवं प्रेषित करना; द्वितीय, सामाजिक मूल्यों की भाँति पूरी करते हुए और जनता की नयी जीवन्तताओं से बढ़-कटते हुए नये सांस्कृतिक ढाँचों को विकसित एवं उन्नत करना, कहने का अर्थ यह है कि शिक्षा समाज के उच्चस्तरीय संगठित संस्था के रूप में, खुली भाँति एवं रचनात्मक उत्साह से सांस्कृतिक परम्परा को समझे, और कठोर एवं यांत्रिक रूप से अच्छी, बुरी या विरक्त परम्परा को जागे न बढ़ाए। सांस्कृतिक परम्परा को आत्मसात और प्रेषित करते हुए, यह अवश्य ही इसे परखे, प्रयोग करे और सुधारे। मत्वात्मक एवं स्थायी संस्कृति वह है जो नये परिवर्तनों एवं प्रभावों को स्वीकार करती है और अपने बन्धनों एवं मूल मानव-मूल्यों को बनाए रखती है। स्थिर गढ़ों में युगों पुरानी परम्पराओं एवं रीतियों के कीचड़ से लक्ष्य जड़ संस्कृति अपने विनाश का इन्तजार करती होती है जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक बेचैनी और ध्वंस होते हैं। विद्यालय समाज के विचारणीय सहयोगी के रूप में लेकिन अपनी स्वतन्त्रता के औरव के साथ, उक्त कथित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अवश्य ही अत्यधिक विचारात्मक एवं रचनात्मक विधि से अपने सारे साधनों को लागू करे।

एक विचारणीय आक्षेप है कि आधुनिक विद्यालय सांस्कृतिक परम्परा के सर्वोत्तम अंश को सुरक्षित रखने में असफल हो रहे हैं और किसी भी नयी बीबी चीज के प्रति सम्मोहन भाव से झुक पड़ती हैं। प्रत्येक शैक्षिक संस्था की ओर से इस बात की गम्भीर खोज होनी चाहिए, जिससे अतीत की कठिनता से प्राप्त युबं उपलब्धियाँ जीवन के नये तत्वों से बिना किसी सामाजिक दोषारोप के चँकी

न जा सकें। आरोप प्रामाणिक हो या न हो, यह निश्चय ही विद्यालय को इसके दायित्व के क्षेत्र में रखता है।

जहाँ तक नये सांस्कृतिक ढाँचों को विकसित करने की बात है, विद्यालय को चाहिए कि वह व्यवहार के ढाँचे या व्यवहार की विधियों में किन्हीं नवीनताओं के लिए उन्हें मलत न समझें। नया सांस्कृतिक ढाँचा, यदि किसी प्रकार की शैक्षिक एवं सामाजीकरण शक्ति से युक्त होना है तो अवश्य ही इसे सम्पूर्ण होता चाहिए। कहने का भाव यह है कि यह सांस्कृतिक परम्परा के सर्वोत्तम अंश से और वर्तमान के सर्वोत्तम अंश से अवश्य ही सामंजस्य रखे, जिससे कि इस प्रकार से प्राप्त दृढ़ता से, यह वास्वस्त होकर बिना चूके, भविष्य में छलाँग लगा सके। नये सांस्कृतिक ढाँचे समाजशास्त्रीय आलोचना के लिए व्यापक रूप से खुले हुए हैं। इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि नये सांस्कृतिक ढाँचे की परीक्षा उनकी प्रत्यक्ष स्फूर्ति या मोहकता में निहित नहीं है, बल्कि इस बात में कि वे सर्वोच्च सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मूल्यों की रूपरेखा के अन्तर्गत ही समाज की संगति एवं जनसमुदाय के व्यक्तित्वों की एकता को कितना अधिक विस्तृत करते हैं। वास्तव में नये सांस्कृतिक ढाँचे को या इसे इस प्रकार कहना अच्छा होगा—सुधरा हुआ सांस्कृतिक ढाँचा—सभी मानवीय मूल्यों को जीवन्त बनाने में सक्षम होना चाहिए। विद्यालय का अत्यावश्यक और अधिकाधिक विश्वविद्यालयों का कार्य है कि वह विकासशील सांस्कृतिक ढाँचों को हमेशा समीक्षा एवं अनुसन्धान के अन्तर्गत रखे जिससे कि आधुनिकता के वेब में कोई दुर्बलकारी तत्त्व जीवन की धारा में प्रवेश न करने पाएँ। विश्वविद्यालयों के समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान और दर्शन-विभागों को इस जीवन्त समस्या पर अनुसन्धान की एक परस्पर सहयोगी योजना चालू करने की जरूरत है, जिस पर कि सम्यता का भाग्य ही टिका हुआ है।

शिक्षा, अव्यापन, अधिगम और अन्य विविध प्रक्रियाओं के माध्यम से संस्कृति पर आधारित है, और साथ ही इसमें सुधार भी करती है। इस प्रकार शिक्षा और संस्कृति परस्पर अन्तर्सम्बन्धित हैं। अब हम विस्तृत रूप से संस्कृति के स्वभाव को समझने का प्रयत्न करेंगे।

संस्कृति—संस्कृति को समाज का पर्यायवाची समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। समाज सामान्य प्रवृत्तियों, व्यवहार-विधियों, रीतियों और परम्पराओं द्वारा परस्पर निबद्ध जनता का एक समूह है। सामान्य तत्त्वों को संस्कृति कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति सामाजिक अनुष्ठान या उसकी अभिव्यक्ति है। समाज समय-समय पर अपनी संस्कृतियाँ बदलते रहते हैं और एक संस्कृति एक

समाज से दूसरे तक प्रेषित की जा सकती है, जो समाज और संस्कृति के अन्तर को प्रकट करता है। यद्यपि समाज और संस्कृति एक दूसरे के परिणाम हैं और एक दूसरे में विकसित होते हैं, फिर भी हम इस प्रकार कह सकते हैं, “समाज और इसकी संस्कृति।”

दूसरी बात, जिसके स्पष्टीकरण की जरूरत है वह है सम्यता और संस्कृति के बीच का अन्तर। कुछ समाजशास्त्री दोनों शब्दों का प्रयोग एक दूसरे के लिए करते हैं। दूसरे संस्कृति शब्द की गुण-वाचकता को मानसिक बनावट और अभ्यास—प्रवृत्तियों, जीवन-दर्शनों, मूल्यों, व्यवहार के तौर-तरीकों आदि तक सीमित रखते हैं और सम्यता शब्द को भौतिक वातावरणों तक, जैसे भाष-इंजन, हवाई जहाज आदि। इसके अतिरिक्त कुछ लोग भौतिक संस्कृति (सम्यता से मिलती-जुलती) और अभौतिक संस्कृति (उपरोक्त कथन के अनुसार संस्कृति से मिलती-जुलती) की बात करते हैं। यद्यपि भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अन्तर क्रम से है फिर भी अतिरेक नहीं करना चाहिए क्योंकि स्पष्ट है कि संस्कृति के दोनों पहलू परस्पर समावेशी एवं अन्तर क्रियामूलक हैं। अपने सामूहिक रूप में मन की संस्कृति अन्वेषणों के प्रयोग का अन्वेषण एवं नियन्त्रण करती है, यदि आणविक ऊर्जा व्यापक रूप से अभौतिक संस्कृति का बौद्धिक तत्त्व है, तो इसका नियन्त्रण एवं ‘शान्ति के लिए प्रयोग’ उसी अभौतिक संस्कृति के नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों के व्यापक तत्त्व का ही एक कार्य है। दूसरी ओर भौतिक संस्कृति यांत्रिकी उपकरणों के माध्यम से मन की संस्कृति को सहायता देती है—सम्भव है, कभी विनाश भी करती हो। मुद्रण, रेडियो और वायुयान, कुछ छोड़े से ही चुने हुए अन्वेषणों को जो मन को उर्वर करने के लिए और संयम एवं संग्रन्थन के क्षेत्रों को विकसित करने के लिए प्रभावकारी उपकरण हों, नें। इससे ब्राउन की एक परिभाषा का संकेत मिलता है जिसमें संस्कृति के बारे में वे इस प्रकार कहते हैं, “यह समूह का यौगिक व्यावहारिक ढाँचा है जो प्राकृतिक और मनुष्य-सृष्ट दोनों, भौतिक वातावरणों से अंशतः नियंत्रित है लेकिन मुख्यतः सामान्यीकृत विचारों, प्रवृत्तियों एवं आदतों से, जो समूह द्वारा अपनी जरूरतों से निपटने के लिए विकसित किए जा रहे हैं।”

सामाजिक प्रवृत्ति वाले समाजशास्त्री किसी तरह आग्रह करते हैं कि विचार ही संस्कृति के मूल आधार हैं। उनके अनुसार यह विचार ही हैं जो सामाजिक जीवन

के मुख्य आँकड़े हैं, समाज में जो कुछ भी घटता है, उसके आदि संचालक हैं। तबनुसार वे वकालत करते हैं कि सम्पन्न एवं समृद्ध सामाजिक जीवन के लिए विचारों को सुव्यवस्थित रखना चाहिए।

व्यापक अर्थों में, संस्कृति रहन-सहन में समायोजन करने का एक प्रयत्न है। यह समूह में अन्तर-व्यक्तिगत रहन-सहन में निरन्तर प्रयत्न एवं समूहों की अन्तर्क्रिया के परिणाम है। हमें याद रखना चाहिए कि समाज में समूहों की परस्पर-क्रिया के ही माध्यम से समाज की क्रियामूलक इकाइयाँ समूह हैं—जिसे संस्कृति ने विस्तृत किया है। इस सामाजिक प्रक्रिया में रीतियाँ, परम्पराएँ, प्रवृत्तियाँ, विचार-धारा, प्रतीक एवं कर्मकाण्ड निर्मित हुए हैं, जो सामाजिक व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। प्रत्येक समूह, प्रत्येक समाज, मानसिक एवं व्यावहारिक ढाँचों का एक कुलक रखते हैं जो सामान्यतः समूह के लिए सहज ही हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रचलित रहते हैं। ये ढाँचे, जो परिवर्तन के अधीन हैं सीखने की विविध पद्धतियों के माध्यम से बच्चों में प्रतिबद्ध हैं। संस्कृति के ढाँचे या समूह-व्यवहार जैसी उनको संज्ञा दी गई है, समय-समय पर समाज-दर-समाज में भिन्न-भिन्न होते हैं। एक समाज के सांस्कृतिक ढाँचे के अनुरूप जो ठीक है, दूसरे के लिए गलत हो सकता है।

लोकरीतियाँ, लोकाचार और संस्थाएँ—संस्कृति के प्रतिमान लोकरीतियों, लोकाचारों एवं संस्थाओं में वर्गीकृत किए गए हैं। लोकरीतियाँ दैनिक जीवन के व्यावहारिक प्रतिमान हैं जो बिना किसी पूर्व विचार या बौद्धिक योजना के लगभग यांत्रिक रूप से क्रियान्वित किए गये हैं। वे इस प्रकार के हैं जैसे, दोस्तों को निमन्त्रित करना, उनका स्वागत करना, उनके साथ ह्वाश मिनाशा, वस्त्र धारण करना और अन्धविश्वास। वे समूह में सामान्यतया अचेतन रूप से उत्पन्न होते हैं जिनकी साधारणतः नैतिक सार्थकता नहीं होती। वे व्यक्तियों को अपने दैनिक सामाजिक जीवन से समायोजित करने में सहायक होते हैं।

लोकाचार समूह की दिनचर्या और रीतियाँ हैं जो समाज के सदस्यों द्वारा समझे गये अस्तित्व और कल्याण के लिए आवश्यक माने गये हैं। उनकी धार्मिक और नैतिक सार्थकता है। उनमें ऐसी रीतियाँ भी शामिल हैं, जैसे धार्मिक कर्म-काण्ड, विवाह, यौन-वर्जनाएँ, अधिकारी का आदर आदि। बौद्धिक चिन्तन के परिणामस्वरूप लोकाचार को नैतिक सिद्धान्तों से अलग किया जा सकता है। लोकाचार मुख्यतः बानों एवं मनोभावों के परिणाम हैं, जबकि चरित्र के नियम 'चिन्तन-

शील नैतिकता' के। इस प्रकार किसी समाज के लोकाचार समय-समय पर नीति-शास्त्रियों द्वारा ठीक उसी तरह बौद्धिक आधार पर परखे गये एवं सन्देहात्मक दृष्टि से देखे गये, जैसे बट्टेण्ड रसेल ने इंग्लैण्ड के लोकाचारों एवं सामान्य रूप से 'व्यापक समाज' के विषय में किया।

संस्थाएँ यौगिक सांस्कृतिक प्रणाली में कार्य की इकाइयाँ हैं। वे सामाजिक अनुभूत जरूरतों और जनता की इच्छाओं से उत्पन्न हुई हैं और लिखित या अलिखित पर व्यापक रूप से समादृत नियमों के साथ सुनियोजित प्रणाली में निरंतर उठे हैं। वे सामाजिक रहन-सहन को सुविधागम्य बनाते हैं और परस्पर सहयोगी रहन-सहन, निष्ठा और बलिदान के माध्यम से जीवन के आनन्दों में सहायक होते हैं, उदाहरण के लिए जैसा कि राज्य, धर्म और परिवार करते ही हैं। वे स्थायित्व की एक सापेक्ष श्रेणी एवं सुपरिमाणित नक्ष्यों से युक्त होकर, सामाजिक नियंत्रण के साधन भी हैं। अपने नक्ष्यों की पूर्ति के लिए वे भौतिक वस्तुओं को भी समाहित करते हैं, जैसे मकानों, उपकरणों, फर्नीचर तथा भौतिक प्रतीकों का उपयोग जो उनकी महानता और एकता के चिह्न होते हैं।

किसी भी समाज में संस्थाओं की सामान्यतया एक व्यापक विविधता होती है, कुछ सामाजिकतया स्वीकृत होते हैं और कुछ अस्वीकृत। लगभग सभी देशों में व्यापार अनुमोदन प्राप्त संस्था है परन्तु विनासता या लम्पटता नहीं। किसी बरख बुनियादी संस्थाएँ वे हैं जो प्रदत्त समाज में—परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति, चर्च, विद्यालय—सामाजिक क्रम की व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। सहायक संस्थाएँ वे हैं जो सामाजिक क्रम की व्यवस्था के लिए मूलतः अनिवार्य नहीं हैं—वक्ताचित्र, सर्कस, रंगीन रेस्तराँ आदि।

संस्थाओं के मुख्य कार्य हैं, सामाजिक नियन्त्रण, व्यक्तियों के लिए क्रिया का सरलीकरण और उनके लिए कार्य एवं पदस्थिति की व्यवस्था। यह भी कहना युक्ति-संगत होगा कि संस्थाएँ अपनी नियम-निष्ठा और स्थिरीकरण के कारण वैयक्तिक और सामाजिक उन्नति एवं विकास में बाधा उपस्थित करती हैं। वास्तव में अनेक भूतप्राय संस्थाएँ उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया करने के लिए समूहों एवं व्यक्तियों को उत्कसाही हैं और व्यवहार के नये ढाँचों की रचना करती हैं। सम्पूर्णतः यह परिणाम निकालना वैधानिक प्रतीत होता है कि संस्थाएँ यौगिक सांस्कृतिक ढाँचे में सामंजस्य लाने वाले अभिकरणों के रूप में कार्य करती हैं।

संचयन की प्रवृत्ति संस्कृति का स्वभाव ही है। अतीत की परम्पराएँ और रीतिगं जन-समूहों के द्वारा आवृत्तिमूलक अभ्यास के माध्यम से सुरक्षित रखी गई

हैं, और नया जन्म लेने के लिए स्वयं तैयार रहती हैं। सम्पूर्ण जीवन काल के लिए बांछित एक व्यक्ति की जानकारी की तरह संस्कृति भी एक संचयात्मक प्रक्रिया है। रीतियाँ और परम्पराएँ जो लम्बे समय में और कठिनाई के साथ समाज में जड़ जमा पायीं, आने वाली पीढ़ियों द्वारा तुरत स्वीकार कर ली गयीं और अपनायी गयीं। भाषा स्वयं युग-युगान्तरों से संस्कृति की देन रही है, किसी भी समाज की भाषा रात भर में निर्मित नहीं कर ली गई थी, यह युगों में विकसित हुई और फिर भाषा के प्रवाह के बिना अतीत की संस्कृति वर्तमान में प्रवाहित नहीं हो सकती थी।

सांस्कृतिक लक्षण और ग्रन्थियाँ—संस्कृति, जो एक यौगिक क्रियाशील प्रणाली एवं एक ढाँचा है—सामान्यतम इकाइयों में विभाजित की जा सकती है, जिन्हें लक्षण कहा गया है। जहाँ तक उनकी क्रियात्मक शक्ति का सम्बन्ध है, उन्हें और आगे विभाजित नहीं किया जा सकता। एक लक्षण, एक रीति, भोजन करने या वस्त्र धारण की एक शैली हो सकती है। कभी-कभी ही लक्षणों को जीवन में स्वतन्त्र तत्त्वों के रूप में देखा जाता है। व्यवहार की ये साधारण इकाइयाँ परस्पर सम्बद्ध हैं जिन्हें हम एक ग्रन्थि कह सकते हैं। विभिन्न लक्षण, या उदाहरण के लिए क्रियाकलापों की साधारणतर इकाइयाँ महत्तर इकाइयों में घुलने के बाद ग्रन्थियाँ कही जाती हैं। ग्रन्थियाँ पुनः बृहत्तर ग्रन्थियों में विकसित होकर संस्कृति में रूपांतरित हो जाती हैं जो वस्तुतः बड़े घेरे में एक छोटा घेरा है।

प्रसरण—जब कभी समाज में नये तत्त्व सोजे या अन्वेषित किए जाते हैं, तो संस्कृति के अंग होने से पूर्व उन्हें समाज द्वारा अवश्य ही स्वीकार किया जाना चाहिए। व्यक्ति से व्यक्ति या समाज से समाज तक संस्कृति प्रसार को प्रसरण कहा गया है। यहाँ दो प्रकार के प्रसरणों पर विचार किया जा सकता है : (१) अन्तः-समाज और (२) अन्तर-समाज प्रसरण।

१. अन्तः-समाज प्रसरण का अर्थ है, समाज के भीतर ही व्यक्ति से व्यक्ति तक संस्कृति का प्रसार करना। सामान्यतया यह निम्नलिखित घटकों से प्रभावित है :—

(क) नये तत्त्व की जरूरत या उपयोगिता, जैसे वैद्युतिक रसोई के साधन जो गृहिणी के लिए अधिक आवश्यक और उपयोगी हो

सकते हैं, विशेषतः जब पारिवारिक नौकरों की संस्था समाप्त हो रही हो।

- (ख) संस्कृति में ऐसे तत्त्वों की उपस्थिति जिनके कार्य नये तत्त्वों को बाधित करते हैं, जैसे अज्ञान, पूर्वाग्रह और धार्मिक एकांगिता।
- (ग) नये तत्त्व के प्रस्तुतकर्ता की सामाजिक प्रतिष्ठा। समाज व्यापक रूप से अपने नेताओं का अनुकरण करता है।
- (घ) राज्य या अन्य अधिकारियों द्वारा सीमित रूप से लागू की गई शक्ति एवं वर्णनाएँ। उदाहरण के लिए तुर्किस्तान के कमाल अतातुर्क ने अपने देशवासियों को यूरोपीय पोशाक एवं रोमन वर्णमाला स्वीकार करने को बाध्य किया था।

२. अन्तर-समाज प्रसरण निम्नलिखित घटकों से प्रभावित होते हैं, जिनमें से कुछ अन्तः-समाज प्रसरण में सर्वमान्य हैं।

- (क) एक समाज से दूसरे समाज तक सांस्कृतिक तत्त्वों के प्रसार के लिए सम्पर्क एक अनिवार्य तत्व है। सम्पर्क स्वभाव में सामाजिक और व्यापारिक हो सकते हैं। वास्तव में संस्कृति के बहुत से तत्व व्यापार के माध्यम से विभिन्न समाजों तक विचरण करते हैं। दूसरी संस्कृतियों से संग्रह-विधि से उधार लेना भी, संस्कृति को जीवन्त बनाता है।
- (ख) एक तत्व की प्रदर्शनशीलता अमूर्त भाषा में विश्लेषित करने की अपेक्षा उसका लक्षण यह है कि उसकी उपयोगिता प्रदर्शित की जा सकती है जो कहीं अधिक शीघ्रता से आत्मसात की जा सकती है।
- (ग) उपयोगिता की जरूरत की मान्यता।
- (घ) नये तत्त्वों के साथ प्रतियोगिता करने वाले तत्त्वों की उपस्थिति या अनुपस्थिति।
- (ङ) उधार लेने वाली संस्कृति में विरोधी तत्त्वों की उपस्थिति या अनुपस्थिति।
- (च) उधार देने वाले समाज की प्रतिष्ठा और उधार लेने वाले समाज में व्यक्तियों की प्रतिष्ठा जो नवीनता को प्रचलित करते हैं।
- (छ) नये लक्षण की स्वीकृति को सुरक्षित रखने के लिए शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है, विजयोपरान्त संस्कृति में जो परिवर्तन होते हैं, वे इस दृष्टि से उदाहरण हैं।

संस्कृति के प्रसरण की समस्या शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण कार्य प्रस्तुत करती

है। अन्त-समाज एवं अन्तर-समाज प्रसरण की प्रक्रिया को सुविधाजनक बनाने के लिए, शिष्यों को संस्कृति की पूरी समझ के लिए निर्णय का आलोचनात्मक बोध एवं अभिव्यक्ति की नियन्त्रित स्वतन्त्रता को विकसित करने के लिए अवश्य ही निर्देशित करना चाहिए। इससे प्रजातांत्रिक आधारों पर प्रसरण सुरक्षित होगा। संस्कृति के तत्व स्वेच्छया स्वीकृत किए जाने चाहिए, क्योंकि डिबी हमें निरन्तर याद दिलाते हैं कि जनसमूह द्वारा स्वीकृत एवं मान्य हुए बिना सामाजिक कल्याण होने लायक कुछ भी संभव नहीं हो पाता।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त

इस क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन की घटना की व्याख्या करने वाले बहुत थोड़े सिद्धान्त हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:

१. परम्परामूलक दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त है विश्व की प्रयोजनपरक व्याख्या। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक चीज पूर्वनिर्धारित नमूने के आधार पर घटती है, जिसका धक्का मानव सहित सारे विश्व के जीवन को गतिशील रखता है। यह समाज-विज्ञान की सीमा से बाहर पड़ता है।
२. परिवर्तन स्वयं विश्व की प्रकृति में अन्तर्निहित है जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन तार्किक और चक्राकार क्रम से घटता है। हीगेल का द्वन्द्वात्मक तर्क जिसने पूर्वतर को भुलावा दिखाया तथा सम्यता का जन्म, प्रौढ़ता और पतन का स्पेंगलर का सिद्धान्त इस दृष्टि से उदाहरण है। इन विचारों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन तार्किक या चक्राकार क्रमों से घटते हैं; परिवर्तन की भविष्यवाणी करना सम्भव है।
३. सामाजिक परिवर्तन मात्र एक व्यापक घटक से वर्णनीय है। आध्यात्मिक विश्वास सामाजिक प्रक्रिया को अध्यात्मवाद की ओर निर्देशित कर सकता है, उसी तरह अन्तिम सत्य मान कर पदार्थ में विश्वास करना जीवन की गति को मार्क्सवाद के पक्ष में परिवर्तित कर सकता है। सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र के लिए मात्र आर्थिक घटकों या राजनीतिक घटकों को दायी किया जा सकता है। यह दृष्टिकोण सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या के लिए संकीर्ण एवं स्थूल है।
४. इसके बाद इतिहास का प्राचीन महान् व्यक्ति सिद्धान्त है जो सम्पूर्ण

जगत के महान् मनुष्यों के कार्यों एवं विचारों को परिवर्तन का श्रेय देता है, जैसा कि कार्लाइल के कथन में निरूपित हुआ है, “जगत का इतिहास महान मनुष्यों की जीवनी है।”

५. एक साथ मिले हुए अनेक घटकों का परिणाम और विविध समन्वयों में एक दूसरे को प्रभावित करता हुआ सामाजिक परिवर्तन एक जटिल क्रिया है। एक प्रकार से यह स्वयं संस्कृति का पर्यायवाची है जो किसी एकमात्र घटक के कार्य की अपेक्षा अनेक शक्तियों की सापेक्षिक व्यवस्था है। यह दृष्टिकोण ही इस अध्याय का प्रमुख दृष्टिकोण होगा।

अब इस बात की जानकारी अपेक्षित है कि सामाजिक परिवर्तन में कौन से घटक सम्मिलित हैं और उसके लिए उत्तरदायी हैं? एम० आर० मैकआइवर ने सम्यता एवं संस्कृति की परिभाषा की शब्दावली में एक उत्तर देने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार सम्यता मनुष्य की उपलब्धि का भौतिक पक्ष है—उपयोगिता-मूलक वस्तुओं की भाँति जैसे मकान और यांत्रिकीय अन्वेषण। दूसरी ओर संस्कृति अभौतिक है, मन की एक आन्तरिक वास्तविकता है, जो निजी अनिवार्यता के कारण मानव-सम्बन्धों को खो देती है एवं परिणामस्वरूप उस प्रक्रिया की गति में सामाजिक परिवर्तनों को उत्पन्न करती है। इसीलिए सामाजिक परिवर्तन लाने में संस्कृति प्रमुख घटक है, जबकि उपयोगिता-मूलक घटक मात्र माध्यमिक ही हैं। इस विचार के ठीक विरोध में मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है जिसके अनुसार संस्कृति और मानव-चेतना दोनों भौतिक या आर्थिक घटकों द्वारा या अधिक स्पष्ट कहें तो उत्पादन के साधनों से निर्धारित होते हैं जबकि यह आंशिक रूप से ही सत्य है—यदि ऐसी अवधारणा आंशिक सत्य के रूप में स्वीकार्य हैं—और संस्कृतियों में मन की वस्तुएँ जैसी नैतिक और सौंदर्य-शास्त्रीय मूल्य भौतिक परिस्थितियों की परवाह किए बगैर सामाजिक परिवर्तन ले आने में स्पष्ट रूप से व्यापक हैं और जबकि यह भी आंशिक सत्य है कि कुछ समय समाज की भौतिक परिस्थितियाँ सामाजिक परिवर्तन को कहीं अधिक नियंत्रित एवं निर्देशित करती हैं। शायद यह भी सम्पूर्ण सत्य नहीं है कि दोनों घटकों में से किसी एक से ही सामाजिक परिवर्तन निर्धारित होते हैं। सबसे अधिक तर्कसंगत तो यही प्रतीत होता है कि सामाजिक प्रक्रिया मूर्त मानव सम्बन्धों में अपने केन्द्र से सम्पूर्ण जीवन के आगे-पीछे भटकती है, मनुष्य के उत्पादों एवं रचनात्मक क्षमताओं—उसके जादू, धर्म, कला, विज्ञान, दर्शन, मूल्यों, आदर्शों, कर्मकाण्डों, रीतियों, परम्पराओं, संस्थाओं आदि से भुलावे में डालती

है, और उन सबके परिणामस्वरूप एक विशिष्ट सामाजिक परिवर्तन में परिणामित होती है। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन अनेक घटकों का एकीकरण है। कुछ अधिक सक्षम होते हैं, दूसरे कमजोर होते हैं; कुछ स्पष्ट रूप से दीखते हैं और अन्य अदृश्य होते हैं; कुछ अधिक स्थायी होते हैं, दूसरे अधिकतर नश्वर होते हैं। फिर भी इस एकीकरण के विविध तत्त्वों को विश्लेषित करके इस स्मरण के समझने के लिए आगे बढ़ना श्रेयस्कर है। निम्नलिखित घटक अपनी व्यक्तिगत क्षमता के कारण सामाजिक परिवर्तन के मूल कारण नहीं हैं और वे अपने वर्ग में सम्पूर्ण हैं।

१. भौगोलिक घटक—प्राकृतिक भौगोलिक वातावरण और परिस्थितियाँ, सामाजिक परिस्थितियों के निर्धारण में प्रभावोत्पादक हैं, विशेषतः आरम्भिक संस्कृतियों में जहाँ परिस्थितियाँ नियंत्रण के परे होती हैं। कठोर और नर्म जलवायु मानव व्यक्तित्व पर अपना अलग-अलग प्रभाव डालती हैं। ठंडी जलवायु उष्ण कटिबन्धीय जलवायु की तुलना में मानव जैविक संघटन के पक्ष से अधिक जीवन्त क्रिया की माँग करती है। इस प्रकार मानव जीवन का तात्पर्य दो विभिन्न भौगोलिक समुदायों में बँट जाता है। उदाहरण के लिए गर्म जलवायु के लोग, अनिवार्यतावश पूरी पोषाक नहीं पहन सकते जबकि ठंडी जलवायु के लोग शरीर का कोई अंग-प्रदर्शन अभद्र व्यवहार मानते हैं। इस प्रकार जो समयानुकूल और अनिवार्य है उसे व्यवहार के सामाजिक रूप से वांछनीय ढाँचे में आत्मसात् कर लिया जाता है। उसी प्रकार कृषिमूलक अभाव या किसी दूसरी तरह से खाद्य की कमी से लोग अधिक साहसी और घुमक्कड़ बन सकते हैं, जबकि ऐसी पर्याप्तता और आधिक्य के कारण दूसरे लोग ठंडे और आलसी तथा घर से चिपके रहने वाले होते हैं। लेकिन यह कहना न्यायसंगत होगा कि भौगोलिक घटक उतने प्रभावशाली नहीं हैं, जितना कि 'भौगोलिक स्कूल' द्वारा माने जाते रहे हैं। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि मनुष्य यांत्रिकीय क्षमता में जैसे-जैसे प्रगति करता है, वैसे-वैसे प्रकृति की दया पर कम निर्भर होता जाता है। उदाहरण के लिए गर्म जलवायु का प्रभाव वातानुकूल नियंत्रित साधनों से अधिकाधिक बदल सकता है, जबकि वस्त्रधारण की आदत भौगोलिक परिस्थितियों से निर्धारित नहीं होती बल्कि परम्पराओं और रीतियों के विचार से जो भौगोलिक कारणों के विपरीत पड़ती हैं। इस प्रकार हिन्दू नारियाँ और इससे भी अधिक मुसलमान औरतें, उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में रहकर दूसरों के सामने अपने अंगों का प्रदर्शन करना नैतिक रूप से उचित नहीं समझेंगी, जबकि पश्चिम में ठंडे देशों की औरतें हमेशा उस संयम को पसन्द नहीं कर सकतीं।

२. पर्यावरण घटक (Environmental factor)—मनुष्य द्वारा परिणामित भौतिक वातावरण में परिवर्तन के साथ तुलनात्मक रूप से सामाजिक जीवन में परिवर्तन होता है। मनोवैज्ञानिक रूप से यह दृष्टिकोण व्यवहारवाद के नेता जे० बी० वाटसन द्वारा विस्तृत रूप से प्रतिपादित एवं प्रचारित किया जा चुका है। उनके अनुसार बच्चे का व्यवहार वातावरण के प्रति अपनी बार-बार की गयी प्रतिक्रियाओं से निर्धारित होता है, और यदि वातावरण बदल दिया जाये तो उसका व्यवहार भी स्वतः बदल जायेगा। समाजशास्त्रीय चिन्तन के माध्यम से यह दृष्टिकोण गृह-निर्माण और कस्बा-योजना के दर्शन में बदल गया जिसके अनुसार कस्बे के चित्रों के विभिन्न प्रकार का प्रभाव, समुदाय जीवन पर मिला होगा। पंजाब की नयी राजधानी चंडीगढ़, इसके प्रधान शिल्पी द्वारा इस प्रकार बनायी गयी है कि समुदाय में एकत्व और सुविधापूर्वक मिलने की भावना को प्रोत्साहन मिलता रहे क्योंकि दूसरी चीजों के साथ-साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक की दूरी बहुत अधिक नहीं है। पुनः १९२३ के अग्निकाण्ड एवं भूचाल के परिणामस्वरूप याकोहामा का स्थापत्य अधिकतर नष्ट हो गया था। जब शहर फिर से नया बनाया गया तो भूचाल और अग्निकाण्ड से पूर्व मकानों से सम्बन्धित अनेक व्यवहार परिवर्तित हो गये।^१

इसी प्रकार नये यन्त्रों से प्राकृतिक कृषीय और खनिजीय स्रोतों का उपयोग करने से मनुष्य ने अपने वातावरण और परिणामतः अपने सामाजिक जीवन और संस्थाओं को वृहत्तर-स्तर पर बदल दिया है। युगों प्राचीन कृषि के साधनों से युक्त प्राचीन गाँवों की तुलना में मॉडर्न शहर और औद्योगिक समुदाय के सामान्यतया भिन्न उपादान एवं ढाँचे हैं।

देशान्तर गमन एक दूसरा दृष्टान्त है जिससे लोग उपयोग में लाये जाते हुए वातावरण से भिन्न नये वातावरण की ओर उन्मुख होते हैं। यही बात खाद्य की कमी या अतिरिक्त जनसंख्या, खनिज साधनों के लिए लोभ, साहस की भावना से युक्त या सांस्कृतिक या सौन्दर्य मूलक दृष्टि से अधिक जीवनदायक समझे गये एक स्थान को पसन्द करने के कारण चरितार्थ हो सकती है। इस प्रकार आप्रवासी स्वदेशी सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचे में पूर्णतः घुलमिल सकते हैं, यदि उनकी सुव्यवस्थित और कठोर सामाजिक परम्पराएँ रही हों। उदाहरण के लिए, भारत

१. Vide John Lewis Gillin and John Philip Gillin : Cultural Sociology, p. 564, The Macmillan Company, New York.

के लम्बे इतिहास में आरम्भिक आक्रामकों के सम्बन्ध में यही बात हुई, जो कठोर स्वदेशी जाति-प्रथा और शेष सांस्कृतिक नियन्त्रण के कारण कमोबेश रूप में भारतीयों के सांस्कृतिक ढाँचे को अपनाने के लिए बाध्य हुए।

लेकिन विशेषतया व्यवस्थित शासक के रूप में आप्रवासी लोग यदि सुदृढ़ हुए, तो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया ने उनसे विचारणीय दिशा प्राप्त की। उनकी जीवनशैलियों का अन्धानुकरण किया जाता है क्योंकि शासकों के रूप में उन्हें प्रतिष्ठा मिली होती है। इसके अतिरिक्त, शासकों के वातावरण के अनुसार देश के सामाजिक एवं राजनीतिक ढाँचे में व्यापक परिवर्तन होता है, जिससे वे एक ओर अपने आर्थिक और राजनीतिक हितों को स्थायी रखते हैं और दूसरी ओर व्यक्तिगत सुविधाओं को। इस प्रकार आधुनिक युग में आधुनिक उपनिवेशवाद का इतिहास सामाजिक परिवर्तनों के दृष्टान्तों से परिपूर्ण है जो शासित पर शासक के सांस्कृतिक प्रभावों के परिणाम हैं। जबकि सामान्यतः यह समझा जाता है कि क्यों शासक लोग शासितों पर अपनी उच्चता का आतंक जमाते हैं और दूसरों से सामाजिक अलगाव रखते हैं, यह कहीं अधिक कहीं कम समझा गया है कि क्यों बार-बार आक्रमणग्रस्त राष्ट्र आक्रामकों के प्रति जातीय उच्चता के एक कृत्रिम बोध के साथ प्रतिक्रिया करते हैं जो व्यवहारमूलक प्रतिक्रिया के एक राष्ट्रीय ढाँचे में लगभग सुदृढ़ हो जाता है, केवल सैन्य आक्रमण की विशिष्ट परिस्थितियों के ही प्रति बल्कि स्थानान्तरण के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त द्वारा, अन्य सामाजिक उद्दीपनों के प्रति भी। इस तरह जातीय उच्चता न केवल सामूहिक हीनता अनुभूति का एक मामला है बल्कि अक्सर राष्ट्रों द्वारा सचेत होकर अपनाई गयी सुरक्षा की यंत्र-संरचना है। इससे उनकी शक्ति एवं निर्विरोधिता सुदृढ़ होती है, जिसके बल पर वे वास्तविक युद्ध परिस्थितियों या युद्ध से उत्पन्न भयों से निपटने में समर्थ होते हैं। पराजित और अपमानित राष्ट्रों की जातीय उच्चता की अनुभूति सामाजिक परिवर्तनों में बाढ़ ला देती है—राष्ट्रीय चेतना एवं दूसरे राष्ट्रों एवं समूहों के प्रति घृणा और अज्ञानता—आरोपित शिक्षा, युद्ध वातावरण और युद्ध की शक्त, राज्य में सैन्यीकरण और तानाशाही, यह सभी कुछ राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को दोषमुक्त करने के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए—जर्मनी और इटली में द्वितीय महायुद्ध के दौरान में यही हुआ था।

३. जनसंख्या—राष्ट्र या किसी समूह की जनसंख्या की आकृति इसके सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर विशिष्ट प्रभाव डालती है। जनसंख्या में व्यापक सामाजिक वृद्धि न केवल व्यवस्थित राष्ट्र के लिए ही, बल्कि आज के

युग में संसार भर के लिए गम्भीर खतरा है। इसके अतिरिक्त अन्य दूसरे घटकों में शोषित राष्ट्रीय सम्पत्ति एवं जन-शक्ति के घटक, परिवार के आर्थिक रहन-सहन और फलतः एक राष्ट्र का स्तर मुख्य रूप से परिवार में पोषित किये जाने वाले सदस्यों पर आश्रित है। अन्य चीजों के समान होते हुए सम्भावना है कि जन-संख्या तुलनात्मक रूप से कम हो और साथ ही आर्थिक रहन-सहन का स्तर बहुत उच्च हो। रहन-सहन के उच्च आर्थिक रूप की स्थिति बदले में उग्र सामाजिक परिवर्तनों को जन्म देती है, जैसे, स्वदेश की सीमा और परम्परा को तोड़ती हुई सहज गतिशीलता, संगठित क्लब का जीवन, सामाजिक एवं शैक्षिक संस्थाओं की उन्नति एवं वृद्धि, और अधिक योग्यतापूर्वक व्यापार एवं उद्योग के संगठित जाल और इस सबके परे जीवन परिस्थितियों के प्रति सम्पूर्ण प्रवृत्तियों में क्रान्ति करना जैसे घर और समाज में बच्चों और औरतों की अवस्था, जन्म-नियंत्रण इत्यादि। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक रीति-रिवाज अधिक बच्चों वाली माँ के पक्ष में नहीं हो सकते। इसके विपरीत, युद्ध की अवस्था में जन्म दर की कमी अंतिम हार का संकेत माना जाता है और सरकार अधिक बच्चों को जन्म देने वाली माताओं को राष्ट्रीय-नायिका की उपाधि अथवा ठोस पुरस्कार दे सकती है।

जब अव्यवस्थित जन-संस्था के दबाव और जोर के नीचे एवं सामान्य सामाजिक जड़त्व के द्वारा रहन-सहन के आर्थिक स्तर में समानुरूप विकृति आ जाने से समय पर एक रोगविज्ञानमूलक सामाजिक घटना अपना अस्तित्व प्रदर्शन करती है, तब गरीबी अनिवार्यता या तर्क के द्वारा सामाजिक अनिवार्यता के रूप में स्वीकार कर ली जाती है और समय की गति में संभवतः एक सामाजिक सद्गुण के रूप में स्वीकार की जाती है। परिणामस्वरूप यह नयी सामाजिक एवं नैतिक संस्थाओं जैसे भीखभंगी, दान, तुलनात्मक रूप से घनी द्वारा गरीब का संरक्षण आदि की स्थापना करता है। इसलिए सामाजिक परिवर्तन पर प्रभाव डालने वाली प्रवृत्तियों के विमर्श में जनता की मनोवैज्ञानिक मानसिक प्रवृत्ति, विभिन्न आयु-समूहों, मानसिक एवं शारीरिक रूप से स्वस्थ एवं अस्वस्थ जनता के अनुपात और स्त्री-पुरुष-भेद के अनुपात को अतिरिक्त रूप से ध्यान में रखना चाहिए।

४. युद्ध—यद्यपि यह व्यापक सामाजिक-आर्थिक असन्तुलन का परिणाम है, सामूहिक विक्षिप्ति नहीं, तो भी युद्ध अपने आपमें सामाजिक परिवर्तन का एक महान् उत्पादक घटक माना गया है। इसीलिए जब लोग पूर्वावस्था से थक जाते हैं और जब सामाजिक चिन्तन और रचनात्मकता के योग्य नहीं रह जाते तो

वे अपने अन्तरतम से पतन की इच्छा करते हुए युद्ध चाहते हैं। सामाजिक परिवर्तनों के अतिरिक्त, जो अधिकतर प्रत्यक्षतः व्यापक विनाश से सम्बद्ध होते हैं—जैसे शरणार्थी समस्या के फलस्वरूप जनसंख्या का पुनर्समायोजन, रिक्त आर्थिक स्रोत और फलतः दरिद्र सामाजिक एवं शैक्षिक संस्थाएँ, निर्बल आस्था और अपमान, विजेता द्वारा पराजित पर आरोपित जीवन-शैली को कायरतापूर्वक स्वीकार करना—कुछ अप्रत्यक्ष किन्तु साथ ही दूर तक प्रभावित करने वाले परिवर्तन भी होते हैं। उदाहरण के लिए, युद्ध के समय आदमियों की कमी के कारण बाध्य होकर पुरुषों द्वारा नियंत्रित रीतियाँ औरतों को आगे आने एवं मर्दों के साथ भाग लेने के अवसर एवं प्रलोभन उत्पन्न करें, इस प्रकार अनिवार्यतावश गृहकार्य से उन्हें मुक्त करते हुए, जो कुछ दशकों के लिए स्वयं औरतों की प्रत्याशा में युद्ध जीतने की भावना से जकड़ ले। इससे सामाजिक और पारिवारिक जीवन का सम्पूर्ण रंग की बदल जाता है क्योंकि औरतें आर्थिक और आन्दोलन की स्वतंत्रता प्राप्त करके पुरुष के बराबर होने का दावा करती हैं। हर तरह से युद्ध युगों प्राचीन रूढ़ियों को शीघ्रता से तोड़ देता है और नैतिकताओं, व्यापारिक व्यवहारों, अन्तर-व्यक्तिगत सम्बन्धों, यौन सम्बन्धों आदि में शिथिलता प्रचलित करने के लिए उत्तरदायी है।

५. मनोसामाजिक घटक—व्यापक रूप से सामाजिक परिवर्तन में मनोवैज्ञानिक और सामाजिक घटक अपने तत्त्वों को एक दूसरे में समाहित (overlap) किये रहते हैं और एक दूसरे से अलग रूपों का विवेचन करना कृत्रिम लगता है। मनुष्य जैविक प्रेरणाओं का एकत्व है जैसे सहज प्रवृत्तियाँ और प्रारम्भिक इच्छाएँ, सामाजिकतया निर्धारित जानकारीयाँ, इच्छाएँ और उद्देश्य, और अधिकतर अहं या आत्मा से निःसृत व्यक्तिगत व्यक्तिकरण और उसके चारों ओर उसका विकास। वह सक्रिय, स्वाग्रही, व्यवस्थापरक, सृजनात्मक और प्रयोजन-चेता होता है तथा उसके अनुपात एवं समन्वय व्यक्तिगत परिस्थितियों से निर्धारित होते हैं। सामाजिक परिवर्तन के सार्वभौमिक घटना को मात्र उसकी इन्हीं विशिष्टताओं से समझा जा सकता है, यदि हम इस सूची में विविध विश्वदर्शनों में प्रतीयमान नैतिक एवं गहनतर आध्यात्मिक मूल्यों की उच्चशक्ति प्रेरणा को नहीं जोड़ते। यह एक व्यापक सामान्यीकरण है जिसमें विविध मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान साधारणतया उचित होते हैं।

शिशु की आधारिक जरूरतें हैं, सुरक्षा का बोध, जो उन्हें प्रेम के माध्यम से सुनिश्चित करता है और सन्तोष का सामान्य बोध, स्वामित्व का बोध या एक

अथवा अनेक समूह की सदस्यता, मान्यता का बोध या समूह में स्थान प्राप्ति। ये मूलभूत प्रवृत्तियाँ उद्दीपन के प्रति उसे विविध प्रतिक्रियाएँ करने को बाध्य करती हैं और उनमें उन प्रतिक्रियाओं को दुहराने की आदत बनाती हैं जो अच्छी प्रकार उसकी जरूरतों को पूरा करती हैं। इस प्रकार समूह एवं व्यक्ति के व्यवहारों की अन्तर-क्रीड़ा के साथ, एक व्यक्तिगत और एक 'सामाजिक' रीति विकसित हुई है। लेकिन जैसे ही सामाजिक उत्प्रेरक बदलते हैं, उदाहरण के लिए—किसी के पद और सुरक्षा के प्रति खतरा और उचित प्रेम की अस्वीकृति—मानव प्राणी अपनी आधारिक जरूरतों की पूर्ति के लिए नये मनोरंजनों को पाने का प्रयत्न करता है। नयी संवेदना के परीक्षण की गति में वह सामाजिक परिवर्तनों का आरम्भ करता है जो किसी तरह तब तक सुसंगत नहीं हो पाती जब तक नयी चेतना या प्रतिक्रिया उसके साथियों द्वारा अधिक संख्या में नहीं अपना ली जाती। फलतः लिन्टन के सिद्धान्त में एक महान् सार्थकता मालूम पड़ती है कि किसी प्रदत्त संस्कृति के असन्तोष और बचनी—सामाजिक संघर्ष, दमनकारी नीतियाँ, इत्यादि—सामाजिक परिवर्तन के लिए पर्याप्त प्रेरक हैं।

जबकि आदिकालीन संस्कृतियों के सम्बन्ध में यह विशिष्ट रूप से लागू होता है कि मनुष्य नये से भयभीत होता था, फिर भी इसे बिल्कुल अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वह नयी पद्धति एवं विचारधारा को पसन्द करता है, जो अन्ततः उसकी आधारिक जरूरतों को सन्तुष्ट करती है, जैसे उपलब्धि और सफलता के माध्यम से सुरक्षा का बोध, प्रतिष्ठा का बोध, वातावरणों पर अधिकार के माध्यम से जीवन के नये आरामों का अनुभव। इस प्रकार की नवीनताएँ समाज में रचनात्मक क्षमता वाले कुछ थोड़े मनुष्यों द्वारा या उप-समूहों द्वारा स्पष्ट रूप से और विशिष्ट रूप से उत्पन्न की जाती हैं, किन्तु वे शीघ्र ही लोक रीतियों में प्रविष्ट हो जाती हैं और विचारणीय रूप से उन्हें बदल देती हैं। इस प्रकार नवीनता का प्रेम सामाजिक परिवर्तन लाने में एक महत्वपूर्ण घटक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ व्यक्ति अपने सह-योगी शिथिल साथियों की अपेक्षा सामाजिक परिवर्तन लाने में अधिक अग्रगामी भूमिका अदा करते हैं जो इसके प्रति स्थूल झटके के साथ सचेत होते हैं और इससे

१. Vide Linton, Ralph, *Acculturation in Seven American Indian Tribes*, pp. 462—482, D. Appleton-Century Co., New York.

अधिकतर अव्यवस्थित रूप से समायोजन कर पाते हैं। यह संकेत 'इतिहास के महान् व्यक्ति सिद्धान्त' पर आधारित है, जिसे अनेकों समाजशास्त्रियों, इतिहासकारों और शिक्षाशास्त्रियों ने त्याग दिया है क्योंकि कारण यह है कि वह मानव इतिहास का अतिसामान्यीकरण कर देता है और सामाजिक मूल्यों को कुछ नेताओं और महान् व्यक्तियों पर गलत ढंग से आरोपण कर देता है और मानव समुदाय की प्रतिष्ठा का ध्यान किए बगैर उनको समाहित करता है। इस आक्षेप में एक बहुत बड़ा आधार है। फिर भी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शक्तिमान व्यक्तित्व—हीनता-ग्रन्थि, ज्वलन्त सामाजिक सेवा, नैतिक गुण, दुर्दम्य प्रतिभाओं की शक्ति के लिए प्रयत्न करते हुए शक्तिपूर्ण प्रेरणाओं की अन्तिम उपज, आप इसे चाहे जो भी कहें—विशिष्टता के साथ सामाजिक परिवर्तन के अग्रगामी साधन हैं क्योंकि वे स्वयं एक विशिष्ट समाज के विशिष्ट सांस्कृतिक कल्याण की उपज है और परिणामतः समाज के प्रति अपने ऋण को भुला नहीं सकते और न उनकी ओर से अनुगामी लोग ही दावा कर सकते हैं कि वे समाज में अनिवार्य परिवर्तन लाने के लिए 'ईश्वर-प्रेषित' व्यक्तित्व हैं।

इस बिन्दु के चारों ओर सम्पूर्ण विवाद सामाजिक स्थिति और जनसमुदाय के सम्पर्क में महान् व्यक्तियों के कार्य पर असंतुलित ढंग से जोर देने के कारण उत्पन्न हुआ है। सम्भवतः बिना खतरे के किसी भी चरम बिन्दु पर जाकर, समाजशास्त्र, इतिहास और शिक्षाशास्त्र को चाहिए कि वे सामाजिक परिवर्तन लाने में गत्यात्मक व्यक्तियों द्वारा किए गए कार्य को ठीक एवं संतुलित दृष्टि से प्रस्तुत करने में समर्थ हों।

६. शिल्प-शास्त्रीय (Technological) घटक—लगभग तीव्रतम सामाजिक परिवर्तन वैज्ञानिक एवं शिल्पीय घटकों द्वारा लाए गए हैं—विविध प्रकार की मशीनें, औजार इत्यादि। वे यातायात और साथ ही सम्प्रेषण के तीव्र एवं सुविधापूर्ण साधन उत्पन्न करके स्थानीय सीमाओं को तोड़ देते हैं। मुद्रण, रेडियो और वायुयान एक साथ विश्व को निकट में ले आए हैं जिन्होंने अन्तर-संस्कृति प्रभावों के लिए सुविधाएँ प्रदान कीं। परिणामस्वरूप प्राचीन की अलग या संकीर्ण संस्कृतियाँ नष्ट होकर अधिक खुली और सार्वभौमिक संस्कृतियों के लिए रास्ता बना रही हैं। औद्योगीकरण के माध्यम से, जिसे तकनीकी ने सम्भव बनाया था, जीवन का प्राचीन ग्रामीण ढाँचा कस्बा निर्माण की समस्या के साथ श्रम एवं रोजगार की समस्या को जन्म दे रहा है। प्रत्यक्षतः ग्राम्य जीवन के व्यक्तिगत सम्बन्ध कोई चुने तो पहले की तरह अनिवार्य न रहें, सहायता के साधन बिना किसी व्यक्तिगत

सम्पर्कों के दूर और नजदीक से घर में पहुँचाए जा सकते हैं। वास्तव में जीवन के इर्द-गिर्द व्यापार-सिद्धान्त शुद्ध यांत्रिकीय तरीकों के आधार पर अधिक संगठित किया जा सकता है—जो सिर्फ अवकाशपरक लेकिन प्रशंसनीय रूप से निर्व्यक्तिकता के लिए अन्तर-व्यक्तिगत सम्बन्धों का बलिदान करता है, लेकिन जीवन और सामर्थ्य की व्यापारीय विधियाँ होती हैं।

परिवार स्वयं अपने रंग में उग्र रूप से परिवर्तित हो गया है और इसका भविष्य अब भी प्रवाहमय है। प्राचीन कृषिमूलक संयुक्त परिवार उद्योगों के विकास के कारण तीव्रता से टूट रहे हैं। रोजगार की खोज में परिवार के सदस्य परिवार-स्थान परिवर्तित करने के लिए बाध्य हैं और उपपरिवारों की स्थापना हो रही है। इस प्रकार वे लोग जो पैतृक या संयुक्त परिवारों से दूर जा रहे हैं, जीवन की नई शैलियों, नई आदतों एवं नई दृष्टियों को विकसित कर रहे हैं जिससे प्राचीन लोग सांस्कृतिक पिछड़ेपन के कारण घर पर रहकर समन्वय नहीं कर सकते। और इस प्रकार पारिवारिक जीवन में संघर्षों की एक कड़ी आरम्भ हो जाती है जो सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन को अनिवार्य बना देती है।

वस्तु, पद्धति और क्षेत्र में शिक्षा की प्रणाली भी क्रांतिकारी ढंग से बदल जाती है। उदाहरणतः नर्सरी, किण्डरगार्टन और उनके कई अनुवर्तन बच्चों को शिक्षित करने के दायित्व से परिवार को मुक्त कर देता है और जब तक परिवार जीवन की प्रजातांत्रिक पद्धतियों द्वारा उन्हें सहायता न दी जाएगी वे अभिभावकों और बच्चों के सम्बन्ध को अधिक रूपात्मक और निर्व्यक्तिक बना देंगे।

जबकि एक तरफ से शिल्पगत तकनीकी परिवर्तनों ने मानव व्यवहारों एवं सम्बन्धों को अधिक विस्तृत कर दिया है और दूसरी ओर उन्होंने युद्धों और संघर्षों को बढ़ाया है जिससे कुछ लोग सोचने लगे हैं कि शिल्पीय प्रगति अन्तर्निहित और अजेय विरोध एवं बिलगाव से युक्त है। इसका गहराई से विश्लेषण करने की जरूरत है। सत्य यह है कि तकनीकी प्रगति तीव्रता से हुई है जिसके लिए जन-समुदाय मानसिक रूप से सुसज्जित नहीं था। कुछ लोगों ने एकबारगी परिवर्तन को खतरा समझ कर प्रतिक्रिया की और आग्रह किया है कि पुराने दिनों जो श्रेयस्कर थे, की ओर लौट चलना चाहिए, दूसरे परिवर्तन के लाभों का दुरुपयोग करके अपने व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय स्वार्थ की पूर्ति करना चाहते हैं और अन्य इस परिवर्तन को मन एवं समाज के उच्चतर प्रयोजनों के लिए प्राप्त करना चाहते हैं। आवश्यकताओं, प्रतिभा और कुछ मनुष्यों की रूपरेखाओं में उत्पन्न होकर, यह स्वाभाविक है कि शिल्पीय परिवर्तनों ने शेष जनता को चकित कर दिया है,

क्योंकि वे इसकी मूल सार्थकता को समझने में असमर्थ हैं। इस अन्तर को पूरा करना शिक्षा का काम है और शिल्पगत प्रेरणाओं को मनुष्य जाति की प्रसन्नता और शान्ति के लिए बिलकुल मानवीय दिशा देना है।

७. **सैद्धान्तिक घटक**—सामाजिक परिवर्तन पर दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक आदि विचारों का प्रभाव कम महत्वपूर्ण नहीं है। वास्तव में आदर्श-वादी दर्शनों के साथ वे सामाजिक परिवर्तन के एकमात्र कारण हैं। विचार की बाढ़ सचमुच अनिवार्य है और लोगों को आन्दोलित कर देती है। विचार के प्रेषण के लिए यांत्रिकीय नवीनताओं के माध्यम प्रदान किए गए हैं, जैसे मुद्रण और रेडियो ने इसे और अत्यधिक अनिवार्य बना दिया है। इस प्रकार नए वैज्ञानिक विचार नए धर्मों एवं दर्शनों से जगत को परिवर्तित कर दिया। ईसाइयत, बौद्धदर्शन और साम्यवाद का घटना-प्रधान विकास, क्रम से ईसा, बुद्ध और मार्क्स के विचारों के आधार पर हुआ, और फ्रायड के विचारों के आधार पर असंदिग्ध यौन नैतिकता का उदय मानव मन पर जादू-प्रभाव डालने वाले कुछ नए विचारों के उदाहरणों को लिया जा सकता है, जिन्होंने जीवन के मूल्यों एवं प्रवृत्तियों को बदल दिया और सम्भावित रूप से व्यवहार के नए ढाँचे प्रस्तुत किए। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सभी सामाजिक परिवर्तन साधारण एवं सहज और गतिशील भी हैं। वास्तव में वे विचारक जो विश्वास करते हैं कि कोई सामाजिक परिवर्तन जब तक दो विरोधी सामाजिक शक्तियों में संघर्ष न हो, नहीं घटता। उनके अनुसार सामाजिक संघर्ष सामाजिक परिवर्तन का कारण है। फिर भी कुछ घटक जो परिवर्तन को नियंत्रित करते हैं और सांस्कृतिक पिछड़ेपन को परिणामित करते हैं, उनका उल्लेख किया जा सकता है।

(क) **वयोवृद्धि**—प्राचीन एवं रूढ़िवादी लोग नए लोगों की जीवन-शैली का विरोध करते हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्तियाँ एवं जीवन-शैली प्राचीनों से आमूलतः भिन्न होती हैं।

(ख) **निहित स्वार्थ**—वे जो उपलब्धि करते हैं या अपने को लाभान्वित हुआ विचारते हैं, समाज की वर्तमान व्यवस्था के माध्यम से परिवर्तन के प्रति अपना पूरा विरोध प्रगट करते हैं। उदाहरण के लिए समाजवादी व्यवस्था के प्रति पूँजीवादी वर्ग का विरोध।

(ग) **सांस्कृतिक जड़त्व और भय**—वे जो गुलामी, गरीबी आदि के भारी वजन के नीचे जीवन में डूबे हुए हैं और वे जो आत्मविश्वास की कमी के कारण डरते हैं कि सामाजिक परिवर्तन मृतक भार सिद्ध होगा।

(घ) प्रवृत्तियाँ, विश्वास और धार्मिक अभिप्राय एक समुदाय में गहराई में डूबे होते हैं।

(ङ) सांस्कृतिक अलगाव दूसरी संस्कृतियों के प्रति संकीर्ण निष्ठाओं एवं शत्रुताओं में परिणामित होते हैं।

(च) सामाजिक मूल्य—यद्यपि यह विरोधाभास लगेगा परन्तु सामाजिक मूल्य परिवर्तन विरोधी होते हैं। क्योंकि बौद्धिक स्तर पर उनका कार्य संग्रहमूलक होता है, वे सभी प्रकार के परिवर्तन को सुविधाजनक बनाने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि उन्हीं को, जो जीवन में उच्चतर नैतिक एवं सामाजिक मानदण्डों को प्रदर्शित करने के लिए जोड़े गए हैं। यदि सामाजिक परिवर्तन अपनी प्रेरणा के अनुसार ठीक-ठीक नहीं आता तो ऐसा सामाजिक मूल्यों के दबाव के कारण ही होता है। क्योंकि यह तय है कि सभी परिवर्तन अपने आप में शुभ या प्रगति नहीं हैं और फलतः सामाजिक मूल्यों के घरातल, सामाजिक परिवर्तन के निर्देशन में से नापा जाना चाहिए। यहाँ तक कि सामाजिक परिवर्तन का सांगोपांग अनुगामी सामाजिक परिवर्तन के निर्देशन में स्वयं में उपयोगी मूल्यों के कार्य की उपेक्षा नहीं कर सकता—चाहे उसके मूल्यों की प्रकृति कुछ भी हो। क्रमबद्ध एवं गम्भीर प्रणालियों के रूप में—मात्र नवीनताओं, विचार या प्रचार-खण्ड, रचनात्मकता या दुर्दम्यता की निखालिस अशक्ति के विरोध में युगों की बुद्धिमत्ता पर आश्रित सामाजिक मूल्य होते हैं और वर्तमान दार्शनिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान पर दोहरा कार्य करते हैं। नैतिक प्रगति के पक्ष में अवांछनीय परिवर्तन को नियंत्रित करते हैं और वांछनीय सामाजिक परिवर्तन को उन्नत करते हैं। यह परिवर्तन की मात्र दूरी और मात्रा नहीं है जिसका महत्त्व है, बल्कि सामाजिक मूल्यों के पक्ष में जो अधिक मूल्यवान है, वह प्रयोजनमूलक रूप से परिवर्तन का गुण है।

इस अध्याय में सामाजिक परिवर्तन का व्यापक रूप में विश्लेषण किया गया है, जिससे उस समस्या को हल करने में शिक्षा को जानना चाहिए कि यह किसके विषय में है। आज सामाजिक परिवर्तन मात्र अपनी मात्रा के बल पर इतना महान् है कि शिक्षा किसी भी क्षेत्र में आसानी से प्रवेश कर सकती है और जहाँ बड़ा कार्य उसकी प्रतीक्षा कर रहा होगा। वास्तव में सामाजिक परिवर्तन की सम्पूर्ण समस्या शिक्षा का दायित्व है।

सामान्य शब्दावली में नई शिक्षा को नमनशील, जीवन और समाज केन्द्रित, उदार एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण का सम्मिश्रण, रचनात्मक एवं व्यावहारिक बनना है, जिससे यह सामाजिक परिवर्तन को ठीक दिशा में निर्देशित कर सके। समु-

दाय-स्कूल जिसका एक सीमा तक अन्तिम अध्याय में उल्लेख हुआ है, आर्जी तौर पर लेकिन निश्चित रूप से इसमें काम आ सकता है कि विद्यालय-स्तर पर शिक्षा को उन्नतिशील नमूने में किस प्रकार संगठित किया जाए जिससे बच्चों एवं वयस्कों के बीच की मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक दूरी कम होकर सुविधाजनक एवं वांछनीय सामाजिक परिवर्तन को निर्मित करे। बच्चे विद्यालय में अपने जीवन को संगठित एवं निर्देशित करने में अधिक दायित्व ग्रहण करें और विद्यालय-पाठ्यक्रमों एवं क्रियाकलापों को इस प्रकार नियोजित होना चाहिए कि सामाजिक लक्ष्यों की उन्नति हो एवं उच्चता बढ़े।

व्यावहारिक सुविधा और विवरण के लिए अब हमें सामाजिक परिवर्तनों के तीन प्रधान घटकों के सम्बन्ध में शिक्षा के कार्य का विशेषीकरण करना चाहिए, लेकिन निरपेक्ष रूप से नहीं—जैसे यांत्रिकी, सैद्धान्तिक प्रणालियाँ और मूल्य।

१. यांत्रिकी के सम्बन्ध में—विभिन्न स्तरों पर विद्यालयीय पाठ्य-क्रम मानव जीवन में यांत्रिकी के उदय और क्षेत्र का एक संक्षिप्त इतिहास और उनकी सामाजिक सार्थकता को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करे। दृश्य-श्रव्य-साधन सहायताओं, कस्बे के औद्योगिक जीवन में भागीदारी, विद्यालय में कार्य अनुभव जहाँ समुदाय द्वारा प्रदत्त प्रशिक्षा के माध्यम से कार्य अनुभव भी सम्भव हो, उनके लिए यांत्रिकी के रचनात्मक पक्ष इसके ध्वंसात्मक पक्ष के विपरीत, मानव की सेवा में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। किसी अस्पताल में पहुँचना, जहाँ युद्ध में कुचले हुए रोगी दारुण पीड़ा से छटपटाते हुए बिस्तर पर पड़े हों या चलचित्र के दृश्यों को दिखाना, जहाँ सर्जन (डॉक्टर), नर्स परिश्रमपूर्वक शल्य-चिकित्सकीय औजारों का उपयोग कर रही हों, इन सबको जानकारी की परिस्थितियाँ बना कर कोई निपुण शिक्षक अपने शिष्यों को यांत्रिकी के सदुपयोग को समझा सकता है। उसी प्रकार बैलिगल स्कूल में अंधों की शिक्षा या भूखमरी से ग्रस्त क्षेत्रों में, जहाँ लाखों मानव-मुख भोजन के लिए ललक रहे हैं, खाद्य-सामग्री पहुँचाते हुए वायुयानों के दृश्य प्राप्त किए जा सकते हैं। उद्देश्य दोहरा है। प्रथम, छात्रों को समस्या की बौद्धिक चेतना प्रदान करना, विशेषतः उन्हें स्वीकार करने में सहायक होना कि यांत्रिकी मानवीय उद्देश्य से युक्त सामाजिक उद्यम है और देवताओं के प्रकोप से घरती पर भेजी गई शैतानी शक्ति नहीं है। द्वितीय, यांत्रिकीय नवीनताओं के मानवीय उपयोग के पक्ष में उनके भावों को प्रशिक्षित करना।

छात्रों के लिए नए आर्थिक एवं औद्योगिक क्रियाओं में साथ ही समानु-

रूप सामाजिक प्रयोजनों में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना अनिवार्य है। इस लक्ष्य को निम्न उपायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है :

(अ) औद्योगिक क्षेत्रों एवं व्यापारिक दफ्तरों के पर्यवेक्षित निरीक्षणों से,
(आ) विद्यालय में छोटे पैमाने की उद्योगशालाएँ एवं सहकारी दूकानें प्रदान करने से,

(इ) विद्यार्थियों द्वारा छोटे पैमाने के विद्यालय बैंक चलाने की व्यवस्था से,

(ई) व्यावहारिक क्षेत्रीय कार्य से युक्त सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में जैसे विभिन्न सम्प्रदायों में जन-संख्या का, मजदूर वर्ग की परिस्थितियों और मजदूरियों का निरीक्षण के दायित्व को स्वीकारते हुए अर्थशास्त्र और उद्योग के मूल तत्त्व के क्रमिक अध्ययन और परिसंवाद प्रदान करने से,

(उ) दृश्यपट पर दूसरे देशों के औद्योगिक उपलब्धियों को और सामाजिक जीवन में उनकी कुल-उपलब्धि को जैसे गृहकार्य की पुरानी दैनिकता से गृहस्वामिनी की मुक्ति, श्रमिक लोगों की स्वास्थ्य सम्बन्धी और अस्पताल की सुविधाएँ, अनिवार्य राज्य बीमा, बुढ़ापे में पेन्शन, निर्धारित लेकिन समयानुसार छुट्टी के दिनों से युक्त काम के घंटे, अवकाश समय के क्रियाकलापों के लिए अधिक अवकाश और बेहतर सुविधाएँ, मजदूरों और उनके परिवारों के स्वास्थ्य एवं प्रसन्नता की देखभाल के लिए राज्य एवं व्यक्तिगत रूप से सम्पादित सामाजिक सेवाओं के कुल कार्य को प्रस्तुत करके एवं उनकी व्याख्या करने से, और

(ऊ) पदों पर, दूसरे देशों की शैक्षिक उपलब्धियों को, जैसे पालीटेकनीकल शिक्षा के क्षेत्र में—प्रस्तुत करना और उनकी व्याख्या करना।

व्यावसायिक शिक्षा जिसकी चर्चा चौथे अध्याय में पहले ही की जा चुकी है, अनिवार्य है क्योंकि यांत्रिकीय नवीनताएँ समाज के औद्योगिक एवं सामाजिक संगठन प्रस्तुत कर चुकी हैं जिससे बिना व्यावसायिक एवं पालीटेकनीकल शिक्षा के निपटा नहीं जा सकता। समाज में बदलते हुए आर्थिक ढाँचे में आज यदि व्यक्तिगत एवं सामूहिक विकृतियों एवं बेरोजगारी को, समाज की प्रगति और सुरक्षा के प्रति उनसे परिणामतः खतरों से बचाना है तो उदार एवं नैतिक निर्देश से अन्तर्ग्रथित व्यावसायिक शिक्षा का विद्यालय के कार्यक्रम में बड़ा भाग होना चाहिए। जनता विद्यालयों में आंशिक व्यावसायिक प्रशिक्षण के माध्यम से और सामुदायिक विद्यालय के नमूने पर पूर्णकालिक व्यावसायिक माध्यमिक विद्यालयों के माध्यम से आर्थिक और औद्योगिक क्षमता के साथ-साथ नए औद्योगिक जीवन पर परि-

णामित सामाजिक परिवर्तन के गहनतर अर्थ को विविध आयु समूहों के छात्रों द्वारा अनुभव किया जा सकता है।

पाठ्यक्रम में अनिवार्य कुछ दूसरी नवीनताएँ जो थकान और मनोरंजनों के अध्ययन हैं, जो एक ओर सामग्री उत्पादन को प्रभावित करने वाले घटक हैं और दूसरी ओर श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं प्रसन्नता को प्रभावित करते हैं। विद्यालय में लघु पैमाने के प्रयोगों से उसे सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है कि थकान के बने रहने पर किस प्रकार विशिष्ट कार्य-सम्बन्धी उत्पादन कम हो गया है। जबकि समयानुसार एवं पर्याप्त मनोरंजनमूलक सुविधाओं के औचित्य से उपज के स्तर में वृद्धि की जाती है। इसी प्रकार कारखाने के श्रमिकों में दुर्घटनाओं के संयोग एवं थकान के बीच परस्पर सम्बन्ध एवं अपर्याप्त तकनीकी शिक्षा और उस पर आधारित मृत्युदर के बीच के सम्बन्ध के अध्ययन को विद्यालय कार्यक्रम में क्रमशः प्रचलित किया जाना चाहिए, जिससे छात्र संगठन एवं तकनीकी क्रिया-कलाप को जान सकें। और भी, जीवन में रफ्तार की दर बढ़ जाने पर स्कूल निर्देश के विभिन्न स्तरों पर 'सुरक्षा शिक्षा' को प्रचलित करने की जरूरत है जो यातायात के लिए पंक्ति में खड़े होने, बस में सवार होने के लिए अपनी बारी आने तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने के नियमों पर जोर दें जिससे छात्र लोग बचपन से ही नई सामाजिक विधियाँ भली भाँति सीख लें।

शिक्षा के नए उत्तरदायित्वों में माध्यमिक एवं विश्वविद्यालयीय स्तरों पर विविध व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को सम्मिलित करना भी शामिल है। जैसे पाली-टेकनिक, व्यापारीय शासन, पत्रकारिता इत्यादि। श्रमिक लोगों की जरूरतों से निपटने के लिए विभिन्न पालियों में अंशकालिक पाठ्यक्रम प्राचीन विद्यालय के रूढ़ि-मूलक एवं स्थूल कार्यक्रम के परे शिक्षा जारी रखने के मूल्यवान साधन सिद्ध होंगे। ऊपर प्रस्तुत कार्यक्रम की संक्षिप्त रूपरेखा युवकों के मन में कार्य के प्रति यथार्थ-वादी प्रवृत्ति निर्मित करने के लिए बनाई गई है, जो श्रमिक आदत को विकसित करती है और श्रम के प्रति मानवतावादी प्रवृत्ति को अनुप्रेरित करती है।

शिल्पगत प्रगति ने किसी न किसी तरह जीवन के प्राचीन पारिवारिक ढाँचे को झटका देकर उपपरिवारों में बदल दिया है, इस प्रकार प्राचीन एवं नवीन के बीच खाई बढ़ गई है। अब यह शिक्षा का कार्य है कि वह सामाजिक परिवर्तन को सम्भाले और नए घरों के लिए आवश्यक निर्देश प्रदान करे। समाज की सफल क्रियाशीलता के लिए यह आवश्यक है कि विविध आयु समूहों के बीच का संघर्ष अवश्य ही समाप्त हो। विद्यालय इस लक्ष्य को चौथे अध्याय में विवे-

चित पद्धतियों के माध्यम से विद्यालीयीय जीवन में अभिभावकों को ले आने और किशोर शिक्षा के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करने से प्राप्त कर सकते हैं। शिक्षण के क्षेत्र में थार्नडाईक के प्रयोगों के बाद इस बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि सीखने की क्षमता पच्चीस वर्ष की उम्र के बाद समाप्त हो जाती है। थार्नडाईक के अनुसार ४० वर्ष की उम्र तक सीखने की क्षमता में कोई कमी नहीं आती। तथ्य तो यह है कि नई विधियों एवं कौशलों को सीखने के लिए व्यक्ति कभी भी बूढ़ा नहीं होता। साधारणतः, प्रौढ़शिक्षा का अर्थ पठन और लेखन में मात्र आरम्भिक प्रशिक्षण तक ही सीमित नहीं है—वह तो केवल बुनियादी बात है—बल्कि व्यापकाश्रित शिक्षा जिसे प्रौढ़ों को अपने से वंचित करना पड़ा था क्रमिक शिक्षा के लिए निर्मित की जाती है। यदि कुछ पीढ़ियों के अन्तराल को नए सामाजिक परिवर्तनों को स्वीकार करने एवं उन्हें अगली पंक्ति में ठीक-ठीक निर्देशित करने के लिए दूर रखता है तो प्रौढ़ शिक्षा को अधिक पूर्ण और प्रभावकारी होना है जिससे प्रौढ़ विचार एवं व्यवहार के ढाँचे समय की माँग के अनुसार विचारणीय रूप से रूपांतरित किए जा सकें।

प्राचीन एवं नवीन शिक्षा के अन्तर मिश्रण एवं अन्तर-चिंतन से दोनों के बीच समझ बढ़ेगी, संघर्ष न्यून होगा, और जीवनदायक मूल्यों एवं व्यवहार के नए संघर्ष-रहित प्रवृत्तियों का परिवारों में प्रचलन हो जाएगा; जिससे पारिवारिक रहन-सहन और पारिवारिक सम्मूहन को तनाव-रहित न बनाकर आनन्द-प्रामाणिकता को मानवीय सम्बन्धों के गुण से परखा जाना चाहिए। यदि मानव सम्बन्धों में विकृति पर रोक नहीं लगाई जाती तो सामाजिक परिवर्तन स्वयं गंभीर प्रश्न के रूप में उपस्थित हो जाएगा।

२. सैद्धान्तिक प्रणालियों के सम्बन्ध में—विज्ञान एवं दर्शन के विचारों की वृहत-संहिता शिक्षा के पुनःस्थिति-निर्धारण की जरूरत बतलाती है। प्रथम स्थान पर प्रायोगिक पद्धतियों से प्रदत्त क्रमिक वैज्ञानिक एवं दार्शनिक ज्ञान विद्यालय कार्यक्रम में उदारतापूर्वक प्रचलित किया जाना चाहिए, जिससे छात्रगण न केवल मात्र ज्ञान से, जो कुछ वह है, ही परिचित हो सके बल्कि रचनात्मक अध्ययनों के माध्यम से निर्णय के लिए आलोचनात्मक मन एवं स्वस्थ क्षमता विकसित कर सकें। स्वस्थ निर्णय, संगठित व्यक्तित्व और सुनियोजित, प्रसन्न और रचनात्मक जीवन एक साथ होते हैं। इसलिए शिक्षा की कोई भी प्रणाली प्रयोजन की हानि करती है यदि वह वस्तुपरक चिंतन की आदत और शिक्षण को मन में बैठाने से असफल रहती है; विशेषकर इस युग में जबकि नए विचार तीव्रता से प्रवेश कर

हैं। कई विचारधाराओं से पूर्णतः लाभ उठाने में समर्थ होना या उनकी चुनौती को स्वीकार करने के लिए शिक्षा को निम्नलिखित प्रकार के कुछ कार्यक्रम रखने चाहिए :

(क) विषयों पर सायास तैयार पाठ्यक्रमों का परिचय, जैसे मानव-ज्ञान का इतिहास, विज्ञान का उद्भव और विकास, कुछ प्रमुख दर्शन, कुछ राजनीतिक विचारधाराएँ। ये पाठ्यक्रम स्थूल नहीं, बल्कि छात्रों की विभिन्न आयु एवं बुद्धि स्तरों के योग्य होनी चाहिए।

(ख) प्राचीन एवं आधुनिक ढाँचे और समाज के भविष्य के सम्बन्ध और नए विचारों का परीक्षण एवं विवेचन करने के लिए विद्यालय में सामूहिक क्रियाओं का संगठन।

(ग) विभिन्न संस्कृतियों में अध्ययनों का प्रबन्ध—जहाँ आलोचनात्मक तुलना और मूल्यांकन के लिए विशिष्ट विचारधाराओं की व्यापकता हो। दैनिक कार्य से प्रचुर उदाहरण लेकर अध्ययनों को रुचिकर एवं सुविधाजनक बनाया जा सकता है।

(घ) सामाजिक गति को परिवर्तित करने में विभिन्न विचारों के प्रभाव को आँकने के लिए इतिहास से प्रामाणिक सामग्री की व्यवस्था। उदाहरण के लिए, भारतीय संदर्भ में बुद्ध का अहिंसा का सिद्धान्त और गांधी का अहिंसा का सिद्धान्त उस दृष्टांत के उपयोग में लाया जा सकता है।

(ङ) जनमत संग्रह का संगठन जिसके माध्यम से प्रश्नावलियों के उनके विविध स्तर—तैयार करना, सुव्यवस्थित करना और उन पर हुए विवेचन और उत्तरों को परखना आदि, समुदाय में सैद्धान्तिक योगदान की रेखा एवं समुदाय जीवन पर इसके समरूप प्रभाव को चित्रित करने में विद्यार्थियों के सहायक हों।

(च) सस्ते प्रचार चाहे व्यापारिक, राजनीतिक या धार्मिक हों, के विरुद्ध शिक्षा, गलत प्रवृत्तियों एवं गलत विचारों के प्रचार के विरुद्ध सुरक्षा के लिए। इसे ऐसे उदाहरणों को लेकर समझाया एवं स्पष्ट किया जा सकता है जो असंगत तथ्य प्रदान करते हैं और गलत आशाएँ समर्थित करते हैं जो कभी नहीं पूर्ण होतीं या नहीं हो सकती हैं। इस प्रकार सत्य को प्रचार से अलग दिखाया जा सकता है। सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं के उपयोग में वैज्ञानिक परिश्रम की तकनीक शिक्षक द्वारा शिष्य को प्रदर्शित की जानी चाहिए, इसके अतिरिक्त विज्ञापन मनोविज्ञान एवं प्रचार मनोविज्ञान के अध्ययनों द्वारा छात्रों को जानकारी कराने में अत्यधिक सहायक होना चाहिए कि कैसे अफवाह भरे, कट्टे-

छटे तथ्य और जड़ सामाजिक मूल्य आधुनिक प्रचार साधनों द्वारा निरपेक्ष सत्य की चोटी पर पहुँचा दिए जाते हैं।

(छ) आवश्यकतानुसार विद्यालय एवं कालेज द्वारा दूसरे राज्य एवं सामाजिक अभिकरणों के सहयोग से अभिभावकों के लिए लाभ-निर्देशन क्लिनिक संगठित किए जाने चाहिए। इसका उद्देश्य बच्चों के मनोवैज्ञानिक पालन में अनभिज्ञ अभिभावकों को ज्ञान प्रदान करता है। उच्च कक्षाओं के छात्र शिक्षकों की सहायता कर सकते हैं, जिनमें से अधिकतर को इस क्षेत्र में विशेषज्ञ होना चाहिए। शिक्षा के कर्तव्यों में काम चलाना नए मनोवैज्ञानिक ज्ञान एवं नैतिकता द्वारा इसलिए अनिवार्य कर दिया गया है कि बालकों का पोषण ऊल-जलूल पद्धति से नहीं बल्कि यह एक विधिवत एवं वैज्ञानिक पद्धति है। अभिभावकों को बचपन और किशोरपन के मनोविज्ञान के सामान्य निर्देशन के अतिरिक्त समस्या बालकों की स्थितियों को भी लिया जा सकता है, जिसमें छात्र भी अपने ढंग से भाग ले सकते हैं और जीवन की अपनी विधियों को सुधारते हुए एवं उन्नत करते हुए थोड़े-बहुत वे योगदान दे सकते हैं।

(ज) तीन वर्ष के अन्तर्गत बच्चों की जहरतों से निपटने के लिए स्वास्थ्य एवं औषधीय अभिकरणों के सहयोग में पूर्वविद्यालयीय शैक्षिक संस्थाएँ। अभिभावक लोगों को इन संस्थाओं से शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के सभी मानसिक बिन्दुओं पर मुफ्त सलाह की सुविधाजनक व्यवस्था होनी चाहिए। श्रमिक अभिभावक कार्य के समय अपने बच्चों को विशिष्ट कर्मचारियों की देखरेख में छोड़ सकें। उसी प्रकार किन्डरगार्टेन और क्रीड़ा-क्षेत्र तीन से छः वर्ष के बच्चों के लिए उनकी रचनात्मक एवं क्रीड़ापूर्ण क्रियाओं को पोषित करने में समर्थ होने के लिए बढ़ाए जाने चाहिए।

शरीर वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक ज्ञान के पश्चात् शिक्षा में ये नये लक्षण अनिवार्य हैं कि मानव व्यक्तित्व जन्म से लेकर बुढ़ापे तक एक लम्बी निरन्तरता है और शिक्षामूलक दृष्टि से, बचपन के आरम्भिक वर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं; इसी उम्र में मानव-व्यक्तित्व की नींव पड़ती है।

(झ) शारीरिक एवं मानसिक रूप से अयोग्य बालकों के लिए सेनिटोरियम विद्यालयों की स्थापना। इन विद्यालयों में वस्तुओं की प्रकृति से अध्ययनों की अवधि लम्बी होनी चाहिए, और अध्ययन के कार्यक्रम एवं पाठ्यक्रम साधारण बालकों के लिए विद्यालयों से भिन्न होने चाहिए। नए मनोवैज्ञानिक ज्ञान और पद्धतियाँ सिद्ध कर चुकी हैं कि अंधे, बहरे और मानसिक रूप से पिछड़े बालकों

को पढ़ाने के लिए एक विधि है जिसकी सम्भावनाओं को शिक्षा की दृष्टि से अच्छी प्रकार काम में लाया जा सकता है।

३. सामाजिक मूल्यों के सम्बन्ध में—चिन्तनशील एवं रचनात्मक मन हमेशा अनुभव, नए ज्ञान एवं नई समस्याओं के प्रकाश में सामाजिक मूल्यों की समीक्षा एवं पुनर्रचना करता है। सामाजिक मूल्यों की आलोचनात्मक व्याख्या एवं समन्वय प्रौढ़ता, उच्च बौद्धिक एवं नैतिक विकास को ध्वनित करते हैं। प्रारम्भिक एवं माध्यमिक विद्यालय स्तरों पर दार्शनिक विवेचन के लिए सामाजिक मूल्यों को परिचित नहीं कराया जा सकता। लेकिन निश्चय ही सामाजिक मूल्यों की व्यापक रूपरेखा साधारण पद्धतियों के माध्यम से छात्रों तक पहुँचाई जा सकती है। समुदाय जीवन में विद्यार्थियों की भागीदारी और सामान्य रूप में संवेगात्मक प्रशिक्षण के माध्यम से विद्यार्थी सामाजिक मूल्यों को उचित ढंग से चुनने में समर्थ हो सकते हैं। और विवेकी हो जाते हैं, भले ही इसमें बौद्धिक कारणों एवं न्यायों का अभाव हो। इसका अभिप्राय स्थूलता और सैद्धान्तिक आरोपण नहीं होता बल्कि विद्यार्थियों को विविध लेकिन परस्पर रूप से सुसंगत सामाजिक मूल्यों में अपने व्यक्तित्व के झुकावों में संतुलित रखते हुए भाग लेने के लिए उत्साहित किया जाना चाहिए। इससे उन्हें सामाजिक मूल्यों के अन्तर-सम्बन्ध का ज्ञान होगा। विद्यालय कार्य-क्षेत्र का समूह जानता है, कि विभिन्न लेकिन परस्पर परिवर्तनीय क्षेत्रों के अन्तर्गत कार्य करते हुए भी उन सबका एक ही लक्ष्य है—यानी सामाजिक कल्याण। वे जानते हैं कि कार्य के विविध क्षेत्र अन्तर-सम्बन्धित और परस्पर-प्रभावोत्पादक है, अन्यथा, व्यावहारिक सुविधा के लिए श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को लागू किया जाता; इस प्रकार वे एक दूसरे के कार्य में प्रतियोगिता का अस्वस्थ रूप नहीं देख पाते। इससे उनमें अपने सहयोगियों एवं कार्य के प्रति मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास होता है। यह उन्हें स्वीकारने में सहायक होता है कि गरीबी का नैतिकता पर उलटा प्रभाव पड़ता है तथा समूह श्रमों का राष्ट्रीय सम्पत्ति में संचयन होता है, कि राष्ट्रीय वैभव का अर्थ शुभ व्यक्ति स्वास्थ्य एवं आनन्द है एवं स्वास्थ्य एवं आनन्द से अधिक उत्पादन ध्वनित होता, आदि। इस प्रकार पूर्णरूप से वे सामाजिक जीवन के परस्पर बहिष्कारी एवं अलग प्रतीत होने वाले घटकों के अन्तर-सम्बन्धों को समझ लेते हैं।

अध्ययन में मानवजाति के नेताओं की साधारण एवं निर्देशात्मक जीवनियों का उदारतापूर्वक समावेश धर्मनिरपेक्ष आधार पर महान् मनुष्यों की शिक्षाओं का तुलनात्मक अध्ययन और महान् व्यक्तियों के दिनों का प्रभावकारी ढंग से मनाना

या कुछ दूसरे साधन सामाजिक मूल्यों को नौजवानों में सम्प्रेषित करने में समर्थ होने चाहिए।

कालेज और विश्वविद्यालयीय स्तर पर सामाजिक मूल्यों का अध्ययन विस्तृत कार्यक्रम की मांग करता है—अध्ययन परिधिर्याँ, सामाजिक विषयों में व्यापक अध्ययन जैसे, अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीतिक विज्ञान, समाज-विज्ञान और दर्शनशास्त्र। विश्वविद्यालय, दर्शनों एवं विज्ञानों के जीवित वातावरण में, सामाजिक एवं बौद्धिक सम्बन्ध में युवक और प्रौढ़ आयुस्तर के मिलन स्थल होने के कारण, सामाजिक मूल्यों को निरन्तर अध्ययन, समीक्षा और पुनर्रचना के अन्तर्गत परखते रहने का सहज अधिकार रखते हैं। अन्तर-विद्यालय आधार पर छात्रों का मिलन, छात्रों का अन्तर्राष्ट्रीय कैम्प और विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम, कालेजों में छात्रों के अन्तर्राष्ट्रीय संघ, जहाँ दूसरे देशों के छात्र अपना अध्ययन कर रहे हैं, विश्व के प्रगतिशील आन्दोलनों में छात्रों की सहभागिता और ऐसे ही अनुभव उन्हें समकालीन सामाजिक जीवन और समस्याओं की बेहतर समझ प्रदान कर सकते हैं तथा सामाजिक मूल्यों के संशोधन एवं मूल्यांकन में उनकी अत्यधिक सहायता कर सकते हैं।

उपरिलिखित प्रकारों में से किसी को भी चरितार्थ नहीं किया जा सकता यदि विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में उच्चरूप से सक्रिय एवं प्रौढ़ नेतृत्व न हो। नेतृत्व छात्रों, शिक्षकों और शैक्षिक शासकों द्वारा ही किया जाना चाहिए। शैक्षिक संस्थाओं में छात्र एवं शिक्षक को अपने नेतृत्व के गुणों को विकसित करने के लिए पूर्ण उत्साह प्राप्त होना चाहिए; जैसे, उत्साह, साधनसम्पन्नता, सामाजिक चेतना एवं सहानुभूति, सहयोग और दूसरों का विश्वास प्राप्त करने के लिए क्षमता, अपने में और आशवाद में विश्वास, दूसरों को प्रेम से जीतना और उनकी पुष्ट सम्भावनाओं एवं रचनात्मक योग्यताओं को मुक्त करना, चरित्र की दृढ़ता और बलिदान की भावना, विवरणों पर अधिकार और योजना बनाने की क्षमता, समकालीन सामाजिक समस्याओं की पूर्ण समझ, भविष्य की व्यापक दृष्टि आदि।

सर्वप्रथम शिक्षक का नेतृत्व आता है और वह सम्यक् चुनाव और सेवा के पहले एवं सेवा-काल में शिक्षक के सम्यक प्रशिक्षण के माध्यम से ही सम्भव है। उनका व्यावसायिक नीतिशास्त्र पूर्ण रचनात्मक और प्रेरक हो। इसे ज्ञान और सामाजिक समस्याओं के प्रति विशाल-हृदय, आत्म-आलोचना के द्वारा और युवकों के प्रति अपने प्रेम के द्वारा बनाए रखा जा सकता है। नेता के रूप में विद्यालय के

प्रधानाचार्य का कार्य कहीं अधिक महत्वपूर्ण है और विद्यालय के कुछ सम्बन्धों में निर्णायक घटक है।

परिणाम निकलता है कि सामाजिक परिवर्तनों की चुनौती से निपटने का भार परिस्थिति के तर्कानुसार शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं पर आ पड़ता है। वे ही हैं जो युवक के नेतृत्व प्रदान करने के कार्य का एवं साथ ही नेतृत्व में युवक को प्रशिक्षित करने का भार सँभालते हैं। वे कार्य में तभी सफलता प्राप्त कर सकते हैं, यदि वे दैनिकता, रूपात्मकता और यांत्रिक सेवा के प्राचीन मानदण्डों से बिलकुल ऊपर उठकर अग्रगामी मनोविज्ञानों एवं दर्शनों द्वारा प्रस्तावित रचनात्मक शिक्षा की नई एवं उच्च विधियों को अपनायेंगे। प्रशिक्षण विद्यालय में शिक्षक, हर तरह से, शैक्षिक व्यवसाय में सर्वोत्तम लोग हों, व्यावसायिकता के अपने गुणों के कारण साथ ही व्यापक जानकारी के लिए चुने गए हों, शिक्षण एवं प्रेरणा देने की प्रभावोत्पादक क्षमता रखते हों, व्यापक दृष्टि, उच्च चरित्र, संतुलन और नेतृत्व के लिए चुने गए हों न कि रूढ़ नियमों एवं संयमों की दैनिकता की अंधाधुन्ध भक्ति करने के लिए। इसे ऊपर से नीचे तक शैक्षिक शासन में उच्च गुण सम्पन्न नेतृत्व की जरूरत है जिससे वे जो इस संदर्भ में प्रशिक्षण कालेज के लिए शिक्षकों के चुनाव का भार ग्रहण करते हैं, शब्द के व्यापक अर्थ में स्वयं कार्य के लिए पर्याप्त रूप से सुयोग्य हों।

सहायक पुस्तकें :

1. Ross, E. A. : The Foundations of Sociology, The Macmillan Company, New York.
2. Barnes, Harry Elmore : Society in Transition, Prentice Hall, Inc., New York.
3. Ogburn, W. F. : Social Change, Viking Press, New York.
4. Sims Newell Le Roy : The Problem of Social Change, Thomas Y. Crowell Co., New York.

छठा अध्याय

नागरिकता के लिए शिक्षा और समाजीकरण

“शिक्षा के लिए प्रेम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। शिक्षा बालक के प्रेम और सहमति के कारण ही सम्भव है। हम बारम्बार देखते हैं कि बालक उस व्यक्ति के प्रति कैसा दृष्टिकोण रखता है जिसे वह प्यार करता है और उस व्यक्ति के शब्दों, शारीरिक मुद्राओं तथा दृष्टिकोणों का अनुकरण करने का प्रयास करता है।”

—अल्फ्रेड एडलर

मनुष्यों का समाजीकरण करने के लिए शिक्षा समाज के प्रधान अभिकरणों में से एक है। जैसा कि स्पष्ट हो जाएगा, नागरिकता और समाजीकरण की प्रक्रिया परस्पर समावेशी है। नागरिकता के लिए शिक्षा की सुविधाएँ व्यापक रूप से साधनपूर्णता एवं पर्याप्तता पर निर्भर करती हैं जिससे किसी समूह या समाज में समाजीकरण की प्रक्रिया को नियंत्रित किया जाता है। सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए कि समाजीकरण क्या है ?

जन्म के समय बच्चा असन्तुलित गतियों का एक समूह होता है जो जैविक जीवन-शक्ति से संघर्ष करते हुए, प्रौढ़ों की सहायता से जीवित रहने की चेष्टा करता है अन्यथा नष्ट होने के लिए बाध्य है। यह जैविक अनिवार्यता मानवीय बालकों के उन्नयनकृत समाजीकरण में प्रतिबिम्बित होती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो अस्तित्व के लिए जैविक संघर्ष के शब्दों में किसी परिभाषा को स्वीकार नहीं करती, बल्कि अन्तिम विश्लेषण में नैतिक एवं सामाजिक अवधारणाओं में, जीवन के उच्च गुणों में स्पष्टीकरण प्राप्त करती है। यह भी निश्चित है कि शिशु यदि मानवीय प्रभावों से अलग जानवरों द्वारा या उनके बीच पोषित किया जाय तो स्वयं वह मानवीय तौर-तरीके विकसित नहीं कर सकता। यहाँ तक कि पैर पर सीधे खड़े होकर चलना भी मानव समूह में ही सीखा जा सकता है। फलतः

व्यापक रूप से सभी मानवीय जानकारी अपने व्यापक अर्थ में सामाजिक समाजीकरण (Social conditioning) मानव समूहों में जानकारी की इस सार्वभौमिक प्रक्रिया का एक अंग मात्र है।

जन्म के समय असंतुलित गतियों की अस्पष्ट संहति से, एक शिशु प्रौढ़ों से सहायता प्राप्त कर क्रम-रहित गतियों को क्रमिक रूप से व्यवहार के संयुक्त ढाँचे में संगठित करता है, जो आवृत्तिमूलक अभ्यास के माध्यम से सुदृढ़ हो जाता है। इस प्रकार विकासमान शिशु जिस तरह से प्रशिक्षित हुआ है, विविध उद्दीपनों (Stimuli) के प्रति प्रतिक्रिया करने की आदतों को निर्मित करता है। इस व्यक्तिगत विकास की द्वन्द्वता से बचने का कोई उपाय नहीं। दूसरे शब्दों में समाजीकरण का अर्थ है समाज के मानदण्डों एवं तौर तरीकों की परिवर्धित बालकों द्वारा स्वीकृति, जिससे वे अपना विकास प्राप्त कर रहे हैं। मूलभूत समाजीकरण—लघुतम नियंत्रण जिससे एक बच्चा आरम्भ करता है—एक शिक्षण है जो प्रौढ़ों के अधिकार से आरम्भ होती है या जिसे ज्याँ पियेत ने 'निरोध की नैतिकता' कहा है।

जैविक और अंगीय आवश्यकताओं का अनुगमन करने वाली शारीरिक गतिविधियों के माध्यम से ही आरम्भ करके और क्रमिक रूप से किसी परिवार या इसके पूरक, जैसे शिशु-पालन-शाला में सामाजिक सम्बन्धों को विकसित करते हुए, कोई बालक निजी आत्मचेतना का विकास करना आरम्भ कर देता है एवं दूसरे व्यक्तियों के साथ निजी सम्बन्ध की भी जानकारी प्राप्त करता है। मांस और मनोवेगों का जैविक संगठन कायिक रूप से परिवार में अपनी इच्छाओं एवं प्रयोजनों को यदाकदा सुगमता से सन्तुष्टि प्राप्त अथवा कभी विरोध करा सामना करते हुए सामाजिक व्यक्ति के रूप में विकसित होता है। इस प्रकार इस व्यक्ति में क्रम से या मिश्रित रूप से आनन्द और पीड़ा की अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। अनुभूतियों के इसी वातावरण में, बाद में भावों एवं मनोभावों में विकसित होकर, बालक के सामाजिक विकास का आरम्भ होता है। उसके चारों ओर लोगों का व्यवहार उसे अनेकों मानवीय अनुभवों से परिचित करवाता है—प्रेम और घृणा, ईर्ष्या और सहयोग, भय और उत्साह, निराशा और आनन्द।

भाषा के ज्ञान से अनभिज्ञ अथवा उसे सीखने में लड़खड़ाहट का अनुभव करता हुआ या अभी उसे ग्रहण करने का लड़खड़ाहट भरा प्रयास, संवेदन भावुक तथा तर्क एवं नीतिशास्त्र अध्ययन से रहित वह बालक इस भावात्मक सामग्री से यत्नपूर्वक दूसरों की तुलना में अपने एवं अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में चित्र निर्मित करता है। इसी मानसिक-बिम्ब को विकासमान जीवन में वह अपने

सम्मुख रखता है। यह इसी भावात्मक तर्क द्वारा ही अपने अभिभावकों, भाइयों और बहनों को सामाजिक अर्थ से सजाता है। और साथ ही विभिन्न रूपों में अपनी शक्ति को क्रीड़ा का रूप देने का प्रयत्न करता है और इसी अनुभव के आधार पर उचित एवं अनुचित का बोध प्राप्त करता है। परिवार में मानवीय सम्बन्धों के वातावरण से आरम्भ करके वह अपना भावात्मक खाद्य प्राप्त करता है, साथ ही पारिवारिक वातावरण से अपनी शारीरिक क्षुब्धा की तृप्ति करता है। इसलिए शैक्षिक तथा सामाजिक रूप से समाजीकरण की आरम्भिक अवस्था चिरस्थायी प्रभाव से युक्त होती है जिससे अभिभावकों एवं शिक्षकों को एक साथ गहराई से उत्तेजित (keyedup) होने की जरूरत है।

मनोविश्लेषण ने पर्याप्त रूप से इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि किस प्रकार सामाजिक विकृतियाँ घरों में सम्यक् सम्बेदनात्मक ऊष्णता के अभाव के कारण परिणामित होती है, जिसे 'भावात्मक रेफ्रिजरेटर्स' कहना अधिक बेहतर होगा। कैंरेन हौर्नैय ने अपनी पुस्तक (Neurotic Personality of Our Times) में एक सक्रिय परिकल्पना प्रस्तुत की है कि घर के भावात्मक वातावरण के दबाव के अन्तर्गत बालक किस प्रकार समाजविरोधी या सामाजिक व्यवहार के ढाँचे का विकास करता है। परिवार में किस अंश तक प्रेम की उपलब्धि होती है और अपने स्वामित्व तथा सुरक्षा की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के प्रति वह किस सीमा तक अनुभूति अथवा प्रतिक्रिया करता है, उसके सामाजिक जीवन की प्रधान घटनाएँ हैं। हौर्नैय के मतानुसार उसकी प्रतिक्रिया तीन रूपों में विकसित होती है। या तो बालक लोगों के साथ गतिशील रहता है, यानी वह सहयोगी है, या लोगों के विरुद्ध है, यानी वह विद्रोही या बाधक है, या लोगों से दूर हो जाता है अर्थात् वह समाज से अपने को खींच लेता है। यद्यपि ये तीनों प्रश्न दृढ़ नहीं हैं, तिस पर भी ये मनोवैज्ञानिकों या समाजशास्त्रियों द्वारा निदानात्मक रूप से विवेचित सामाजिक प्रक्रिया के दृष्टान्तस्वरूप स्वीकार किए गये हैं, जिसके विषय में अभिभावकों एवं शिक्षकों को सम्यक् ज्ञान रखना चाहिए, जिससे शैक्षिक प्रक्रिया उचित रूप से ग्रहण की जा सके।

दर्शन समाजविज्ञान और मनोविज्ञान के क्षेत्रों में व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या करने वाले अनेकों विरोधी सिद्धान्त हैं, जिन्हें इस अध्याय

१. प्रकरण के लिए देखिए, John Lewis Gillin and John Philip Gillin : Cultural Sociology pp. 643-662, The MacMillan Company, New York.

में निबद्ध करना सम्भव नहीं हैं' फिर भी व्यापक सहमति के आधार पर समाजीकरण को सामाजिक अन्तरक्रिया की शब्दावली में समझा जा सकता है, जिसके तीन रूप होते हैं, समायोजन, विरोध और सहयोग।^१

१. सामाजिक समायोजन प्रारम्भ में उल्लिखित जैविक समायोजन का एक प्रतिरूप है। यह निजी सिद्धान्तों और तरंगों का अनुगमन करता है। समूह में रहने की अनिवार्यता के कारण ही व्यक्ति को समायोजन के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। यदि वह बिना संघर्ष और अच्छी प्रकार रहना ही चाहता है तो समाज या समूह के साथ उसे अपने अहं के साथ समझौता करना ही पड़ेगा। जैविक व्यक्ति सामाजिक व्यक्ति में परिवर्तित हो जाता है। विलियम जेम्स जैसा हमें विश्वास दिलाते हैं कि 'मैं' की चेतना में अधिक संलग्न होने के कारण वह सामाजिक चेतना के रूप में धीरे-धीरे विकसित हो जाता है। समाज-विज्ञान की भाषा में 'मैं अनुभूति' से 'हम-अनुभूति' की ओर एक परिवर्तन हो जाता है।

सामाजिक समायोजन में विकासमान युवकों की सहायता के लिए संस्कृति के तत्त्व प्रतीक्षारत हैं। विचारों की एक प्रणाली, व्यवहार के ढाँचे, प्रवृत्तियों एवं मूल्यों के सचेत आयात अवचेतन द्वार के माध्यम से अपना गहरा प्रभाव पहले ही डाल चुके थे, पूर्व इसके कि उनकी चेतनात्मक स्थिति एवं प्रभाव को पहचाना जाता। अपने चारों ओर के सामाजिक जगत से—घोषित समायोजन और प्रदर्शित स्वीकृति या अस्वीकृति से—बालक गलत और सही का और अपनी स्थिति और योग्यता का अपना बोध समूह में प्राप्त करता है। अन्य वस्तुएँ समान होने के कारण—घटक जैसे बुद्धि और स्वास्थ्य—सुरक्षाबोध के साथ न्यायपूर्ण (Judicious) प्रेम और सहानुभूति सामाजिक समायोजन की गति को त्वरित करते हैं। किसी व्यक्ति की आत्मचेतना का स्वभाव सामाजिक अनुभव से निर्धारित होता है। अहंवादिता और विकृतियाँ व्यापक रूप से व्यक्ति और जगत की एक दूसरे पर गलत क्रिया के परिणाम हैं। इस उक्ति में एक बड़ा सत्य है कि "व्यक्ति की आत्मा सामाजिक जगत पर सूक्ष्मदर्शीय प्रतिबिम्ब मात्र है।"

सामाजिक समायोजन प्रक्रिया से सम्बद्ध कुछ घटक सहानुभूति, अनुकरण, संकेत, क्रीड़ा और भाषा के नियमों के अनुसार पुनः प्रस्तुत किये जा सकते हैं,

जिनमें से प्रत्येक का घर और विद्यालय में उचित रूप से ग्रहण करने की जरूरत है। एक बालक सहानुभूति की आशा करता है और उसके माध्यम से सामाजिक जानकारी को अच्छी प्रकार बढ़ा लेता है। वह अपने इर्द-गिर्द के व्यक्तियों का अनुकरण करता है और अपने व्यक्तित्व में उन्हें आत्मसात कर लेता है। वह दूसरों के व्यवहार से व्यक्तिगत व्यवहार के लिए संकेतों एवं सुझावों को पकड़ता है। वह न केवल मूर्त शब्दों की भाषा को ही पकड़ता है, बल्कि सामाजिक और नैतिक अर्थ से परिपूर्ण प्रतीकों और विचारों को भी समझता है। वह भाषा प्रतियोगिता भी करता है, जैसे वह किसी पद्य का प्रारम्भ करता है जिसे उसके खेल-साथी कई बारियों में पूरा करते हैं; एक दूसरे को समझने एवं उन्हें अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार तुलनात्मक अलगाव से परिवार एवं पड़ोस में समूह के साथ विचरण करता है, जहाँ उसकी क्रीड़ा क्रियाएँ अधिकतर आग्रह (assertive) स्वभाव की होती हैं, क्योंकि अब तक वह व्यक्तिवादी होता है और समूह नैतिकता को विकसित और सुनिश्चित करना नहीं सीख पाया है न किसी कार्य के लिए समूह उत्तरदायित्व को स्वीकार करने के लिए तैयार ही हो पाया है और यदि समूह किसी एक सदस्य की क्रिया या दुर्व्यवहार के कारण दण्डित होता है तो लगभग वह रोष करता है।

उसके खेल-कूद की क्रियाएँ नितान्त कल्पना से लेकर रचनात्मक खेल तक अनेक रूप ग्रहण करती हैं लेकिन समाजशास्त्रियों की अवधारणा के अनुसार केवल उसी खेल का महत्त्व है जिसका समाजीकरण पर गहरा प्रभाव हो—वह खेल सामाजिक कार्य में भाग लेना ही है। बालक कदाचित् अन्य कार्यों की अपेक्षा किसी एक कार्य का चुनाव करता है और परिणामस्वरूप किसी अग्रणी कार्य से वह चिपट जाता है। पिता, अध्यापक या मेकैनिक का खेल खेलते हुए वह प्रौढ़ तौर-तरीकों को सीखता है क्योंकि समय की गति के साथ उसे भी उसमें भाग लेना होगा। उसके कार्य का चुनाव, समाज में स्थिति प्रणाली (status-system) की चेतना पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, एक अध्यापक का बालक अध्यापक की भूमिका खेलना पसन्द कर सकता है, लेकिन जैसे ही वह अपने पड़ोसी की बेहतर सामाजिक अवस्था के प्रति सचेत होता है, अपने पूर्व-विचारों को त्याग कर, व्यापारी की भूमिका खेलना पसन्द करेगा। वह समाज में प्रचलित प्रवृत्तियों के माध्यम से दूसरे विषयों में भी असन्तुष्ट-सचेत हो जाता है और यद्यपि, प्रारम्भिक अवस्था में वह इन साधनों के प्रति सचेत होता है तथापि बाद में क्रमिक रूप से वह साधनों

को छोड़ देगा और उसके साथ जो कुछ सक्रिय रह जाता है, वे आनुवंशिक रूप से तटस्थ प्रवृत्तियाँ हैं।'

न तो बालकों के समूह और न उनकी सामाजिक भूमिकाएँ स्थिर और सुसंगत होती हैं। वे तीव्रता से परिवर्तित होती हैं और यदि उन्हें बुजुर्गों से मार्गनिर्देशन न हो तो वे ग्रहण कर लेती हैं। फिर भी वे बालकों के आरम्भिक सांस्कृतिककरण की बहुत ही महत्वपूर्ण अवस्थाएँ हैं, जिसका शिक्षा द्वारा पूर्ण लाभ उठाना चाहिए।

सामाजिक समायोजन तीन रूप ग्रहण करता है : निश्चयात्मक, (सकारात्मक), निष्क्रिय और निषेधात्मक।^१

(अ) सकारात्मक प्रवृत्ति का अर्थ है नया विकास और विशिष्ट वस्तुओं के प्रति क्रियाशील होना। मनोविज्ञान के शब्दों में इसका अर्थ निर्धारण (conditioning) है। परिस्थितियों, वस्तुओं एवं मानवीय सम्बन्धों को बार-बार उन्हीं (मान्य) अर्थों एवं साहचर्यों से सम्बन्धित करने से सामाजिक व्यवहार प्रभावित होता है, ठीक वैसे ही जैसे पावलोव के कुत्ते ने प्रयोग के अन्तर्गत, घंटी बजने पर लार बहाना सीख लिया था। सामाजिक जानकारी का अधिकांश, एक प्रतिबद्ध प्रतिक्रिया के स्वभाव में होता है। इस प्रकार एक वच्चा क्रमशः सामाजिक रीतियों एवं परम्पराओं और रेखांकन के कौशल, चित्रकला, संगीत आदि के साथ प्रेम करना सीखता है।

प्रतिबद्धता की इस प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त सामाजिक अथवा अन्य कौशल, सम्बन्धित क्षेत्रों तक भी स्थानान्तरित किए जा सकते हैं। इस प्रकार क्रिया-कौशल में ज्ञान के क्षेत्र में व्यापकता आ जाती है। उदाहरण के लिए अपनी मातृ-भाषा के सीखने में किसी बालक द्वारा अर्जित कौशल विदेशी भाषा को सीखने के काम आ सकता है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस प्रक्रिया को सीखने या प्रशिक्षण का स्थानान्तरण (Transfer of Training) के नाम से अभिहित किया जाता है।

(ब) निष्क्रिय प्रवृत्ति अनुकरण और प्रचलित सांस्कृतिक ढाँचों में अचेतन-

१. देखिए, Gardener Murphy, Lois Barclay Murphy and Theodore M., New Comb : Experimental Social Psychology, Harper Brothers, Publishers, New York., pp. 649-50.

२. देखिए, Francis J. Brown: Educational Sociology, pp. 147-149, Prentice Hall, Inc., New York.

आत्मीकरण के माध्यम से निर्मित होती है। इसलिए सीखना कभी-कभी इतनी गहरी जड़ जमा लेता है कि शिक्षा के लिए उससे परे होना आसान नहीं होता।

(स) निषेधात्मक प्रवृत्ति पुरानी आदतों को छोड़ने से सम्बन्धित है चाहे ये मानसिक हों या व्यवहारिक। यह अनुकूलन की क्रिया के प्रतिकूल है। सामाजिक और शैक्षिक प्रक्रियाओं में अनुकूलनहीनता एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है और शिक्षकों, अभिभावकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के पक्ष से अत्यधिक कौशल की मांग करती है। कुछ बालक सामाजिक तथः कुछ ऐसी अवांछनीय आदतें अर्जित कर लेते हैं कि उनके व्यक्तित्वों का पुनर्अनुकूलन या उन्नयन तब तक सम्भव नहीं होता जब तक बुरी आदतें अप्रतिबद्ध (unconditional) न हो जायें।

२. विरोध सामाजिक व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए आवश्यक अवस्था है। एक तरह से विरोध विकासमान शिशु की मूल प्रकृति में ही अन्तर्निहित है जो वस्तुओं को अपनी प्रेरणा एवं कल्पना के अनुसार पसन्द करता है। वह अपने चारों ओर के समूह जो उसका समाजीकरण करना चाहता है की आवश्यकताओं के प्रति उदासीन हो जाता है। फ्रायड के मनोविज्ञान के अनुसार बालक 'आनन्द-सिद्धान्त' के आधार पर क्रिया करता है जबकि समूह 'सुरक्षा-सिद्धान्त' के अनुसार इससे निपटता है। फलतः विरोध सामाजिक एवं व्यक्ति जीवन का विशिष्ट तथ्य है। जटिल सामाजिक संगठन में यह अनेक घटकों की अन्तर-क्रिया से निर्मित होता है और पाशविक सैनिकता से लेकर सूक्ष्म एवं अध्यवसायी प्रजातांत्रिक विरोध तक विभिन्न रूपों एवं अभिव्यक्तियों को ग्रहण करता है। सभी प्रकार के विरोध व्यक्ति या समाज के लिए हानिकर नहीं होते। वास्तव में जब तक विरोधी तत्त्व प्रजातांत्रिक प्रभाव के विरुद्ध नहीं पड़ते तब तक वे व्यक्ति और समाज पर स्वस्थ प्रभाव डालते हैं। जो जीवन्तता एवं संगठन की अपनी श्रेणी तक मनोवैज्ञानिक शब्दावली में माया विरोधी तत्त्वों के चरम दबाव की गति के अधीन आंशिक रूप में अनात्म प्रक्रिया करने से आत्मा या व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। पुनः विरोध से यह होता है कि समाज के शासक दल प्रहार पाते हैं और फलतः समाज के लाभ के लिए अपनी सामाजिक एवं राजनीतिक नीतियों को बदलने के लिए बाध्य होते हैं। प्रजातांत्रिक पद्धति में विरोध सामाजिक प्रगति के लिए उत्तेजक एवं सुधारक अभिकरण के रूप में उच्च मान का अधिकारी है। परिणामस्वरूप वे जो बालकों या सामाजिक प्रक्रिया के साथ व्यापक रूप से सम्बन्धित हैं, घरों में, विद्यालय और समाज में मात्र सामाजिक संघर्ष का दृश्य

देखकर घबराएँ नहीं, उनके साथ व्यवहार करने का एक तरीका उन्हें एक स्वस्थ निर्देश देना है। विरोधी तत्त्वों में कुछ इतना उपयोगी हो सकता है जिसे सामाजिक प्रक्रिया में आत्मीकरण करने की अत्यावश्यकता हो।

विरोध की घटना को दो शीर्षकों के अन्तर्गत विश्लेषित किया जा सकता है यानी सामाजिक संघर्ष या बाह्य संघर्ष और मानसिक या आन्तरिक संघर्ष, यद्यपि इस बात को ध्यान में रखना अनिवार्य है कि वे मूलतः एक दूसरे को जन्म देते हैं।

(अ) सामाजिक संघर्ष—यह व्यापक रूप से देखा गया है कि बालकों में सामाजिक संघर्ष, भौतिक वस्तुओं, अभिभावकों और शिक्षकों के प्रेम, स्थिति और नेतृत्व के लिए प्रतियोगिता से उत्पन्न होता है। प्रतियोगी संस्कृतियों में जहाँ-जहाँ आर्थिक विषमताएँ एवं सामाजिक विषमताएँ तीक्ष्ण हैं, आर्थिक लाभ एवं सामाजिक अवस्था के लिए एक अतिरिक्त सक्रिय संघर्ष के कारण विभिन्न व्यक्तियों के बीच विशिष्ट विरोध उत्पन्न हो जाता है।

सामाजिक विरोध उस समय भी बढ़ जाता है जब व्यक्तियों की जड़ता उन्हें लोकरीतियों एवं अपने समूह के लोकाचारों को स्वीकार नहीं करने देती। यह संवेगात्मक प्रतिक्रिया हो सकती है या व्यक्तियों के विचारपूर्ण विश्वास का परिणाम कि लोकरीतियाँ या लोकाचार व्यक्ति एवं सामाजिक जीवन के स्वस्थ विकास के लिए हानिकारक होते हैं। व्यक्तियों के मूल्य व्यापक सामाजिक मूल्यों के संघर्ष में आ सकते हैं और किसी समय एक विचारवान व्यक्ति अष्ट समाज के प्रति अपनी आवाज उठा सकता है और सद्गुणी समाज उसे अष्ट व्यक्ति कहकर निन्दित कर सकता है, और सुकरात की तरह उससे मुक्ति पा सकता है।

समूह और समूह के बीच सामाजिक संघर्ष एक सामान्य घटना है। इसका कारण क्षेत्र, राष्ट्रीयता, जाति, धर्म, आर्थिक रुचियाँ, उपनिवेशी स्वार्थ, मूल्य एवं विचारधाराएँ हो सकती हैं। मूलतः, यह किसी चीज के लिए ही यह आक्रामकता और प्रतियोगिता की प्रेरणा है। बालकों एवं किशोरों के बीच समूह प्रतियोगिता क्रीडास्थल पर सामान्यतः देखी गई है और सिर फटने के बाद ही थोड़ी सी मुक्ति मिलती है।

(ब) मानसिक संघर्ष मानसिक क्रिया है। यह एक बौद्धिक युद्ध है जो मन की एकता को दो या अधिक विरोधी शक्तियों में खंडित कर देता है, मन स्वयं में विभाजित हो जाता है। जब संघर्ष-क्षण उत्पन्न होता है तो चरम-असाधारणताएँ विच्छिन्न व्यक्तित्व या इसी के अनुरूप चीजें प्रस्तुत हो जाती हैं। व्यक्ति स्वयं अपने

भीतर समायोजन कर पाने में पूर्णतः असफल हो जाता है और उनके साथ निर्वाह नहीं कर पाता। उसी प्रकार दूसरे व्यक्तियों या समूहों से भी समायोजन स्थापित करने में वह असफल हो जाता है।

मानसिक संघर्ष अनेक व्यक्तिगत एवं सामाजिक कारणों का प्रतिफलन है और यह पूर्णरूप से मनोविश्लेषण का विषय है। मानसिक संघर्ष के कुछ सामान्य कारण आसानी से गिनाए जा सकते हैं।

(१) सामान्य संवेगात्मक अयोग्यता समूह में उचित प्रेम या मान्यता की अस्वीकृति या वास्तविक या काल्पनिक प्रक्रिया से परिणामित होती है। अनाथों और टूटे हुए परिवारों के बालकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन उनमें मानसिक संघर्ष की व्यापक संभावनाएँ उद्घाटित करता है।

(२) स्थायी शारीरिक रोग, अयोग्यता, हीनता और मृत्युभय के बोध की ओर अग्रसर करता है।

(३) हीनता की अनुभूति सामाजिक पद में लघुता की चेतना मात्रा और गुणों में आर्थिक स्थिति या व्यक्तिगत योग्यता आदि के कारणों पर निर्भर होती है। प्रतियोगी और पूँजीवादी संस्कृतियाँ स्वच्छन्दतापूर्वक मानसिक संघर्षों एवं रोगों में वृद्धि करने के लिए हीनता को जन्म देती हैं।

(४) एक ही आत्म के अन्तर्गत इच्छाओं एवं मूल्यों का प्रतियोगी होना, जिसका दबाव व्यक्तित्व को अनिश्चयात्मक बना देता है और आत्मा की एकता खंडित कर देता है।

(५) विशेष रूप में खेल और कार्य एवं सामान्य रूप में जीवन के प्रति अस्वस्थ दृष्टिकोण भी एक कारण है।

(६) जीवन और उद्देश्यों के स्वस्थ दर्शन का अभाव जिसके प्रति लगन का भाव व्यक्तित्वों को सुसंगठित करते हैं।

(७) प्रजातांत्रिक गृहों एवं राज्यों के विरुद्ध अधिकारवादी गृहों और राज्यों का होना।

३. सहयोग शासन अथवा भय के द्वारा लोगों पर आरोपित किया जा सकता है परंतु यह वास्तविक अर्थ में सहयोग नहीं है; यह लोगों को एक साथ हाँकने के बराबर ही है या यह ऐच्छिक हो सकता है, सामाजिक मूल्यों की समझ और सहयोगियों के लिए प्रेम और आदर की भावना से उत्पन्न ऐच्छिक सहयोग ही समाज की आवश्यकता है क्योंकि बिना इसके सामाजिक प्रगति संभव नहीं है। विकास योजनाओं को भी कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। सहयोग सामाजिक प्रक्रिया

को सम्यक् नियंत्रण में रखने का पूर्ण उपकरण है और ध्वनित करता है कि इसके कार्यकर्ता पूर्णतः समझते हैं कि वे सामान्य एवं उद्घोषणीय उद्देश्यों के लिए एक साथ कार्य करते हैं और वे समाज की निरंतर कटा-छाँट एवं पुनर्रचना के लिए छोटे या बड़े कार्य में समभागी हैं।

इस संदर्भ में विद्यालय के कार्य के विषय में दो मत नहीं होने चाहिए। विद्यालय का उत्तरदायित्व है कि वह विद्यार्थियों को आत्मकेन्द्रित क्रिया-कलापों की अपेक्षा सहयोगी रहन-सहन के वृत्त में दीक्षित करे। इसे उनमें मानव-सम्बन्धों की गहन समझ, नम्रता एवं सौजन्यता के मूल्यों को प्रतिबद्ध करना चाहिए। वह तभी सम्भव है जब यह उन घटकों को विश्लेषित करने का प्रयत्न करता है जो सामाजिक या मानसिक संघर्ष के कारण हैं। और जहाँ तक सम्भव हो अपने क्षेत्र से उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। क्योंकि यह निश्चित है कि सहयोग अधिकतम सामाजिक जानकारीयों की तरह एक दोहरी प्रक्रिया है। एक ओर, ये संघर्ष के घटकों के बाह्णिकरण को ध्वनित करता है, जबकि दूसरी ओर, दूसरों से कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने के स्वस्थ अभिप्रायों एवं आदतों का प्रति-स्थापन।

अध्यापक का कार्य

बालकगण विद्यालय में रिक्त पटों के रूप में नहीं बल्कि अपने मन पर पहले ही से तारिक् सामाजिक जीवन का रेखांकन लेकर आते हैं और यथातथ्य रूप में शिक्षक के लिए उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है चाहे वह शहरों से आते हैं या गाँवों से, उच्चवर्गीय घरों से या मध्यवर्गीय या निम्नमध्यवर्गीय या प्रतियोगी संस्कृतियों या सहयोगी संस्कृतियों से; चाहे घर का वातावरण विकाश का शिकार हो या मानसिक स्वास्थ्य में बढ़ा-चढ़ा हो, चाहे क्रीड़ा साथी गुंडे या ताना-शाह हों या सहयोगी साथी हों—प्रश्नों के कुछ प्रतिरूप मात्र हैं, जिसमें शिक्षक को उन बालकों की जीवन-शैली में अन्तर्दृष्टि प्राप्त अवश्य करना चाहिए। क्योंकि उनके साथ अध्यापकों को व्यवहार करना है। अन्यथा उनके व्यवहार सम्यक् समझ एवं निर्देशन के प्रति अर्पण करने में उन्हें बाधित करेंगे। शिक्षण किंडरगार्टन (kindergartens) में अच्छी प्रकार जानते हैं कि तीन साल की आयु में बालक विकसित होने की प्रेरणा रखता है और वह नियंत्रण एवं दबावों का प्रतिरोध करता है। यदि कोमल संकेतों के स्थान पर शिक्षकों या खेल-साथी द्वारा कठोर दबाव लागू किया गया तो वह परम निषेध की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। कहने का अभि-

प्रायः यह है कि वह लोगों के विरुद्ध जाने में और उनके संकेतों एवं विधियों का विरोध करने में एक रूढ़ि आनन्द प्राप्त करने लगता है जो कि बहुत से शिक्षक बालकों के पक्ष से निषेधात्मकता की प्रकृति को पसन्द नहीं करेंगे, जो दूसरे कारणों से विद्यालय में दमनकारी वातावरण से स्वतंत्र होते हैं। ऐसे मामलों में विपत्ति की जड़ सामान्यतः घर एवं पड़ोस में निहित होती है, जहाँ दुःखद अनुभव, सामाजिक सम्बन्धों में विकृति के कारण बालकों के माग्य में पड़ता है, जो किन्डरगार्टन में, विस्तृत होते हुए सामाजिक सम्बन्धों में आरम्भिक विद्रोही प्रवृत्तियों एवं समाज-विरोधी व्यवहार को अपनाते हैं। एक शिक्षक सम्भव है गम्भीर पिता का पूरक हो जाए या विद्यालय का खेल साथी पड़ोस में आतंक फैलाने वाला गली के साथी या भाई का स्थानान्तरित प्रतिबिम्ब हो जाए, जिसे बालक स्वभावतः घृणा करता है या उससे क्रुद्ध रहता है। वे इसी प्रकार के बालक होते हैं जो शिक्षक के लिए कठिन समस्या प्रस्तुत कर देते हैं, जिनके संकेत या निर्देशन के लिए वे सुदृढ़ अवरोध निमित्त कर देते हैं। शिक्षक उन्हें तभी सफलतापूर्वक नियंत्रित कर सकते हैं, यदि वे उनके व्यक्ति-वृत्त को सम्यक रूप से समझते हों, उनके साथ अतिरिक्त सावधानी एवं सहानुभूति का व्यवहार करते हों, और अभिभावकों को उनके बालकों के स्वस्थ विकास के लिए ठीक वातावरण निर्मित करने में निर्देश देते हों। बालकों में सामाजिक संघर्ष एवं समाज-विरोधी व्यवहार की प्रचुरता बहिष्कृत की जा सकती है। अवश्य अभिभावक लोग घर पर वांछनीय वातावरण प्रदान करने में शिक्षकों को सहयोग दें, अन्यथा विद्यालय में शिक्षक का अधिक श्रम व्यर्थ ही होगा। हमें स्मरण रहना चाहिए कि संघर्षमय वातावरण और यहाँ तक कि निष्प्रयोजन और आक्रामक व्यवहार संघर्षमय प्रवृत्तियों को जन्म अवश्य देता है।

समाज विरोधी व्यवहार पैशाचिक व्यक्ति के कारण नहीं है, बल्कि पैशाचिक समूह के कारण है, और यह समूह ही है जिसे, व्यक्ति में कोई संभव सुधार लाने के पूर्व समूह उपचारविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार अवश्य ही परखा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, खेल के लिए बालक को चिढ़ाना या किशोर क्रीड़ा के लिए उसे बुद्ध बनाना चरमरूप से बच्चे के अहं के लिए हानिकारक है। फिर उसके लिए एक ही उपाय रह जाता है, इसे अपने लघुखेल-साथी के साथ करना और घर एवं विद्यालय में निषेधात्मक एवं असहयोगी व्यवहार विकसित कर लेना। ऐसे मामलों में बच्चों की शिक्षा के लिए प्रौढ़ों को स्वयं शिक्षा की जरूरत है।

घरों एवं पड़ोस के छोटे समूहों से किन्डरगार्टन में बालक स्वयं को बड़े समूहों में अनुभव करते हैं, जहाँ वे शासित होने या शासन करने का प्रयत्न करते

हैं। शिक्षकों के कृपालु निरीक्षण के अन्तर्गत आदान-प्रदान के समायोजन निमित्त करते हैं—इस प्रकार वृहत्तर समाजीकरण की प्रवृत्तियों के समक्ष कार्य करते हैं। शिक्षक का कार्य है कि उन्हें आत्मकेन्द्रित जीवन से हटाकर अधिक समाजकेन्द्रित बनाने की दृष्टि में उनमें समूह एवं समूह-दायित्व विकसित करे। लेकिन यह देखने के लिए अधिक सावधानी बरतनी पड़ेगी कि समूह-निष्ठा दूसरे समूहों के विरुद्ध परस्पर विरोधी उद्देश्य में न बदल पाए। समूह-निष्ठा अन्तर-समूह बन्धुत्व एवं भागीदारी की ओर प्रथम कदम है, उसी तरह जैसे प्रान्तीयता या राष्ट्र-वादिता अन्तर्राष्ट्रीयता या एक जगत के तर्क में प्रथम न्याय वाक्य है। शिक्षक का कार्य बालकों को लघु समूह-चेतना से व्यापक समूह-चेतना की ओर धकेलना है।

शिक्षक और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने बालकों के साथ कार्य करते हुए, समूह गतिविज्ञान के कुछ महत्वपूर्ण लक्षण प्राप्त किए हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं:

१. प्रभावोत्पादक अध्ययन सामाजिक पृष्ठभूमि पर निर्भर करता है—बुद्धिमत्तापूर्ण समाजीकरण के आधार पर कार्यान्वित किया हुआ मानसिक स्वास्थ्य।

२. व्यक्तिगत रूप से समूह में किया हुआ कार्य बेहतर होता है। सम्पूर्ण सुन्दर पृष्ठभूमि और सजावट के साथ कक्षा में किया हुआ कार्य बालकों द्वारा व्यक्तिगत रूप से उतना उपयोगी सिद्ध नहीं होता जितना वही कार्य समूह को सौंपने पर होता है, जैसे पुस्तकालय में या क्षेत्र में एक प्रक्षेप की विधि से, जहाँ ये अधिकतर व्यवस्था और सहयोग का प्रदर्शन करते हैं।

३. जब समूह बड़ों या शिक्षकों के बिना अधिक नियंत्रण या हस्तक्षेप के एक साथ कार्य करता है और जब कार्य फलदायक और आनन्दपरक होता है तो 'सामाजिक सुगमता' होती है, एक सामाजिक लाभ, जिसे 'सामाजिक वृद्धि' के रूप में माना जाता है।^१

४. आत्म-शासन, प्रजातांत्रिक समूह, जिसका कार्य शिक्षकों द्वारा स्वीकार

१. देखिए Franklin Bobbit: The Curriculum, pp. 120-121, Houghton Mifflin & Co., Boston.

२. देखिए James L. Mursell: Successful Teaching, p. 143, McGraw Hill Book Co., Inc., New York.

किया जाता है, उसे मान्यता दी जाती है, निरंकुश गुटबाजों द्वारा नियंत्रित समूह की अपेक्षा मित्रता एवं सहयोग के लिए अधिक उद्दीपन रखता है।

५. कभी-कभी बालक शिक्षकों के मध्य उपर्युक्त मान्यता एवं उचित स्थान प्राप्त करने के लिए सामूहिक व्यवहार से अपने आपको खींच लेता है। यह बालक के उपर्युक्त समायोजन की इच्छा को प्रकट करता है। यह बात वहीं होती है जहाँ शिक्षक पक्षपात में संलग्न होने के लिए प्रवृत्त होते हैं।

६. समूह व्यवहार से बिलगाव उस समय भी होता है जब बच्चे पर अत्यधिक उच्च निकषात्मक दबाव डाल दिया जाता है, जो उसकी सहन सीमा के परे होता है। कहने का अर्थ है, जब उसके लिए अत्यधिक उच्च मानदण्ड स्थापित किए जाते हैं और उससे फूलती-फलती उपलब्धियों की आशा की जाती है, जिसे वह अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों की अनुरूपता में सहन करने के लिए असमर्थ है, तो वह दूसरों द्वारा उच्च आशा के दबाव से परिणामतः असहायता के कारण व्यवहार की गलत माँग को अपनाने में भटक जाता है।

७. संघर्ष और सहयोग की मात्रा और स्वरूप—शिक्षकों के व्यक्तित्व एवं योग्यता के अतिरिक्त—स्थान और क्रीड़ा-सामग्रियों के सम्बन्ध में बालकों की संख्या, समूह की व्यवस्था पर निर्भर करता है। यदि स्थान छोटा है, या अधिक बालकों के अनुपात में क्रीड़ा-सामग्री कम है तो संघर्ष के अवसर अधिक हो सकते हैं। इससे पता लगता है कि क्यों एक ही आयु के बालक-समूह में सामान्यतः अधिक संघर्ष होता है, क्योंकि वे स्वभावतः उसी खिलौने और अन्य क्रीड़ा-सामग्रियों से खेलना चाहते हैं।^१

परिवार और किन्डरगार्टेन से बालक अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक सूचनाएँ ले आता है, आरम्भिक विद्यालय में उसका विशिष्ट सामाजिक आचार, अधिक प्रौढ़ और शारीरिक रूप से आत्म-निर्भर होता है।

उसके द्वारा सीखे हुए आरम्भिक-समूह व्यवहार को आगे और विकसित करने की आवश्यकता है। इसे साधारणतया समुदाय-विद्यालय के आधार पर किया जाना चाहिए। (यह अध्याय ४ में पहले ही संक्षेप में विवेचित किया गया है।)

१. देखिए Gardener Murphy, Lois Barclay Murphy and Theoder M. New Comb: Experimental Social Psychology, p. 338, Harper Brothers, New York.

इसके फलस्वरूप वह प्रतिनिधिक सामाजिक अनुभव प्राप्त करता है। कुछ निरीक्षण यहाँ प्रस्तुत किए जा सकते हैं :

१. बालकों को विद्यालय में भरती करने से पहले उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि और व्यक्तिगत समस्याओं एवं कठिनाइयों को जानने के लिए उनके अभिभावकों एवं उनके साथ पूर्व-प्रवेश-सभा की व्यवस्था करना सुसंगत है या प्रवेश लेने के शीघ्र बाद ही इस कार्य को कर लेना चाहिए।

२. कक्षा-भवन का वातावरण जो विद्यालय की एक महत्वपूर्ण कार्यकारी इकाई है, बालकों के समाजीकरण में एक अग्रणी घटना है। यह मात्र निर्देशात्मक स्थान नहीं है, बल्कि सामाजिक वातावरण के दायित्व से युक्त है, जहाँ जीवंत भावनाओं को अनुभव किया जाता है। यह देखना विशेष रूप से शिक्षक और सामान्य रूप से प्रधानाध्यापक का महत्वपूर्ण अभिप्राय होना चाहिए कि बालकों का कक्षा-भवन का अनुभव सुखद और आनन्दप्रद हो और वह टीसनेवाले हास्य के बोध, घुटन, प्रतिद्वन्द्विता, आक्रामकता आदि से नष्ट न होने पाए, क्योंकि तब यह साधारण विकास और समाजविरोधी व्यवहार की प्रचुरता निर्मित करता है। शिक्षक-शिष्य का भावनात्मक सम्बन्ध बालकों की सामाजिकता को निर्देशित करने में केन्द्रीय तत्त्व है, क्योंकि वे इसी से अधिकाधिक सामाजिक मूल्यों एवं दृष्टिकोणों का निर्माण करते हैं। कोई शिक्षक अपने शिष्यों को चैन देकर पहले ही उन्हें सामाजिकता के मार्ग पर चला देता है—शिक्षक का मोहक व्यवहार अपने शिष्यों के लिए क्या नहीं कर सकता ! शिक्षकों को अपने शिष्यों का विश्वास अवश्य प्राप्त करना चाहिए, नहीं तो स्थानान्तरण के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार शिष्यगण सम्पूर्ण प्रौढ़जगत के प्रति अविश्वास करेगा और बालकों के समाजीकरण का सम्पूर्ण प्रयोजन विच्छिन्न हो जाएगा।

कक्षा-भवन के संगठन और नेतृत्व का संचालन प्रजातांत्रिक आधार पर होना चाहिए, जिससे प्रत्येक बालक अपना उत्तरदायित्व अनुभव करे और कक्षा-भवन एवं उसमें रखी हुई वस्तुओं को स्वच्छ और व्यवस्थित रखने के कर्तव्यों का पालन करे। कक्षा-शिक्षक अपने आप में छात्रों के साथ कक्षा-भवन के कार्यक्रम पर बातचीत करे। इसे उनकी सहमति के अनुसार संचालित करे। जिससे वे उत्तरदायित्व महसूस करें और कार्य में आनन्द ले सकें। अध्यापक को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कोई सामाजिक व्यवधान न हो, छात्र समुचित रूप से एक दूसरे से परिचित हों और नवागन्तुक को हार्दिक स्वागत दिया जाए और शेष कक्षा से सार्थक रूप से उसका परिचय हो। उसे यह भी देखना चाहिए

कि कक्षा सम्पूर्ण रूप से उसकी उपस्थिति और अनुपस्थिति में आगन्तुकों को उचित रूप में ग्रहण करे। उसी प्रकार कक्षा-भवन का अनुशासन दण्ड-अनुशासन से भिन्न है, बल्कि कुशल शिक्षक द्वारा प्रेरित पहले सामाजिकता के सिद्धान्त एवं बाद में निर्देशों के सिद्धान्त से उत्पन्न प्रचुर उत्तरदायित्व का आत्मानुशासन है। एक सम्यक रूप से समाजीकृत कक्षा दूसरी कक्षाओं एवं समुदाय-जीवन की किसी दूसरी इकाई से सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में तत्पर होती है।

३. सुसंगठित एवं निरीक्षण आधारित खेल—विशेषतः आरम्भिक विद्यालय स्तर पर निरीक्षण सम्पन्न खेल का उपद्रव में पतन होता है—समाजीकरण के लिए प्रचुर संभावना रखता है जिसे शिक्षक अवश्य ही सम्यक रूप से सँजोए। समूह-खेल जैसे-जैसे विकसित होते हैं, संगठन और सहयोग का दायित्व सिखलाते हैं तथा विशुद्ध भावनाएँ मित्रता के मनोभावों में विकसित हो जाती हैं। खिलाड़ी मनोवृत्ति का खेलों से आविर्भाव होता है। फिर शिक्षक की तरह खिलाड़ियों की अपने समूह के प्रति निष्ठा बढ़ती है और विरोधी-पक्ष को वे खेल में समान सहयोगी के रूप में स्वीकार करते हैं। क्रीड़ा की सामाजिक या नैतिक प्रवृत्ति विभिन्न दलों की विजय-पराजय की भावना की अपेक्षा मुक्त-आनन्द एवं कोमल भावनाओं से निर्धारित होनी चाहिए। क्रीड़ा का परिणाम इस अर्थ में सामाजिकतया निर्देशात्मक है कि यह शिक्षक के सम्यक् निर्देश के अन्तर्गत हार को खिलाड़ी-मनोवृत्ति के रूप में ग्रहण करने की शिक्षा देता है। समूचे रूप में क्रीड़ा-क्षेत्र में प्राप्त वांछनीय मनोवृत्ति एवं प्रशिक्षण को दूसरे सामाजिक कार्यों एवं दायित्वों तक आसानी से रूपांतरित किया जा सकता है।

जबकि खेल की प्रवृत्ति मूलतः रचनात्मक एवं समाजीकृत होनी चाहिए, यह भी देखना अनिवार्य हो जाता कि खेलों की एक व्यापक विविधता बालकों को प्रदान की जाए जिससे प्रत्येक बालक आनन्दमय सामाजिक भागीदारी का अनुभव प्राप्त करे तथा प्रत्येक को उचित संतोष और मान्यता प्राप्त हो। बहुत सीमा तक खेलों की व्यवस्था स्वतः बालकों का समाजीकरण नहीं करती। यह तो केवल संगठित करने के ढंग एवं अनुभव प्राप्त करने के महत्त्व पर निर्भर करता है क्योंकि यह सर्वविदित है कि खेल और क्रीड़ाएँ प्रतियोगी मनोवृत्ति एवं तीव्र प्रतियोगिता की मनोवृत्ति में ली जाकर न केवल क्रीड़ा के नीति-शास्त्र का ही निषेध करती हैं बल्कि खिलाड़ियों के अमानवीकरण करने की भी उत्तरदायी हो जाती हैं।

खेल दो तरह से विरेचक मूल्य से युक्त है। साधारणतया यह बालकों

की अतिरिक्त शक्ति का परिश्रमपूर्वक उपयोग करता है अन्यथा जो सामाजिकतया अवांछनीय व्यक्तित्व व्यवहार एवं लक्षणों का उपचार करता है। उदाहरण के लिए एक अन्तर्मुखी या शर्मीला बालक खेल के माध्यम से समूह-क्रिया-कलापों के बीच सुख का अनुभव कर सकता है। सामाजिक संघर्षों, तनावों और सामाजिक विचलनों के उपचार के लिए बुद्धिपूर्ण क्रीड़ा-चिकित्सा को शिक्षा में उदारता-पूर्वक उपयोग में लाने की जरूरत है। कुछ प्रगतिशील विद्यालय इसका पूर्ण उपयोग कर रहे हैं।

४. रचनात्मक समूह-क्रियाएँ औसत रूप से विकासमान बालकों पर पूर्ण प्रभाव डालती हैं। विद्यालय और समुदाय साधनों का क्षेत्र व्यापक होना चाहिए। इसीलिए इन्हें क्रिया-कलापों के संगठन के लिए समुचित रूप से प्रयोग में लाया जा सकता है। उपहासात्मक सभाओं, वाद-विवाद प्रतियोगिताओं, विवादों एवं अभिनयों के कुछ थोड़े ऐसे उदाहरण हैं जो प्रगाढ़ मानवीय सम्बन्ध के अनुभव हैं एवं सामाजिकतया निर्देशात्मक हैं। अधिकतर इस सीमा तक जहाँ सामाजिक अर्थों को सम्प्रेषण करने के लिए, सामाजिक गलतियों को दिखाने एवं सुधारने के लिए, संक्षेप में व्यापक सामाजिक अनुदृश्य प्रदान करने एवं सामाजिक आनन्द एवं भागीदारी के अनुभव को पूर्णता प्रदान करने के लिए उनका उपयोग किया जा सके।

५. बालकों की बेहतर शिक्षा की सलाह के लिए अभिभावक-शिक्षक संस्थाएँ अनिवार्य हैं। अध्यापकों का घर में जाना उतना ही वांछनीय है जितना कि अभिभावकों का विद्यालय में आना। काम के बोझ से दबे हुए शिक्षकों की सहायतार्थ, कुछ आर्थिक रूप से समृद्ध और प्रगतिशील विद्यालय शिक्षकों की इच्छा पर सामाजिक कर्मचारियों की सेवा प्रस्तुत करते हैं। ये कार्यकर्ता सभी सामाजिक समस्याओं एवं कार्य में प्रशिक्षित होते हैं। वे कुसमायोजित बालकों के पड़ोस एवं परिवारों में जाते हैं, शिक्षकों एवं अभिभावकों के बीच सभाएँ संगठित करते हैं; और जहाँ तक उनका विशेष ज्ञान और अनुभव अनुमति देता है, वे सलाह देते हैं। प्रगतिशील विद्यालयों में स्कूल-चिकित्सालय से भी सहायता ली जाती है। जहाँ मनोविश्लेषण और मनःचिकित्सा विज्ञान के आधार पर सामाजिक विक्षिप्तियों का उपचार किया जाता है।

६. व्यक्ति की योग्यताओं, सामाजिक पृष्ठभूमि और बालकों की घंटे-दर-घंटे की प्रगति से सम्बन्धित संचयी (cumulative) लेखों को बहुत उपयोगी

पाया जाता है, क्योंकि इससे किसी भी महत्वपूर्ण व्योरे के खोए जाने का भय नहीं होता तथा समस्त समस्या को क्रमबद्ध रूप से परख लिया जाता है।

क्रियाकलापों एवं पद्धतियों की कोई सीमा नहीं है जिसे कोई रचनात्मक विद्यालय के प्रधानाध्यापक के उत्तेजक नेतृत्व के अन्तर्गत छात्रों के बीच समाजीकरण की उच्च स्तर उत्पन्न करने के लिए विकसित कर सकता है ! यह वातावरण सिर्फ वहीं सम्भव है जहाँ सम्पूर्ण कर्मचारी-संघ उच्च-शक्ति युक्त सामाजिक उद्देश्य के साथ एक समूह के रूप में कार्य करता है। शिक्षक के द्वारा इसे पूर्णतः समझने की जरूरत है कि किस प्रकार अध्यापक-मंडल की विकृतियाँ बालकों पर प्रभाव डाल सकती हैं, साथ ही वे अपनी बातचीत में किस प्रकार उसे मुख्य विषय बनाते हैं, और इस प्रकार आदर्श रहन-सहन की अपेक्षा गलत विषयों पर उनका पोषण होता है।

समाजीकरण की प्रक्रिया माध्यमिक विद्यालय स्तर पर और विशिष्ट रूप से कालेज स्तर पर, किशोरावस्था से सम्बन्धित विशेष समस्या से युक्त होती है। लड़के और लड़कियाँ इस उमर में अधिक युवा, यौन-सचेत, आत्म-निर्भर होते हैं। कार्यों को अपनी इच्छानुसार करना चाहते हैं। वे सत्तावादी तौर-तरीकों का डटकर विरोध करते हैं। सहानुभूति-मूलक एवं उत्प्रेरक शिक्षकत्व की अपेक्षा शिक्षा की एक स्वस्थ प्रणाली अध्ययन और विवेचन के अवसर, रचनात्मक खेलों, विशिष्ट रुचि के क्लब, प्रजातांत्रिक संगठन यथा छात्र-संघ, विविध सेवा-संगठन प्रदान करके सामाजिक उद्देश्यों के लिए उनकी जीवंत शक्तियों को सँजो सकती है। इन्हीं अवस्थाओं में छात्रगण अधिक सचेत, अधिक सक्रिय तथा अधिक आत्म-निर्भर होकर सीखते हैं। यह भी सम्भव है कि वे संदेहास्पद रूप से भी सीखें। इसी समय अनिवार्य नागरिक सद्गुणों को आत्मसात् किया जाता है और सामाजिक मूल्यों की रचना की जाती है। मानव के भाग्यनिर्माण में ये सभी तत्त्व अपनी भूमिका अदा करते हैं। युवापन का आधिक्य अक्सर गलत मार्ग और गलत मित्र पाता है जिससे कुछ शिक्षकों को कुछ गलत तर्क-रचना करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि विद्यार्थी नाक की सीध में चले और पुस्तकीय क्रियाकलापों के अतिरिक्त किसी अन्य क्रिया को अपना न पाए। तथ्य तो यह है कि युवक का अतिरिक्त उत्साह शिक्षक की ओर से अधिक रचनात्मक विचार की अपेक्षा करता है जिससे सामाजिकतया वांछित उद्देश्यों की ओर इसे अग्रसर करने में अवसरों एवं मार्गों की कमी न पड़े। बिना सामाजिक उद्देश्यों एवं सामाजिक शिक्षा के, जैसा कि विद्यार्थी होना चाहते हैं, यदि जीवन-यात्रा में

उद्देश्य-रहित यात्री बन जाते हैं तो शिक्षकों की मानवता के प्रति बड़ी भारी अपसेवा है।'

कालेज स्तर पर यौन को लेकर मानव-स्थिति नाजुक सामाजिक समस्या प्रस्तुत करती है। मानव समाजीकरण तब तक अपूर्ण है जब तक लड़के-लड़कियाँ एक दूसरे की उपस्थिति में बेचैनी, अनुभूति की विकृति, रुग्ण लज्जा, अज्ञान एवं असाधारण यौन चेतना को विजित करना नहीं सीख लेते। निश्चय ही कालेज-स्तर पर या उससे और पहले सह-शिक्षा की सम्पूर्ण समस्या विवादास्पद है। चाहे जो भी हो, लेखक यह सोचने में हिचकता है कि बिना किसी अनिवार्य साधनों के सामाजिक विभाजनों की फसल काटने के लिए सह-शैक्षिक व्यवस्था को प्रचलित करना अधिक कृत्रिम और असंगत है। तथ्यों के अनुसार यह अधिक सुसंगत है कि कालेज स्तर पर आवारापन शारीरिक गठन में यौन उत्तेजना से परिणामित होकर विकसित होता है और विस्तृत होता है क्योंकि इस अवस्था में छात्र मानसिक रूप से अक्षम होते हैं। यदि इस अक्षमता को शिक्षक व्यापक रुचियों से व्यापक सहानुभूतियों एवं महत्तर दृष्टियों से सम्यक् रूप से भर देते हैं, तो रुग्ण और पूर्व-प्रौढ़ यौन अभिव्यक्तियों का संयोग अनन्त रूप से अवश्य ही कम हो जाएगा। छात्रों के सहशैक्षिक समूहों के समाजीकरण में नई तकनीकों का वैज्ञानिक आधारों पर खोजने की जरूरत है; वर्तमान तकनीकें, जैसे सामान्य समूहवादविवाद, सर्वसामान्य सामाजिक दस्ते, जहाँ तक वे सक्रिय हैं, पर्याप्त रूप से ठीक हैं। तथ्यतः यह भी सुसंगत प्रतीत होता है कि कालेज और विश्वविद्यालय स्तर पर मिश्रित अध्यापक-मण्डल, उदाहरण के रूप में स्वयं उनके अपने सामाजिक अन्तर-मिश्रण से छात्रों पर स्वास्थ्य-पूर्ण प्रभाव डालने के लिए एक सहायक घटक है, साथ ही लड़कों और लड़कियों को स्वस्थ और शक्तिदायक प्रभावों के अन्तर्गत रचनात्मक कार्य करने के लिए यह एक प्राकृतिक एवं समर्थ साधनता है। वातावरण का अधिक महत्त्व है और अत्यधिक शैक्षिक-शक्ति से युक्त है। विश्वविद्यालय में जीवन्त परम्पराओं और उन्नत प्रभावों की माँग एक स्वप्नलोक और भावुक व्यंग्य नहीं है, बल्कि किशोर-शिक्षा की एक आधारिक वास्तविकता है।

१. अगले संदर्भ के लिए मेरी पुस्तक Education—A Few Problems में Social Education और Problem of Discipline among College Students अध्याय देखिए, University Publishers, Jullundur.

इस बात पर जोर देने के लिए अधिक तर्कों की जरूरत नहीं है कि छात्रों में स्वस्थ यौन प्रवृत्तियों के निर्माण के लिए और सामाजिक कार्य के लिए परस्पर मित्रता के पक्ष में उनकी यौन-तिर्यकताओं को पूर्णांकन करने के लिए काल्पनिक रूप से शैक्षिक संस्थाओं के सुखवसर का पूर्ण लाभ उठाया जाय। मनुष्य जाति अधिक लाभान्वित होती है यदि नवोदित-पीढ़ी सामाजिक तनावों को न्यून करके संतुलित, स्वास्थ्यकर अन्तर-यौन समझ एवं सम्बन्धों से युक्त हो। इस प्रकार से सामाजिक व्यवस्था अधिक सुनियोजित एवं गत्यात्मक होती है।

खण्ड २

नागरिकता के लिए शिक्षा

अनुपूरक के रूप में बहुमुखी सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नागरिकता की शिक्षा दी जाती है जिससे समाज उपर्युक्त उद्देश्यों को उत्तरदायी नागरिकता के माध्यम से लागू कर सके। इन उद्देश्यों का क्या स्वरूप है, यह निर्मित होने वाले समाज की प्रकृति और व्यवस्था पर निर्भर करता है। यदि समाज को आध्यात्मिक तत्त्व के रूप में देखा गया है, तो समाज का प्रथम नागरिक वह जिसकी आध्यात्मिकता अधिक विकसित है; यदि इसे उपयोगितावादी सुविधा के अनुरूप ग्रहण किया गया तो नागरिकता का गुण आर्थिक क्षमता से निर्णीत होता है; यदि इसे एक दलीय या फासिष्ट रूप में कल्पित किया गया है तो राज्य के संचालक की आज्ञा को तीव्रता एवं यांत्रिकतापूर्वक मानना ही नागरिकता का गुण है। स्पष्टतया नागरिकता की समस्या विशिष्ट प्रकार के सामाजिक ढाँचे को आंकने तथा सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के गहनतम चिंतन-मनन पर आधारित है। स्थानाभाव सक्रिय विविध राजनीतिक विचारधाराओं के गुणदोष की परख के लिए मुझे आज्ञा नहीं देता है, यद्यपि नागरिकता की समस्या उनसे गहराई से सम्बद्ध है। इस समय इतना ही कहना पर्याप्त होगा जिसे सामान्यतया प्रजा-तांत्रिक सामाजिक व्यवस्था कहा जाता है, जो नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से जैसे, अहिंसा, सत्य, न्याय, समानता और मानव व्यक्तित्व के लिए समादर से अपना खाद्य प्राप्त करती है। यह इन्हीं मूल्यों से उत्पन्न हुई है और उनके वास्तविक व्यवहार में उत्पन्न हुई है। अस्तु, प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों से सम्बद्ध शिक्षा

अन्ततोगत्वा इन्हीं मूल्यों के आधार पर नागरिकता के लिए अपने प्रयत्नों का मूल्यांकन करती है, इसके साथ ही प्रजातंत्र में आधुनिक नागरिक के नगरीय कर्तव्यों की भूमिका की व्यापक बहुविधता एवं जटिलता को भी महत्व देती है।

नागरिकता के लिए शिक्षा का अर्थ नगरीय व्यवहार के कुछ नियम मात्र सीख लेना नहीं है, और न ही दैनिक जीवन में उनका अभ्यास करना है; इसका अर्थ दूसरों के मामले में हस्तक्षेप न करने की शिक्षा नहीं है, न लड़ाई-झगड़े से दूर रहने की शिक्षा है, न ही यह यंत्र-मानव जैसा सहयोग है : यह सब एक श्रेणी तक ठीक होने पर भी, नीरस एवं जीवन-रहित शिक्षा है। निश्चय ही वह नागरिकता के लिए उच्च शिक्षा नहीं है। यह इसकी अपेक्षा कुछ अधिक है। इसका अर्थ है लोगों की अपनी सांस्कृतिक परम्परा की पृष्ठभूमि में उनकी व्यक्तिगत एवं सामाजिक दायित्वों के प्रति पूर्ण सचेत होने की शिक्षा देना और भविष्य की व्यापक कल्पना के साथ समाज के वर्तमान नैतिक और कार्यकारी संगठन के विषय में निर्देश देना। यह उन्हें अपने उत्तरदायित्वों को उत्साहपूर्वक, सहयोगपूर्वक और रचनात्मक रूप से कार्यान्वित करने की शिक्षा देना है और उनके कार्यान्वयन में पूर्णरूप से उनका आनन्द लेना। मानव भाग्य को सुसम्यक एवं स्थायी बनाने के लिए विश्वनागरिकता की शिक्षा देना भी इसका अभिप्राय है। नागरिकता पूर्ण उत्पाद्य नहीं है। यह स्वयं जीवन है, स्वयं दूसरों की सेवा में प्रसन्नतापूर्वक रहने की एक रचनात्मक कला है। यह आत्म-साक्षात्कार और समाज-सेवा दोनों एक साथ हैं परन्तु कार्यकारी समायोजना के सिद्धान्त पर आधारित संगठित जीवन नहीं—सचमुच यह धनात्मक प्रेम, सहयोग और सेवा सब कुछ है। इसका अर्थ मानव जीवन के गुणों का निरंतर विकास है जिससे भौतिक सम्पत्ति की प्रचुरता और समान वितरण से मनुष्य जाति नैतिक और आध्यात्मिक आनन्द की प्रचुरता और समान वितरण तक उठ सके। अन्तिम विश्लेषण में नागरिकता के लिए शिक्षा एक साथ विज्ञान और कला है। शिक्षक को इस सबसे परिचित होना चाहिए और नागरिकता के लिए शिक्षा का जीवित कार्यक्रम एवं पद्धतियों का निर्माण करने में सक्षम होना चाहिए।

नागरिकता के लिए शिक्षा विद्यालय का एक अत्याज्य कार्य है। इसका प्रथम अभिप्राय विद्यार्थियों के बीच से समाज-विरोधी प्रवृत्तियों को उखाड़ फेंकना है, जैसे, जातीय या साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह, अधिकारों की अवहेलना या सामाजिक कार्यों एवं उत्तरदायित्वों के प्रति उदासीनता। इसके विपरीत विद्यालय का उत्तरदायित्व है कि वह स्वस्थ नगरीय प्रवृत्तियों को स्थानापन्न करे, जैसे, व्यक्ति और

समूह-दायित्व सम्पूर्ण रूप में परिवार, समुदाय और समाज के प्रति परस्पर सुसंगत निष्ठाएँ, सहकारी सामाजिक सेवा का आदर्श और सामाजिक व्यवस्था, इसके नियमों, परम्पराओं और रुढ़ियों के लिए प्रजातांत्रिक समादर। विशिष्ट प्रवृत्तियाँ विशिष्ट आदतों को जन्म देती हैं, और जब तक प्रवृत्तियाँ पूर्णरूप से नगरीय दायित्वों के साथ संतुलन रखने के लिए सुधारी नहीं जातीं, नगरीय आदतों की आशा नहीं की जानी चाहिए। दूसरे छोर पर, यह अनुभव किया जाना चाहिए कि आदतें जिनका लम्बे अर्से से अभ्यास किया गया है, समानुरूप अभिप्रायों को विकसित करती हैं। उस तरह से आदतें और प्रवृत्तियाँ एक दूसरे में विकसित होती हैं।

विद्यालय पाठ्यक्रम और कार्यक्रम विद्यालय-समुदाय के दो सामान्य सिद्धान्तों, सहभागिता और प्रजातांत्रिक समूह, रुचि-क्लब और सेवा-दस्ते के आधार पर विद्यालय एवं समुदाय साधनों का पूर्ण उपयोग करते हुए शिष्यों को नागरिकता के लिए अधिकाधिक प्रशिक्षित कर सकते हैं। नया विद्यालय पाठ्यक्रम नागरिक शास्त्र को शामिल करते हुए सामाजिक अध्ययनों का स्पर्श करे जो शैक्षिक संस्थाओं में विभिन्न आयुस्तर के लिए तैयार एवं वितरित किया गया हो। दूसरे लोगों की सांस्कृतिक आदतों का आलोचनात्मक अध्ययन—जैसे भोजन, वस्त्र आदि सामाजिक अनुभव प्रदान करने के लिए उत्साहित किया जाना चाहिए, यदि इसे सुगमतापूर्वक छात्रों के माध्यम से उपलब्ध न किया जा सकता हो। यह पूर्ण आर्थिक और औद्योगिक समझ के साथ समकालीन राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं और स्थानीय सामूहिकता से लेकर सम्पूर्ण जगत तक समाज के कार्यों की समझ प्रदान करे। इसे जनकार्यों की यंत्र-रचना की एक पूर्ण समझ अवश्य ही प्रदान करना चाहिए—समितियाँ, निर्देशपत्र, कार्यक्रम सूची, प्रस्ताव आदि—जिससे समाज का विचार क्रियान्वित हो सके।

यह भी अनिवार्य है कि सामाजिक फलन के लिए किसी राष्ट्र का इतिहास सांस्कृतिक परम्परा का और इसकी सम्भावनाओं का सम्यक् अनुद्गृह्य प्रस्तुत करे जिसमें छात्र लोग वर्तमान आवश्यकताओं को हल करने के लिए अतीत की फल-दायी एवं उपयोगी क्रियाओं एवं अनुभवों का प्रयोग कर सकें। उदाहरण के लिए, भारतीय इतिहास में परिवार के बाद ग्राम-पंचायत प्रणाली को प्रथम प्रजातांत्रिक इकाई के रूप में, लघु पैमाने पर समझौता करने वाली, सलाहकार, वैधानिक, न्यायिक, कार्यकारिणी मूलक कार्य का सम्पादन करने वाली बतलाकर एवं खोज-कर सामाजिक शिक्षा में अत्यधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार

सामाजिकता को ध्यान में रखकर दूसरे लोगों के इतिहास का अध्ययन किया जाना चाहिए जिससे तुलनात्मक दृष्टि से, नागरिकता के लिए सामान्य नैतिकता खोजी और विकसित की जा सके। उदाहरण के लिए एथेन्स के लघु आकार वाले नगर-राज्य भारतीय ग्राम-पंचायतों की प्रणाली के समानान्तर ही सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में प्रत्यक्ष सहभागिता के अनुभव प्रदान करते हैं।

विद्यालय कार्यक्रम का संगठन नैतिक समस्याओं से सम्बन्धित होना चाहिए और स्थानीय क्षेत्रों से जानकारी रखने वाले अनुभवी एवं विशेषज्ञ सामाजिक व्यक्तियों की सेवाओं में पर्याप्त रूप से नम्य होना चाहिए। क्षेत्र पद्धतियों में और लक्ष्य प्राप्ति में प्रयुक्त साधन हो सकते हैं : छोटे समूहों के आमने-सामने कार्य करना और क्रमिक रूप में उन्हें व्यापक इकाइयों से परस्पर जोड़ना, सामाजिक सर्वेक्षणों को कार्यान्वित करना, प्रश्नावलियों को तैयार करना और क्रियान्वित करना, स्थानीय समाचारों एवं जगत् की प्रधान खबरों के लिए दीवार-पत्र, बातचीत, वादविवाद, अध्ययन समितियाँ, नाटक, संगीत, संगीत-समारोह, प्रदर्शनियाँ, बाह्य-क्रियाकलाप, जैसे खेल और धूमना।

सामाजिक शिक्षा पर जोर देने के फलस्वरूप नागरिकता के हित के लिए समुदाय केन्द्रों की एक संस्था सेवा में सभी आयु समूहों को पोषण करने के लिए खड़ी हो गई है। शैक्षिक संस्थाएँ, उसी प्रकार के कार्य करती हुई, सामान्यतया स्थानीयता के मध्य में स्थित समुदाय केन्द्रों से उदारतापूर्वक सहयोग करें। उनका सामान्य कार्य नगरीय प्रवृत्तियों एवं आदतों को सूचित करना, विकसित करना और मानव को दायित्व के बोध के लिए प्रशिक्षित करना है। नागरिकता के लिए शिक्षा का सारा कार्यक्रम दुःखद अंत में समाप्त हो सकता है, यदि शिक्षक और कार्यकर्ता लोग दायित्व में सामान्य प्रशिक्षण की मौलिकताओं को ग्रहण करने में असफल होते हैं, जिसका अर्थ होता है प्रसन्नता के माध्यम से कार्य ग्रहण करना और उन्हें पूर्णतः देखना और परिणामों को आत्मविश्वास के साथ ग्रहण करना। उत्तरदायित्व की समस्या पर क्षेत्र-कार्यकर्ताओं, शिक्षकों और मनो-वैज्ञानिकों द्वारा किए गए अनुसन्धान एवं निरीक्षण के सार संक्षेप का विवरण सहायता के काम आ सकता है।^१

१. देखिए Hartly : Development of Responsibility in Children—The Elementary School Journal के जनवरी १९५४ अंक में, University of Chicago Press.

१. दायित्व के लिए प्रशिक्षण आरम्भ में शुरू होता है। आरम्भिक दायित्व के प्रति कोई कितनी प्रतिक्रिया करता है, यह व्यापक रूप से भविष्य के दायित्वों के लिए महत्व रखता है।

२. बालकों को उत्तरदायित्व का अभ्यास करने के लिए अवसर दिए जाने चाहिए। जैसे, क्रिया के माध्यम से सीखना।

३. प्रशिक्षण बालक की व्यक्तिगत रुचियों एवं शक्तियों के अनुकूल होना चाहिए और उससे अतिरिक्त माँग नहीं करना चाहिए, नहीं तो वह निराश हो जाएगा और सभी दायित्वों से अलग हो जाएगा और दायित्व-ग्रन्थि का विकास कर लेगा।

४. आरम्भ करने के लिए, बालक के जीवन से विविध कार्य गहराई से जोड़ना चाहिए, जिससे प्रभावोत्पादक दायित्व-प्रवृत्ति विकसित हो।

५. बालक के लिए कार्य का अर्थवान होना आवश्यक है और प्रौढ़ों की झक द्वारा उन पर आरोपित प्रतीत नहीं होना चाहिए।

६. सुव्यवस्थित रूप से किया हुआ कार्य सन्तोष प्रदान करता है और दायित्व के बोध को बढ़ाता है। शिक्षक बालकों को समुचित रूप से सफलता के जीवन्त अनुभवों की ओर अग्रसर कर सकते हैं।

७. बालक प्रौढ़ों से कार्य में निर्देश चाहते हैं। यह तब प्रभावोत्पादक होता है यदि प्रौढ़ बालकों के मन में विश्वास और निष्ठा स्थापित कर चुके हों।

८. प्रौढ़ों की उत्तरदायित्व के प्रति प्रवृत्ति और अभ्यास में दायित्व बालकों के दायित्व-बोध को अत्यधिक प्रभावित करता है।

९. शिक्षक धैर्य के साथ दायित्व में व्यवधानों एवं कार्य में गलतियों को स्वीकार करना सीखें। अत्यधिक कठोरता अनिवार्यमूलक व्यवहार को विकसित करती है, जो आगे चलकर हानिप्रद होती है।

अब नागरिकता के लिए शिक्षा निम्नलिखित मदों को सम्मिलित करे :

१. स्वास्थ्य और आरोग्य-विज्ञान—आनन्दप्रद और सक्षम नागरिकता के लिए स्वास्थ्य और आरोग्य-विज्ञान नींव का काम करते हैं। इस तथ्य को बालकों के मन पर अवश्य अंकित करना चाहिए। उनके स्वास्थ्य एवं आरोग्य-विज्ञान के प्रशिक्षण में भोजन और पोषण, सामान्य रोगों के अतिरिक्त संक्रामक रोगों के कारणों एवं वैज्ञानिक ज्ञान के अध्ययन को सम्मिलित होना है। उनकी खाने एवं रहने की आदतें स्वास्थ्यप्रद एवं आरोग्य-विज्ञान पर आधारित होनी चाहिए। मासिक स्वास्थ्य परीक्षण एवं सम्यक् औषधीय सहायता आरोग्यिक दोषों

एवं खराबियों के निदान करने में एवं रोकने में अवश्य ही समर्थ हो। छात्रों को खुले क्रीड़ा-क्षेत्रों, हितकारी मनोरंजक क्रियाकलापों, प्रकाशयुक्त हवादार मकानों, सम्यक काँच-गवाक्ष एवं जल-संभरण की पर्याप्त समझ जरूर रखें। उन्हें समुदाय आरोग्यविधान एवं समुदाय-स्वास्थ्य की स्थिति से भी अवगत करवाना चाहिए जिससे वे कूड़ा, मल-मूत्र, गली की सफाई आदि की व्यवस्था सम्बन्धी जानकारी प्राप्त कर सकें।

विद्यालय और विद्यालय-छात्रावास सफाई का आदर्श होना चाहिए। इसका निरीक्षण स्वास्थ्य-समितियों के माध्यम से स्वयं छात्रों के सक्रिय प्रयत्न द्वारा सुव्यवस्थित होना चाहिए। छात्रगण न केवल विद्यालय जगत में ही स्वास्थ्य एवं स्वच्छता को उन्नत करें बल्कि उसी के लिए स्थानीय क्षेत्र में भी आंदोलन चलाएँ, जिससे विद्यालय में सिखी हुई स्वास्थ्य एवं स्वास्थ्य-विज्ञान की आदत घरों एवं समुदायों में उपजायी जाए। प्रशिक्षित कर्मचारियों द्वारा प्राथमिक सहायता एवं रेडक्रास कार्य को सम्मिलित करते हुए, सम्यक् और क्रमिक पाठ्यक्रमों एवं क्रियाकलापों, स्वस्थ वैज्ञानिक ज्ञान और नियमित अनुशासन पर आधारित व्यक्तिगत कल्याण और स्वास्थ्य-विज्ञान की आदतों, समुदाय की स्वस्थ एवं स्वास्थ्य-वैज्ञानिक रहन-सहन की परिस्थितियाँ उन्नत देशों में प्रगतिशील शैक्षिक संस्थाओं के सामान्य लक्षण हो चली हैं। इसके प्रस्तावित नए अनुसंधान एवं आर्थिक तथा मानवीय साधनों से संभव राष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं स्वास्थ्य-वैज्ञानिक परिस्थितियों में सुधार की सम्भावनाओं में सक्षम नवीन साधनों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

२. आर्थिक संगठन और श्रम-विभाजन का गुण-दोष विवेचन—यह बड़े महत्त्व की बात है कि छात्रों को देश के स्थानीय समुदाय से आरम्भ करके कृष्य, औद्योगिक और आर्थिक संगठनों से लेकर विश्व सहयोग की समझ और अध्ययन तक का अनिवार्य ज्ञान दिया जाना चाहिए। हमारा उद्देश्य उन्हें उत्पादन, संग्रह एवं विविध द्रव्यों के वितरण के लिए उत्तरदायी विभिन्न अभिकरणों की अन्तर्निर्भरता आदि को समझाना होना चाहिए। बिना बुद्धिपूर्ण संगठन एवं सहयोग के जीवन दुःखद अन्त को प्राप्त हो सकता है और लाखों पुरुषों की जिन्दगी विनष्ट हो सकती है। भोजन उत्पादन में किसान, बुनने में जुलाहा, जूता उत्पादन में मोची के अथक प्रयत्न के बिना, मनुष्य के लिए जंगल को छोड़कर दूसरी जगह नहीं है; जहाँ से वह कड़ा परिश्रम करके उबरा है। स्वयं जीवन के सभी साधनों एवं जरूरतों का उत्पादन करके मनुष्य आत्मावलम्बी नहीं हो सकता, इसीलिए

कोई राष्ट्र भी नहीं हो सकता है। वह दूसरे लोगों एवं विशिष्ट अभिकरणों की सेवाओं पर निर्भर होने के लिए बाध्य है। सामन्तीय अभिजाततंत्र और मानवीय शोषण के विरुद्ध स्वस्थ आर्थिक एवं नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित संगठित श्रम-विभाजन सम्य जीवन की एक अनिवार्य कड़ी है और उपलब्धि बोध एवं संवेग तृप्ति के साथ छात्रों को इस बात से अवगत करवाना चाहिए कि यह सबके सहयोग से ही ऐसा है कि आधुनिक जीवन सम्भव हुआ है, जबकि सैकड़ों मील दूर श्रमिक हाथों द्वारा वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं, तो दूसरे हिस्से में घरों के आरामदायक वातावरणों में उपयोग में लाई जाती हैं। यही बात अन्तर्देशीय वस्तुओं के उत्पादन और उपयोग के विषय में भी सच है।

विद्यार्थियों को उत्पादन, वितरण और उपभोग केन्द्रों पर ले जाकर मानव इतिहास में सहयोग के इस महान तथ्य का अंतरंग अनुभव कराया जा सकता है, जिससे वे ठीक-ठीक सहयोग की कड़ी को समझ सकें, जिससे वे लाभ कमानेवाले अभिकरणों के कार्य पूर्णतः जान सकें, जैसे पंसारी और दुकानें, सेवा-अभिकरण जैसे जनता-अस्पताल, पुस्तकालय और सहकारी समितियाँ। एक दूसरे से समुचित सम्बद्ध सहकारी अभिकरणों का सिलसिला इस दिशा में शिक्षा के लिए सम्यक् प्रशिक्षण केन्द्र सिद्ध हुआ है। जब छात्रगण उच्च लाभ और श्रम के निर्दय शोषण के लिए व्यक्तिगत या सामूहिक विलास के विरुद्ध बड़े औद्योगिक एवं आर्थिक संगठन में सहयोगी एवं परस्पर सेवा के सामाजिक अभिप्राय को देखते हैं तो राष्ट्र तथा साथ ही जगत के अन्तर्गत बौद्धिक, समाजवादी और मानवीय सिद्धान्तों की ओर बढ़ने के लिए औद्योगिक और आर्थिक व्यवस्था के लिए आधार-शिला तैयार हो जाती है।

इस समस्त प्रशिक्षण के उपरान्त विद्यार्थी इस बात को भली प्रकार समझ लेता है कि एक नागरिक व्यक्तिगत रूप से उत्पादक और उपभोक्ता दोनों है; चाहे वह कुछ भी उत्पन्न करे और भोगे, स्थूल भौतिक वस्तु से लेकर शाब्दिक वस्तुओं तक जैसे साहित्य, दर्शन और कला। इसलिए उसका दोहरा नगरीय दायित्व बन जाता है, यानी योग्य उपभोक्ता और योग्य उत्पादक होना। वह योग्य उपभोक्ता हो सकता है यदि वह प्रथम क्षण में, विशेषतः सामग्री की सुरक्षा के समय जैसे बाढ़ों, अकाल या युद्ध जैसे समय में, वस्तुओं का उपभोग दूसरे व्यक्तियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर करता हो, द्वितीय, यदि वह वस्तुओं का ठीक चुनाव करता हो, चाहे स्थूल माल हो या मानसिक उपभोग के लिए वस्तुएँ, जैसे संगीत, चलचित्र, पुस्तकें और अखबार। इस क्षेत्र में उसका

प्रशिक्षण स्वभावतः सम्यक्-गुण उत्पादन की स्थापना करेगा और निम्न स्तरीय एवं हानिकारक सामग्रियों के उत्पादन पर रोक लगाने के लिए किसी सरकार के प्रयत्नों में अत्यधिक सहायक होगा। सम्भवतः यह कहना उचित ही है कि भौतिक एवं मानसिक उपभोग से समाज की सौंदर्य-विषयक एवं नैतिक व्यवस्था उत्पन्न होती है और इसलिए छात्रों को सुस्त एकात्मकता एवं कठोरता के अधीन किए बगैर वस्तुओं के ठीक चुनाव में प्रशिक्षित करने में शिक्षा को एक बड़ा दाँव लगाना पड़ता है।

योग्य उत्पादक के कर्तव्य निम्नलिखित मदों में समाविष्ट किए गए हैं :

३. व्यावसायिक क्षमता और ईमानदारी—जैसा कि समाज अपने दैनिक जीवन के लिए अपने नागरिकों की व्यावसायिक क्षमता पर निर्भर होता है; अतः छात्रों को व्यावसायिक निर्देश एवं प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए समुदाय की सहभागिता में और अपने निजी ढाँचे के अन्तर्गत छात्रों को प्रशिक्षित करना शिक्षा का उत्तरदायित्व है, जिससे वे सामाजिक संगठन में योग्य भूमिका अदा कर सकें। व्यावसायिक प्रशिक्षण व्यक्तियों की प्रवृत्तियों एवं रुचियों पर आधारित होना चाहिए, जिससे वे कार्य से आनन्द प्राप्त कर सकें और बेहतर व अधिक मात्रा में वस्तु उत्पन्न कर सकें। इस सम्बन्ध में शैक्षिक कार्यक्रम स्थूल रूप से स्वस्थ क्रियाशील प्रवृत्तियों एवं आदतों, श्रम के महत्व की समझ, व्यावसायिक अवसरों के अन्वेषण के योग्य बनाना, एकता के गुणों के अभ्यास, क्रमबद्ध कार्य एवं सावधानी, विशिष्ट कार्यों के करने की बेहतर पद्धतियों के ज्ञान एवं अधुनातन व्यावसायिक सूचना प्रदान करना, उपकरण एवं यंत्र आदि की समर्थ व्यवस्था के विकास को भी शामिल करे।

कार्य की नैतिकता पर विशेष ध्यान देना चाहिए। विद्यालय में अभ्यस्त स्वस्थ कार्य की आदतों के माध्यम से छात्रगण न केवल व्यावसायिक क्षमता का ही विकास करें, बल्कि व्यावसायिक ईमानदारी और सेवा के आदर्श को सर्वोपरि महत्त्व दें। प्रत्येक उत्पादक या श्रमिक अपनी व्यावसायिक विधि से स्वस्थ सलाह एवं ऐच्छिक सहयोग से दूसरों की सेवा के पर्याप्त अवसर रखता हो। उदाहरण के लिए, जब कोई रोग फैल जाए तो सेवा मनोवृत्ति वाले शरीरवेत्ता लोग हर तरह से सुसंगत तकनीकी तथ्यों को व्यापक प्रकाशकता प्रदान करें, साथ ही क्षेत्र-कार्य के लिए भी जायें, जिससे रोग को शीघ्र ही नियंत्रण के अन्तर्गत रखा जा सके। और इसी तरह दूसरों के विषय में समझना चाहिए। इस प्रकार कार्य का नैतिक पक्ष जैसे ही विद्यार्थी समझ सकें यदि आरम्भिक अवस्थाओं

से महत्वपूर्ण कर दिया गया है तो, वे सम्भव है कि व्यावसायिक ईमानदारी, दूसरे उपभोक्ताओं के लिए विचार-विमर्श, नियुक्त या वेतनभोगी के रूप में सुखद मानवीय समायोजन विकसित कर सकें और मानव सेवा के शुभतर आदर्श के लिए अर्पित रचनात्मक कार्य में वास्तविक आनन्द प्राप्त कर सकें।

४. सामान्य अव्यावसायिक क्षमता—यद्यपि व्यावसायिक कार्य आनन्द भोग, व्यक्तिगत क्षमता और समाज सेवा का प्रभावोत्पादक साधन बनाया जा सकता है, फिर भी मानव जीवन व्यावसायिक कार्य तक सीमित नहीं है। व्यावसायिक कार्यकर्ता के होते हुए भी किसी भी नागरिक को अनेक उत्तरदायित्वों को निभाना पड़ता है। कार्य के बाद उसके पास पर्याप्त अवकाश रहता है जिसे भी समुचित रूप से व्यतीत करना आवश्यक है। इस सबका अभिप्राय रहन-सहन में क्षमता प्राप्त करना है जिससे कार्य पश्चात् के घंटे ऊब या दोस्तों, पड़ोसी या परिवार के सदस्यों के बीच तुच्छ द्वेषों में दुरुपयोग में व्यतीत न हों। इस संदर्भ में चीन के दार्शनिक ली उंटांग की उक्ति स्पष्ट प्रतीत होती है, "...मेरे लिए दर्शन का प्रयोजन औसत व्यावसायिक मनुष्य की अपेक्षा हमें जीवन को अधिक सरलता और प्रसन्नता-पूर्वक ग्रहण करने की शिक्षा देना है।"

इसलिए शिक्षा का उद्देश्य मन में सम्यक दर्शन एवं दृष्टिकोण का निर्माण करना है जिससे वे रहन-सहन के कलात्मक ढंग को सीख सकें। साथ ही वे जीवन के अनुभव एवं विनोदात्मक ढंग से अवकाश व्यतीत करना सीख सकें।

५. योग्य गृह सदस्यता—अपने घर के प्रति छात्रों को उत्तरदायी बनाना शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ दायित्व है। यद्यपि शिक्षा के विषय में अधिकाधिक कार्य विद्यालयों द्वारा ग्रहण किए जाते रहे हैं, तिस पर भी विद्यालय का एक उद्देश्य शुभ जीवन के लिए परिवार को सम्य जीवन की प्रथम इकाई के रूप में सुदृढ़ एवं सुसम्यक् करना होना चाहिए। इस लघु इकाई में सीखे हुए मानवीय सम्बन्ध व्यापक समूह तक चरितार्थ होते हैं और परिणामतः सम्यता की गति को निर्धारित करते हैं। सद्गुणी एवं सुखी घर सद्गुणी एवं सुखी समाज में परिवर्धित होते हैं।

शैक्षिक कार्यक्रम के अन्तर्गत गृहकार्य की प्रतिष्ठा को आरम्भ में ही महत्व दिया जाना चाहिए। इसी में कार्य की व्यापकतर अवधारणा को जोड़ा जाय जिससे छात्र स्वेच्छा एवं सुखपूर्वक परिवार के सदस्यों की गृहकार्य में सहायता करे, जैसे छोटे भाई और बहनों की देख-रेख, पशुओं की देख-रेख आदि। गृहकार्य की कुछ क्रियाओं जैसे फर्नीचर बनाना, पालिश करना, मरम्मत करना, रसोई बनाना

और बागबानी विद्यालय कार्यक्रमों में शामिल किये जा सकते हैं और सक्षम निर्देशन दिए जा सकते हैं जिससे प्रभावोत्पादक पद्धतियों का प्रयोग किया गया हो और प्राचीन ढंग से कार्य करने में समय बरबाद न हो। और भी, कुछ सरल और रुचिकर खेल जो आसानी से घरों में खेले जा सकते हों, शैक्षिक संस्थाओं में समाविष्ट कर लेने चाहिए, जिससे छात्र उन्हें घरों में क्रियान्वित करें और अपने परिवार के अन्य सदस्यों के साथ, अपने अवकाश का समुचित रूप में उपयोग करें। संक्षेप में सभी मनोरंजक क्रियाकलाप, जो गृहजीवन को समृद्ध करते हैं, जैसे संगीत, काव्य और बातचीत शैक्षिक कार्यक्रम का अंश होना चाहिए।

परिवार के आर्थिक साधनों के अन्तर्गत ही सरल विधि से छात्रों को सिखलाया जाना चाहिए कि वे अपने घरों को कैसे सजाएँ और पारिवारिक आय-व्यय को कैसे संतुलित रखें और सबसे ऊपर, परिवार में सबसे अधिक जरूरत-मंद के लिए कैसे बलिदान करें। सुन्दर, स्वस्थ, सुखी और सहयोगी गृह आदर्श है जिसे शिक्षा छात्रों पर खर्च किए अपने प्रयत्नों के माध्यम से अनुभव करे।

६. अभिभावकता के लिए शिक्षा—घर-गृहस्थी सम्भवतः सुखी एवं सहयोगी नहीं हो सकती जब तक कि उसे बुद्धिमान अभिभावकों का नेतृत्व न सुलभ हो। स्वयं अभिभावकों के अन्तर-व्यक्तिगत सम्बन्ध, उनकी जीवन-पद्धति एवं उसके प्रति सामान्य दृष्टिकोण की क्रिया बालकों के विकासमान व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव डालती है। अभिभावकता जब तक जीवन की एक घटना के रूप में नहीं ग्रहण की जाती, यह अनिवार्य प्रतीत होता है कि शिक्षा आगे बढ़ कर अभिभावकता को शिक्षित करे जिससे बालकों को समझदार एवं सहानुभूतिमूलक अभिभावकों का लाभ प्राप्त हो। एक तरह से शैक्षिक संस्थाएँ अभिभावकता के लिए अप्रत्यक्ष रूप से प्रिय एवं सहयोगी बालकों को उन्नत होने के लिए शिक्षित करती हैं, फिर समय की गति के अनुसार उन्हें बुद्धिमान एवं कृपालु अभिभावकों के रूप में निर्मित करती हैं। प्रत्यक्ष पद्धतियों में एक ओर कालेज के छात्रों एवं स्थानीय प्रौढ़ों को सुनियोजित निर्देश दिया जाता है, और दूसरी ओर अभिभावक दो वर्गों के लिए कार्यक्रम सामान्य रूप से बालकों एवं युवकों के मनोविज्ञान के मूल तत्त्व और विशेषरूप से प्रजातांत्रिक परिवारों की समझ एवं विस्तृत चित्र को शामिल करें, जहाँ अभिभावक निर्देश एवं सलाह देते हों, आदेश नहीं। जैसे, भोज के समय बालकों के अवकाश काल के क्रियाकलाप, उन्हें अनुप्रेरित करने के लिए अभिभावकों का बालकों की रुचियों एवं खेलों में भाग लेना, परिवार का आकार और सदस्यों के सुख, साथ ही आर्थिक परिस्थिति और रहन-

सहन की सीमा पर इसका प्रभाव, बच्चों के समूह संघटन, बालकों के संघर्ष एवं प्रतियोगिताएँ, अभिभावकीय पक्षपात के खतरे, बालकों को चिढ़ाना और ताना देने के खतरे, अपराधी व्यवहार के बालकों की मूलभूत जरूरतें, जैसे सुरक्षा, मान्यता और आदर का भाव, क्रीड़ा चिकित्सा आदि। इस कार्य को, विद्यालय मनोविज्ञान विभागों और विश्वविद्यालयों द्वारा मनोविज्ञान के छात्रों एवं उस विषय में अनुसंधान करने वाले छात्रों की सहायता से किया जा सकता है।

अभिभावकों के लिए अतिरिक्त सुविधाओं में, मनोवैज्ञानिकों के साथ शिक्षकों द्वारा सलाह एवं निर्देशन के लिए अभिभावक-शिक्षक समुदाय, समस्या-बालक के लिए विद्यालय उपचार-गृहों की सेवाएँ, संतति-निरोध और जन-संख्या के विषय में एवं पारिवारिक स्वास्थ्य-क्षमता और सुख के सम्बन्ध पर निर्देश, और बाल-पोषण के सामान्य शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पक्षों पर निर्देश, आदर्श सुखी परिवार में अभिभावकों के गमन की व्यवस्था जिससे उनके निजी घरों को सुखी बनाने में संकेतपूर्ण सुविधाएँ प्राप्त हों, अभिभावकों के हताश कारणों का विश्लेषण और उनके व्यावसायिक कार्य एवं पारिवारिक सम्बन्ध में प्रगति एवं समायोजन करने में उनकी सहायता करना, बालक एवं किशोर मनोविज्ञानों, बाल-पोषण, अपराध नकारात्मकता, खेल, मनोरंजनीय क्रियाकलापों इत्यादि पर उन्हें सरल साहित्य प्रदान करना शामिल किया जाता है।

समाज-शास्त्रीय दृष्टि से विद्यालयों में बालक की सम्यक शिक्षा के लिए घर के सामाजिक वातावरण को नियंत्रित करना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

७. योग्य पड़ोसी सदस्यता—योग्य गृह-सदस्यता की भाँति, योग्य पड़ोसी-सदस्यता का सम्यता की सुदृढ़ नींव की रचना में बराबर महत्त्व है। स्थान के निकट रहना स्वयं परस्पर निष्ठा की पड़ोसी भावना का विधान नहीं करता। शायद उचित प्रशिक्षण एवं सामाजिक मूल्यों के अभाव में, यह मित्रता के सम्बन्धों के लिए खतरे का विधान करता है, क्योंकि वस्तुओं की प्रकृति में, पड़ोसी सामान्य समस्याओं एवं सहभागों की अनेक संख्या के लिए सम्भवतः विभाजित और समाज एवं स्वयं के लिए दूषित सिद्ध हो सकते हैं। जबकि मित्रता के गहन सम्बन्ध, अवसर एवं रुचि के विषय हैं, तथापि उद्देश्य, पड़ोसी नीति शास्त्र का एक तार्किक मानदण्ड, छात्रों के मन पर मुद्रित करने के लिए जरूरी है।

विद्यार्थियों के लिए 'विकासमान मानव परिवार' पर एक व्यापक निर्देशन आवश्यक है जिससे उन्हें सूचना भी मिल जाय तथा उनकी मानसिक स्तर की तृप्ति हो जाए जिससे वे समझना सीखें कि किस प्रकार महान् मानव समाज का

सम्बन्ध विनम्र परिवारों एवं पड़ोसों से आरम्भ होकर विश्व-बन्धुत्व की ओर उन्मुख हुआ। परस्पर आदर्श सम्बन्ध को व्यवस्थित रखने वाले अधिक सुसंस्कृत परिवारों के निवेश तक बालकों को ले जाकर उन्हें निर्देशात्मक अनुभव प्रदान किया जा सकता है या उसके अभाव में चलचित्रों से वही अनुभव प्रदान किया जा सकता है। शिक्षक और विद्यालय के सामाजिक कार्यकर्ता त्योहारों एवं साधारण अवसरों पर अन्तर-पारिवारिक सहभागिता की व्यवस्था करें, जहाँ पड़ोस के परिवारों से बालक एवं प्रौढ़ लोग परस्पर मिल सकें, उदाहरण के लिए, पंक्तियों में भोजन करना और बाहर घूमने जाना।

विद्यालय के वातावरण और विशेषरूप से छात्रावास की सुविधाएँ छात्रों के आरम्भिक कर्तव्यों में परिवर्तन लाने के लिए काम में लाई जा सकती हैं, जैसे नम्रतापूर्वक व्यवहार करना और शोर न करना जिससे पड़ोसी को विघ्न पहुँचता है, रेडियो का स्वर तेज न करना आदि। छात्रावास में रहने वाले एक दूसरे की जरूरतों एवं आराम का ध्यान रखें; छात्रावास के सामान्य क्रिया-कलापों में भाग लें और आत्म-शासन के आधार पर छात्रावासीय जीवन को संगठित करने के लिए समितियों का निर्माण करें। यह प्रशिक्षण पड़ोसियों के साथ कल्याणकर सम्बन्ध में आसानी से स्थानान्तरित किया जा सकता है।

८. योग्य नगरीय सदस्यता और सीखना एवं चिंतन—देखिए, अध्याय १०, 'प्रजातंत्र के लिए शिक्षा'।

९. अवकाश का उचित उपयोग—देखिए, अध्याय ११, 'अवकाश के लिए शिक्षा'।

सहायक पुस्तकें :—

1. Miller, Neal E., and Dollard, John : Social Learning and Imitation, Yale University Press, New Haven.
2. Baldwin, James Mark : Social and Ethical Interpretations, The Macmillan Co.
3. Mead, G. H. : Mind, Self and Society, University of Chicago Press, Chicago.
4. Pink, Alderton M. (Ed.) : Moral Foundations of Citizenship, University of London Press Ltd., London.

5. Dewey, John : Experience and Education, the Macmillan Company, New York.

6. Andrews, John and Marsden, Carl : Tomorrow in the Making, McGraw Hill Book Co., New York.

शिक्षा के अभिकरण (Agencies of Education)

“पुस्तकों की अपेक्षा अधिकतर निरीक्षण, व्यक्तियों की अपेक्षा अधिकतर अनुभव—प्राथमिक शिक्षक हैं।” —ए० बी० एल्कोट

शिक्षा के अभिकरण एक ओर कृत्रिम और अकृत्रिम एवं दूसरी ओर सक्रिय एवं निष्क्रिय हो सकते हैं।

कृत्रिम अभिकरण प्रशिक्षित कर्मचारियों द्वारा नियोजित एवं निरीक्षित होते हैं। उनका सामान्यतः निर्धारित क्रम और अनुशासन का एक निश्चित विधान होता है। इनमें विद्यालय, चर्च, कलाभवन आदि शामिल हैं।

अकृत्रिम अभिकरण प्रायः स्वतः स्फूर्त विकास वाले होते हैं जिनका कोई आनुशासनिक क्रमिक विधान नहीं होता। निश्चित योजना से युक्त उनका निर्माण होता है, क्रीड़ा समूह, गुट्ट, टोली, युवक सदस्यता समूह आदि इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

सक्रिय अभिकरण जैसा कि नाम ही से स्पष्ट है, सुनियोजित रूप से सामाजिक प्रक्रियाओं के निर्देशन एवं नियन्त्रण का लक्ष्य रखते हैं। परिवार, विद्यालय, चर्च, खेल क्लब, सामाजिक कल्याण अभिकरण, पुस्तकालय, वाचनालय कुछ इस प्रकार के उदाहरण हैं।

निष्क्रिय अभिकरण यदि सामाजिक ढंग से कहा जाए तो वे हैं जो एक-मार्गीय प्रक्रिया को ध्वनित करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि निरपेक्षता निष्क्रिय है और किसी तरह के प्रभाव या नियन्त्रण को स्वीकार ही नहीं करते हैं। वे जनमत, जनरुचि और राज्य स्वामित्व के नियन्त्रण के अन्तर्गत पड़ते हैं। प्रेस, रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन इसी वर्ग से सम्बन्धित हैं।

१. परिवार

शिक्षा का एक सक्रिय अभिकरण पूर्ति के लिए परिवार एक ओर बच्चों की भौतिक आवश्यकताओं और स्नेह-भावना की ओर दूसरी ओर बच्चों का सामाजीकरण करने के लिए सामाजिक जीवन की प्रथम इकाई है। यह अन्तर-क्रिया में रत व्यक्तित्वों की एक इकाई है। इस इकाई का प्रत्येक सदस्य समूह में विशिष्ट भूमिका और विशिष्ट स्थिति रखता है। स्वयं एक साथ परिवार समाज के आमने-सामने अपनी निजी स्थिति है, स्थिति जो आर्थिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों, राजनैतिक स्थिति आदि के मानदण्ड से निर्धारित होती है।

यह परिवार ही है, जहाँ कि बालक भाषा सीखता है और उसके माध्यम से सामाजिक और नैतिक विधान। वह परिवार की विधियों, तौर-तरीकों एवं परम्पराओं में विकसित होता है और क्रमशः परिवार एकता का अनुभव करता है। आत्मप्रेम से वह परिवार के प्रति निष्ठा तक अग्रसर होता है। जैसा ही वह दायित्वों का भार उठाता है, उसे निश्चित स्तर के नैतिक प्रशिक्षण और अनुशासन की जरूरत पड़ती है। परिवार के प्रति अपने समायोजन के प्रयत्न में वह प्रेम और धृष्टा को चुभता है जो उसके व्यवहार और प्रवृत्तियों को गत्यात्मकता प्रदान करते हैं। परिवार में स्थित बालक द्वारा शैशवावस्था में प्राप्त सम्पूर्ण सामाजिकता, पश्चात् के व्यक्तित्व के लिए आधार सिद्ध होती है। ऐसा इसी काल में होता है कि कोई बालक अलगाव, उग्र स्वभाव या फिर सहयोग की प्रवृत्तियों को सीखना आरम्भ कर देता है। समुचित रूप से संगठित सामाजिक अनुभवों की व्यवस्था बालक के व्यक्तित्व की एकता पर एकात्मक प्रभाव डालती है। बालकों की सामान्य संवेगात्मक जरूरतों में प्रमुख प्रेम और सुरक्षा-बोध हैं, जिनके बिना साधारण विकास के अवसर बहुत कम हैं।

परिवार प्रभावकारी या अप्रभावकारी सामाजिक नियन्त्रण के माध्यम से व्यापकतर सामाजिक प्रक्रिया को सहायता दे सकता है, यह उसका उन्मूलन कर सकता है। यदि अभिभावक समझदार हैं, स्वयं सुव्यवस्थित हैं, तो वे परिवार में सहयोग के वातावरण का निर्माण कर सकते हैं। यदि परिवार की समस्याएँ 'हम अनुभूति' के अनुसार सारे सदस्यों द्वारा सामान्य समस्याओं के रूप में स्वीकार कर ली जावें और यदि आयु एवं क्षमताओं के अनुसार सभी सदस्यों द्वारा दायित्वों को समान रूप से भोग लिया जाए तो सहयोग और निःस्वार्थता की प्रवृत्तियों के संघटन के लिए अनेकों अच्छे अवसर प्राप्य हैं। एक प्रजातान्त्रिक परिवार जहाँ प्रत्येक सदस्य अपनी क्षमता के अनुसार अपने हिस्से को मत, श्रम और स्नेह का

सहयोग देता है, जहाँ पारस्परिक बातचीत से निर्णय लिये जाते हैं तथा प्रत्येक सदस्य को विश्वास में लिया जाता है, संक्षेप में जहाँ तानाशाही से बिलगाव रहता है, आदान-प्रदान के सम्बन्ध अत्यधिक स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर रहते हैं। एक उच्चस्तरीय वांछनीय प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और यही बोध की स्थिति है कि स्वतन्त्रता के ढाँचे में प्रत्येक सदस्य अपनी-अपनी सीमाओं को बनाए रखता है। वह अपनी मर्जी से कदाचित नहीं रह सकता बल्कि दूसरे सदस्यों की जरूरतों और मांगों के लिए निस्पृह ढंग से उसे अवकाश प्रदान करना ही पड़ता है। स्वस्थ परिवार से इस तरह की सहनशक्ति की अपेक्षा है जिससे बलिदान का अधिक नैतिक गुण उत्पन्न होता है जो मानवता की आधार-शिला है।

सहयोग के पक्ष में निम्नलिखित घटक कहे जा सकते हैं: परिवार की सांस्कृतिक भूमिका की सम्यक् जानकारी, दूसरे सदस्यों के प्रति समादर की प्रवृत्ति और 'समय एवं सम्पत्ति का उपयोग, यौन मूल्य, व्यक्तिगत मित्रता आदि को सम्मिलित करते हुए पारिवारिक मूल्यों के सुन्दर बोध का विकास।' भारत और चीन अपने विशिष्ट परम्परागत सांस्कृतिक ढाँचे में पारिवारिक मूल्यों पर जोर देते हैं जैसे छोटों की बड़ों के प्रति श्रद्धा और आज्ञापालन संयुक्त परिवार की प्रवृत्ति। प्रत्येक संयुक्त परिवार अपने में एक मानवता का छोटा सा नमूना है, जहाँ 'एक सबके लिए और सब एक के लिए' का सिद्धान्त, अन्तर-व्यक्तिगत सम्बन्धों को नियन्त्रित करता है।

सहयोग का सिद्धान्त परिवार के अन्तर्गत सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि अन्तर-परिवारिक सम्बन्धों तक विस्तृत है। समुचित संगठित समाजों में एक परिवार का दूसरे के साथ व्यवहार अत्यधिक सहयोगी एवं निकटता-परक होता है। स्वस्थ अन्तर-परिवार सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि वे संकीर्ण परिवार की सीमा से व्यापक समूह तक प्रवृत्त हो जिससे निष्ठाओं का विस्तार होता है।

यह स्वतः सिद्ध है कि बालक के सामाजिक समायोजन में परिवार की भूमिका बहुत बड़ी है और इस रूप में सहयोग उस समायोजन की अन्य प्रक्रियाओं में से एक प्रक्रिया के रूप में अभिभावकों एवं शिक्षकों की देख-रेख की समस्त रूप से अपेक्षा रखना है। अब हमारे लिए दूसरी अर्थात् विरोधी सामाजिक प्रक्रिया को देखना आवश्यक है।

परिवार में विरोध या संघर्ष अभिभावकों में, अभिभावकों और बच्चों के

बीच पाया जा सकता है, या एक परिवार के सदस्यों और दूसरे परिवार के सदस्यों के बीच में। इसके अनेक कारण हैं।

उदाहरणार्थ, सहोदरों में स्नेह, मान्यता और सामाजिक पद के लिए प्रतियोगिता के कारण ईर्ष्या, प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न होती है। जब अभिभावक या परिवार के अन्य बड़े सदस्य सभी बालकों को समान स्नेह देने में न्यायपूर्ण व्यवहार नहीं करते या किसी तरह वे पक्षपात का प्रभाव उत्पन्न करते हैं तब बालकों में आपस में संघर्ष गहरा हो जाता है। बालकों में संघर्ष का दूसरा प्रधान कारण स्वामित्व की सहज प्रवृत्ति है। खेलौनों की प्रतियोगिता करते समय बालक झगड़ सकते हैं। वस्तुओं की विविधता एवं प्रचुरता उनमें संघर्ष को कम कर सकती है। संघर्ष के इस प्रकार के स्पष्ट तुच्छ कारण गहरे होते जाते हैं जिससे वे स्थायी व्यवहार के रूप में विकसित हो जाते हैं। स्वभावगत विरोध संघर्षों के अन्य प्रमुख कारण हैं। उदाहरण के लिए परिवार का एक शान्तिप्रिय सदस्य उत्साही सदस्यों के कोलाहल से विचलित हो सकता है और परिणामतः संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। उसी प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक अनुभवों के प्रति झुकाव संघर्षों की व्यापक श्रेणी में परिणामित हो सकता है। रूढ़ परम्पराओं से पोषित व्यक्ति उनसे झगड़ सकता है जो सामाजिक वर्जनाओं और निषेधों से प्रायः स्वतन्त्र होता है। दोनों के मार्ग में आकाश-माला का अन्तर है और फूट का निरन्तर कारण है। यद्यपि सांस्कृतिक पोषण का मूल-स्रोत परिवार की परम्परा हो सकता है, फिर भी यह सोचना व्यर्थ है कि समाज में सांस्कृतिक विविधता के मध्य में सभी सदस्य किसी विशिष्ट सांस्कृतिक ढाँचे के अधीन किए जा सकते हैं। वास्तव में, सांस्कृतिक विविधता सामाजिक विकास की इस अवस्था में किसी कीमत पर अनिवार्य है, और जहाँ इस प्रमुख तथ्य को मान्यता नहीं दी जाती, संघर्षों की सम्भावना पर्याप्त रूप से उच्च स्तर पर बढ़ जाती है।

संघर्षों की उपरोक्त कोटि से निकटतर सम्बन्धित वे संघर्ष हैं जो आयु-पिछड़ेपन के कारण जन्म लेते हैं। प्राचीन एवं नवीन का प्रसिद्ध संघर्ष इस दृष्टि से एक उदाहरण है। स्वभावतः विभिन्न आयु-समूहों की विभिन्न आवश्यकताएँ, प्रवृत्तियाँ और व्यवहार होते हैं एवं जहाँ लोग एक दूसरे की जरूरतों एवं दृष्टिकोणों के प्रति सहानुभूति रखना नहीं सीखते, संघर्ष गहरा हो जाता है।

अभिभावकीय आकांक्षाओं का आरोपण संघर्ष का एक अन्य कारण है। बालक एवं युवकों को जब उन्हें अपनी प्रवृत्तियों एवं संभावनाओं के आधार पर विकसित होने दिया जाता है, अपने को अधिक सहज अनुभव करते हैं और खुश

रहते हैं लेकिन अक्सर अभिभावक लोग उनके साधारण विकास को अपनी आकांक्षाओं के अनुसार मोड़ने के प्रयास में कुंठित कर देते हैं, सामान्यतः अपने जीवन में अप्राप्य आकांक्षाओं एवं कृत्यों की क्षतिपूर्ति के प्रयास में।

विरोध के विविध कारणों को इस प्रकार अंकित किया जा सकता है : देर तक बाहर ठहरना, भिन्न लैंगिक व्यक्तियों से मिलना, अतिरिक्त अपव्यय, कार्य और उत्तरदायित्व से मुंह मोड़ना आदि।

परिवार के लिए आवश्यक है कि यह विरोध को कम करने एवं सहयोग को बढ़ाने के लिए दायित्व ग्रहण करे, यदि वह सामाजिक प्रक्रिया के प्रति उपयोगी सहयोग देना चाहता है। वह तभी सम्भव है, यदि विशेषतः परिवार के बड़े सदस्य निम्नांकित तथ्यों के प्रति सजग हों।

(क) परिवार के समाजशास्त्रीय महत्त्व का सुदृढ़ ज्ञान और उसके प्रति समझ,

(ख) परिवार में लोगों और परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया करने के लिए संवेगात्मक प्रौढ़ता और सम्पूर्ण सन्तुलन,

(ग) बच्चों को नियंत्रित करने एवं सहयोगी रहन-सहन के प्रति उन्हें प्रेरित करने के लिए मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और योग्यता,

(घ) सामाजिक स्तर पर उपयोगी अनुभवों के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान करना,

(ङ) सदस्यों में हम-अनुभूति का बोध उत्पन्न करना।

सामाजिक प्रक्रिया को प्रभावोत्पक रूप से नियंत्रित एवं निर्देशित करने के लिए शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह शिष्य की पारिवारिक पृष्ठभूमि से जानकारी प्राप्त करे। वह अपनी देख-रेख में रखे गए बालकों की शक्तियों को निर्देशित करने में अभिभावकों को अवश्य सहयोग दें। अभिभावकों और शिक्षकों के बीच में यह सहयोग जब तक उपलब्ध नहीं होगा, जैसा कि अनेक अध्ययनों से पता चला है, तब तक इस बात का खतरा है कि यदि एक मोर्चे पर थोड़ी प्रगति की गई है तो दूसरे पर इससे उल्टा ही होता है। अस्तु, विद्यालय, गृह-कार्यों की अनुपूरकता में अवश्य ही आगे आए, और परिवार में बालक के मन में परिवार की भूमिका की समझ विकसित करे।

परिवार के कार्य कभी स्थायी न होकर समय-समय पर समाज की सामाजिक-आर्थिक रूपरेखा के अनुसार बदलते हैं। आरम्भिक समाजों में कार्यों

की अधिकांश संख्या आधुनिक परिवार की अपेक्षा परिवार के द्वारा ही सम्पन्न की जाती थी।

ओगबर्न बीते हुए युग के सात कार्यों का उल्लेख करते हैं। वे हैं :

(१) स्नेहमूलक, (२) आर्थिक, (३) शैक्षिक, (४) रक्षात्मक, (५) मनोरंजक, (६) पारिवारिक स्थिति, (७) धार्मिक स्थिति। लेकिन इन कार्यों में से कुछ या तो त्याग दिए गए या समाज के सामाजिक आर्थिक संगठन में विशिष्टीकरण और औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप सुधार दिए गए। अतीत में व्यावसायिक और शैक्षिक कार्य व्यापक रूप से परिवार के घर्म होते थे, लेकिन आज लगभग सभी यांत्रिक रूप से उन्नत देशों में, शिक्षा के अपने उच्चस्तरीय संगठन के द्वारा यह राज्य का उत्तरदायित्व हो गया है। शिशु-निकेतन और किन्डरगार्टेन्स बच्चों के पालन-पोषण के कार्य का अधिकांश परिवार से ले लिया गया है। उसी प्रकार मनोरंजन के कार्य का अधिकांश विशेषीकृत व्यापारिक या सांस्कृतिक अभिकरणों द्वारा ले लिया गया है, जैसे सिनेमा, रेडियो, नाटकीय एवं सांस्कृतिक क्लब। भौतिकवादी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप धार्मिक कार्य सामान्य परिवार में जीवन के विषय में प्रायः तीव्रता से रूढ़ हो गए हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से किसी तरह यह संकेत नहीं होता कि समकालीन परिवार शिशुपालन के उत्तरदायित्व से मुक्त है। वास्तव में अभिभावक-कला अधिक विशेषीकृत प्रकृति को ग्रहण करती है, जिसमें बालक एवं प्रौढ़ मनोविज्ञानों के बढ़ते हुए ज्ञान के आधार पर सभी तरह की देखरेख और ध्यान की मांग निहित है। अभिभावकों को परिवार की शैक्षिक और सांस्कृतिक संभावनाओं को पूर्णतः समझने की जरूरत है और किशोरों एवं बालकों का पोषण करने वाले सभी शैक्षिक एवं सांस्कृतिक अभिकरणों से रचनात्मक ढंग से सहयोग करना चाहिए।

परिवार संगठन में आज की प्रवृत्तियाँ संयुक्त परिवार के टूटने का संकेत रही हैं। इसका स्थान बालकों एवं अभिभावकों के परिवार द्वारा तुरन्त ही ग्रहण कर लिया जाता है। बालकों के प्रति अभिभावकों के उत्तरदायित्व बढ़ गए हैं जबकि वे दूसरे सम्बन्धियों के घट गए हैं। प्रत्यक्ष परिवारों की विविधता एक ओर औद्योगीकरण का परिणाम है तो दूसरी ओर अव्यवस्थित एवं भारी संयुक्त

१. William F. Ogburn: 'Decline of the American Family' in E. George Payne's Readings in Educational Sociology, Vol. I, p. 252, Prentice Hall, Inc., 1932, New York.

परिवार में संघर्षों एवं विकृतियों से परिणामित घुटन तोड़ने की इच्छा। आने-जाने के साधन इतने सस्ते और पहुँच के अन्तर्गत हैं कि नवयुवक अभिभावकीय स्थान को या तो अध्ययन के लिए या दूर स्थानों में नौकरी करने के लिए छोड़ देते हैं। यह उन्हें स्वतंत्रता की भावना और अक्सर रहन-सहन का उच्चतर स्तर जो संयुक्त परिवार में उपलब्ध नहीं था, प्रदान करता है। अक्सर आर्थिक कारणों से लोग पैतृक घरों को छोड़ कर दूर चले जाते हैं। नागरीकरण (Urbanisation) युगों तक संयुक्त परिवार का पोषण करने वाले ग्रामों से अधिकाधिक जनसंख्या को अपने यहाँ स्थान दे रहा है।

संगोत्र परिवार में प्रौढ़ों की तुलनात्मक समर्पण के विरुद्ध आत्मघोषणा, वैवाहिक आयु में अभिवृद्धि और यौन समस्याओं का बढ़ाव चिढ़ में उत्पन्न होता है, जो समकालीन परिवार संगठन की कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को संकेतित करता है। जबकि नई शक्तियाँ प्राचीन संयुक्त परिवारों का विघटन कर रही हैं, इस संक्रमणकाल में वे स्वतः अधिक दायित्वों को आरोपित करती हैं। निश्चय ही वयोवृद्ध अधिक दुखी हैं जो संयुक्त परिवार में विकसित हुए हैं और परिवार के नए ढाँचे को परिणामतः स्वीकार करने में सहज रुचि नहीं रखते। वे न केवल भावात्मक स्तर पर असंतुलित होते हैं बल्कि अधिक मामलों में कई कारणों से स्वयं कमाने में असमर्थ होने के कारण आर्थिक दृष्टि से उपेक्षित होते हैं। इस प्रकार वयोवृद्धों में व्यापक पैमाने पर परिणामित कुण्ठा उन समाजों में संघर्षों के प्रधान कारणों में एक प्रधान कारण है जहाँ संयुक्त परिवार से प्रत्यक्ष परिवार की ओर संक्रमण प्रारम्भ हुआ है। संघर्ष को कम करने में विद्यालय का दायित्व स्पष्ट ही है। इसे चाहिए कि वह बालकों और किशोरों को परिवार के परिवर्तित ढाँचे के कारणों एवं महत्व को समझाए और उन्हें भिन्न पारिवारिक मूल्यों में पले हुए बूढ़े लोगों की जरूरतों और प्रवृत्तियों से सहानुभूति रखने की शिक्षा दे। यह बूढ़े लोगों को नियंत्रित करके और नगरीकरण के परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष परिवारों की अनिवार्यता को उन्हें समझाकर उचित कार्य कर सकता है, जिससे वे अपनी कठोरता से ऊपर उठ सकें और युवकों के मार्ग को सहनशीलता-पूर्वक ग्रहण कर सकें।

परिवार के भविष्य पर अनेक चिन्तन किए गए हैं। कुछ का तो यहाँ तक कथन है कि परिवार सामाजिक अन्तरक्रिया की इकाई के रूप में विलुप्त हो जाएगा। लेकिन मानव-परिस्थिति की स्थिर व्याख्या इस परिणाम को स्वीकार नहीं करती। क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि अभिभावकीय मूल-प्रवृत्तियों

से संचालित मानव-सम्बन्ध एवं भावात्मक उष्णता के आमने-सामने, परिवार आरम्भिक समूह के रूप में बने रहेंगे। नया परिवार प्रत्यक्ष परिवार के रूप में बना रहेगा, संगोत्र परिवार की अपेक्षा अधिक प्रजातांत्रिक होगा। इसमें विश्वास करना अत्यावश्यक है कि सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रियाएँ इस आरम्भिक समूह में और सहयोग के आरम्भिक सामूहिक मूल्यों में बने रहेंगे और शैक्षिक और सांस्कृतिक अभिकरणों के माध्यम से प्रभावित प्रेम समायोजनों के रूप में गहन होगा।

२. चर्च

मानव सम्यता की आरम्भिक अवस्था में मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक जरूरतों के परिणामस्वरूप चर्च का अम्युदय हुआ। सामूहिक इकट्ठ के लिए एक सामान्य मंच प्रस्तुत करते हुए, इसकी शुरुआत हुई। इस प्रकार अत्यावश्यक संवेदनात्मक उष्णता प्रदान करते हुए अलगाव के भय को न्यून किया गया। इसने कर्मकाण्डों के माध्यम से अज्ञेय रहस्यात्मक या ईश्वर या देवताओं के साथ सामूहिक स्तर पर विचार-विनिमय का मार्ग प्रस्तुत किया। इसने नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के ग्रहण एवं पोषण के माध्यम से सामाजिक नियंत्रण के एक अभिकरण के रूप में सेवा की है। लेकिन चर्च के इतिहास से सम्पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि इसके अन्तर्गत मूलभूत संवेदना शीघ्र ही समाप्त हो गई और चर्च कृत्रिम धर्म में पतित हो गया; जिसने न केवल संकीर्ण वर्गीय रुचियों को ही बढ़ाया, बल्कि समाज में पाशविक हिंसा के सभी नमूनों को खुल्लमखुल्ला प्रश्रय दिया। यहाँ तक कि लोक स्वर के विरुद्ध युद्ध-पिपासु के रूप में चर्च की भूमिका यूरोपीय इतिहास के छात्रों को अच्छी तरह से विदित है। कुछ लोगों ने अपने हाथ में इसे व्यक्तिगत शक्ति और महत्वाकांक्षाओं के रूप में प्रयुक्त किया। जहाँ इससे राजनीति का गठबन्धन हुआ, धर्म के नाम पर इससे समाज में अनेक अभिजाततंत्रों को गति मिली है।

शिक्षा के क्षेत्र में संस्थागत धर्मों ने साम्प्रदायिक संस्थाओं को जन्म दिया है, जो व्यापक रूप से, वर्गीय प्रवृत्तियों को फैलाने के लिए जिम्मेदार है। जहाँ राज्य चर्च द्वारा नियंत्रित रहे हैं, अपने ढंग की शिक्षा देने के लिए न केवल साम्प्रदायिक

१. चर्च का अर्थ यहाँ ईसाइयत के अतिरिक्त दूसरे धर्मों की समान संस्थाओं को भी शामिल करता है।

संस्थाओं के अधिकार पर निर्विरोध शासन ही रहे, बल्कि ये संस्थाएँ राज्य-कोष पर भी पूर्णरूप से नियंत्रण रखती थीं।

विज्ञान और यांत्रिकीय सम्यता के आगमन के साथ मानव-विज्ञान के उत्थान में नया अध्याय प्रारम्भ हुआ जिससे चर्च निस्तारण की एक क्रमिक प्रक्रिया से गुजर गया है। यहाँ तक कि धार्मिक जीवन का मार्ग, एक या दूसरी व्यवस्था के साम्प्रदायिक धर्म के मार्ग के विपरीत, जीवन की वैज्ञानिक शैली से बराबरी करने में कठिनाई का सामना कर रहा है। इससे भी अधिक, बहुत से आधुनिक राज्यों ने धर्मनिरपेक्ष होने के कारण धर्म के उत्तरदायित्व को राज्य से हटाकर व्यक्ति पर छोड़ दिया है। इन राज्यों द्वारा संचालित विद्यालयों में अब धार्मिक निर्देश नहीं दिए जाते। वास्तव में आधुनिक समाज में धार्मिक निर्देश का स्थान सामाजिक योजना की नई तकनीकों ने ग्रहण कर लिया है। सामाजिक और नैतिक मूल्य आज अ धार्मिक संस्थाओं के माध्यम से उपदेशित किए जा रहे हैं, जैसे, विद्यालय, चल-चित्र, रेडियो, क्रीड़ा क्रिया-कलाप, युवक संगठन, स्काउटिंग, कैडेट कोर आदि। वे केवल मात्र सामाजिक और नैतिक मूल्य ही हैं, जो किसी भी धार्मिक तत्त्व से परे हैं।

किसी तरह चर्च के पतन के प्रभाव से शिक्षा के लिए एक विवादास्पद समस्या उत्पन्न हो गई है। और वह यह है कि सामाजिक प्रक्रिया के रूप में, क्या शिक्षा को धार्मिक सम्भावनाओं पर बिलकुल आश्रित नहीं होना चाहिए? चिन्तन-शील लोगों में अधिकतर इस बात पर सहमति रही है कि संस्थागत धर्म और साम्प्रदायिक रूढ़ियों का शिक्षा में कोई स्थान नहीं है। परन्तु इसके बावजूद भी एक खुला प्रश्न है कि क्या आध्यात्मिक और सांस्कृतिक शक्ति के रूप में धर्म को शैक्षिक प्रक्रिया के साथ संगठित किया जा सकता है। यथार्थ ढंग से विद्यालय जाने वाले बालकों के लिए विभिन्न धर्मों की व्यापक शिक्षाओं का आरम्भिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिए और विश्वविद्यालय स्तर पर तुलनात्मक अध्ययन के लिए स्थान निर्धारित करना चाहिए। इन सैद्धान्तिक अध्ययनों के अतिरिक्त व्यापक धार्मिक वातावरण और समकालीन तकनीकों के माध्यम से शिक्षार्थियों के विकासमान व्यक्तित्वों में विद्यालय के द्वारा प्रेम, सहनशीलता और बलिदान के धार्मिक घटकों को मिश्रित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

३. बालकों और युवकों के सामूहिक क्रियाकलाप

शिक्षा के वास्तविक अभिकरणों के रूप में बालकों और युवकों के सामूहिक

क्रियाकलाप परिवार के बाद महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वे परिवार के सदस्यों के हस्तक्षेप के बिना बालकों एवं युवकों के खेल एवं अन्य सामान्य रुचियों के विषय से सम्बन्धित स्वतःचालित समुदाय हैं। समूह के अन्तर्गत ही प्रत्येक सदस्य का कार्य नेता या अनुगामी के रूप में निर्धारित होता है। सहयोग और विरोध की सामाजिक प्रक्रियाएँ अन्य मानवीय समूहों की भाँति इन समूहों में उसी प्रकार की होती हैं। समायोजन की सामाजिक प्रक्रिया की गति में, सदस्य विशेषतः बालक, धमकियों या उत्पीड़न या स्वेच्छा के कारण एक समूह से दूसरे समूह में चले जाते हैं।

जहाँ किसी परिवार की सामाजिक पकड़ ढीली होती है, युवक सदस्य सामूहिक क्रियाकलाप के बढ़ते प्रभाव के अन्तर्गत शीघ्र ही आ जाते हैं। अभिभावकों में या अन्य सदस्यों में पारस्परिक संघर्ष, युवकों के प्रति प्रौढ़ सदस्यों की उदासीनता, भीड़ भरा और अव्यवस्थित परिवार, आतंकित करने वाली सौतेली माँ या इस सिलसिले में दूसरे कारण जो कुव्यवस्था, फूट और सुख की घटती की ओर ले जाते हैं, इस पतन के कारण हैं।

सामूहिक क्रियाकलाप अपने सदस्यों के बीच 'हम सहानुभूति' को विकसित करते हैं। वे खेल के माध्यम से, सामाजिक सहभागिता में मदद, सदस्यों को अपना सामाजिक कार्य पाने में सहायता और सामाजिक जानकारी को सुविधाजनक बनाने और रचनात्मक कार्य करने और आत्मनिर्भरता के लिए अवसर प्रदान करते हैं। वे सामाजिक मार्गों की ओर निर्देशित एवं शक्ति को मुक्त करके व्यक्तियों पर अत्यधिक संतोषजनक और सामाजीकारक प्रभाव डालते हैं।

सामूहिक क्रियाकलाप के चार प्रकार हैं: (१) अस्थायी क्रीड़ा-समूह, (२) संगठित समूह और गुट, (३) टोली और (४) युवक समूह सदस्यता। संगठित, स्थायित्व, स्वतःचालकता और प्रभाव के तौर-तरीकों में उनमें से प्रत्येक का अपना अलग-अलग अस्तित्व एवं स्वभाव है।

१. अस्थायी क्रीड़ा-समूह—खेलने एवं आनंद पाने के लिए पड़ोस में रहने वाले बालक घर से बाहर साथ खेलने की एक इच्छा रखते हैं। जब वे एकत्र होते हैं, वे अपने-आप क्रीड़ा-समूहों का निर्माण कर लेते हैं। सर्वप्रथम जिस क्रीड़ा-समूह में एक बालक भाग लेता है, चुनाव की अपेक्षा संयोग का विषय होता है। अरम्भिक बचपन में समूहों के चुनाव में जाति, रंग, धर्म या यौन का विचार सामान्यतः दखल नहीं रखता। लेकिन लगभग नौ वर्ष की आयु के बालक धर्म, जाति, यौन, रुचियों और मनोवृत्तियों के विषय में अधिक चयनात्मक होते हैं। ये समूह काल्पनिक रूप से

अनेक मानवीय दृश्यों, क्रियाकलापों, खेलों, नाटकों का संगठन करते हैं। अभिनीत भूमिकाएँ सामान्यतया वे ही उच्च हैं, जो बच्चों की समझ के अनुसार प्रतिष्ठा-युक्त हैं। इन क्रीड़ापूर्ण क्रियाकलापों के माध्यम से वे अचेतन रूप से जीवन की अधिक गम्भीर दायित्व-भावना का पूर्वाभिनय करते हैं। आरम्भिक अवस्था में, क्रिया या क्रीड़ा की प्रेरणा, इन समूहों का आधार होती है। लेकिन एक बार अस्तित्व पा लेने पर वे विशिष्ट क्रीड़ा या क्रियाकलाप से विमुक्त कुछ अधिक स्थायी स्वभाव की माँग करते हैं। तब समूह स्वयं अनेकानेक कार्यों के सम्बन्ध में सोचता है और योजना बनाता है।

क्रीड़ा-समूह बालकों के सामाजीकरण के लिए एक सशक्त माध्यम है—उन्हें आत्म-केन्द्रित जीवन से व्यापकतर सामाजिक जीवन की ओर ले जाता है। यहाँ बालकों की सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति एवं समायोजन के अभीष्ट प्रयत्नों को देखा जा सकता है। संघर्ष, हिंसा और सहयोग के दृश्य साधारण लक्षण हैं। बहुधा समूह में फूट डालने एवं पर्याप्त रूप से सदस्यों पर विजय पाने के लिए प्रयत्न किए जाते हैं। अक्सर यह उन लोगों के द्वारा किया जाता है जिन्हें नेतृत्व के अवसर प्राप्त नहीं होते और परिणामतः कुण्ठित हो जाते हैं या उनके द्वारा जो उन साथियों से विद्वेष करते हैं जिनसे उनका झगड़ा हो चुका है। नेतृत्व के लिए संघर्ष, सहयोग और आत्म-घोषणा की इन सामाजिक प्रक्रियाओं से कुछ सहायक सामूहिक मूल्य उत्पन्न हुए हैं, जैसे टोली-भावना, सहयोग, सहनशीलता और नेतृत्व।

२. संगठित समूह या गुट—गुट आरम्भिक समूह है जहाँ सदस्य आमने-सामने मिलते हैं तथा जिनका सर्वसामान्य स्वार्थ है और समाज की तुलना में अपनी एकता की अधिक तीव्र चेतना रखते हैं। स्वाभाविक क्रीड़ा-समूहों अथवा अन्य कारणों से विकसित होकर ये समाज-विरोधी क्रियाकलापों को क्रियान्वित करने के लिए अधिक संगठित समूह के रूप में विकसित हो जाते हैं, जैसे जुआ खेलना, चोरी, या लूटमार करना, गलियों में लोगों को संत्रस्त करना, लड़कियों को छेड़ना, आवारागर्दी करना, संक्षेप में, अवैधानिक क्रियाकलापों में प्रवृत्त होना। इन समूहों के सदस्यों की आयु आठ से बीस तक होती है। लेकिन यदि गुट का कोई उद्देश्य सिद्ध होता हो तो इसमें कम उम्रवाले बालकों एवं अधिकतर प्रौढ़ आयु-समूह के बालकों को भी स्वतंत्रतापूर्वक प्रवेश मिल सकता है। यद्यपि गुटवाद लगभग किशोरपन की एक घटना है, फिर भी यह विशिष्ट परिस्थितियों में प्रौढ़ावस्था के बालकों में भी पाया जाता है।

इस प्रकार के समूह अधिकतर लड़कों के ही होते हैं परन्तु कुछ स्थितियों में लड़के और लड़कियों दोनों के भी होते हैं परन्तु सिर्फ लड़कियों के मुश्किल से मिलते हैं। सांस्कृतिक ढाँचे और परम्परा का भार लड़कियों के गुटों के संगठन की संभावना को कम कर देता है। व्यापक रूप से कहें तो इस गुट में शामिल होने वाले कुव्यवस्थित व्यक्ति होते हैं जो किसी कारण से समाज से बदला लेना चाहते हैं और उससे रुग्ण-आनन्द (morbid pleasure) प्राप्त करते हैं। इसी से पता चलता है कि क्यों ये गुट ऐसे अभिप्राय के साथ क्रिया करते हैं, जो उनकी एकता एवं उच्च नैतिकता को बनाए रखता है। वे सामान्यतः साहसपूर्ण नेतृत्व एवं एकता की उच्च श्रेणी से युक्त होते हैं। इन समूहों के सदस्य न केवल साहसिक अंतान ही होते हैं, बल्कि उच्चस्तरीय बुद्धि-लब्धि (I.Q.) से युक्त होते हैं। अपनी अन्तिम अवस्था में गुट रूढ़िमूलक हो जाते हैं, और सामाजिक गोष्ठियों के भुलावे में अच्छी प्रकार समाज-विरोधी क्रियाकलाप कर सकते हैं। सामान्यतः गुट स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं, किन्तु अक्सर वे अपने कामों की पूर्ति के लिए घूस देने वाले लोगों एवं राजनीतिक दलों को अपनी सेवाएँ अर्पित कर देते हैं।

ऐसे अन्यत्र इस प्रकार के गुट विद्यालय एवं कालेजों में भी देखे जा सकते हैं। अध्ययन के साथ कुव्यवस्थित परिवार से आकर, या संस्थाओं में समायोजित होने में असफल होकर पिछड़ेपन के अन्य कारणों से कुछ थोड़े से गुटबाज छात्र व्यापक मासूम बहुमत पर शासन करते हैं। वे निरंतर अधिकारियों के लिए सिर-दर्द होते हैं। क्योंकि वे स्वयं या बाह्य तत्त्वों की सहायता से हमेशा शान्तिपूर्ण संघ-ठन को नष्ट कर देते हैं। गुटवाद एक मुख्य सामाजिक रोग है जो किसी भी सामाजिक रोग की तरह, शक्ति और दण्ड की अपेक्षा मानवीय, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पद्धतियों से सफलतापूर्वक रोका जा सकता है। प्रथमतः यह समझना अनिवार्य है कि आक्रमण और कानून भंग करने के लिए अपराधियों की जरूरतें और प्रेरणाएँ जन्मजात नहीं, बल्कि सामाजिकतया उपलब्ध की गई हैं। वे निश्चित स्थितियों में उत्पन्न होती हैं, जिन्हें नियंत्रित किया जा सकता था, लेकिन नियंत्रित नहीं किया गया। उन्हें सुव्यवस्थित एवं निरीक्षित प्रतिकूल सामाजिक स्थितियों को प्रस्तुत करके उनका निदान किया जा सकता है। गुटवाद का इलाज पाने के पंहुले उन कारणों को पाना आवश्यक है जो अपराधियों को गुट की ओर आकर्षित करते हैं।

अधिकतर परिवार में तनावों एवं संघर्षों का होना ही सामान्य कारण है। जब सामाजिक स्थिति और मानसिक पीड़ा असह्य हो जाती है तो अधिक संदेहा-

स्पष्ट बालक और युवक समाज से बदला लेने के लिए और तनाव से मुक्ति पाने के लिए तरह-तरह के गुटों की ओर आकर्षित होते हैं। इस सम्बन्ध में अचेतन द्वारा अभिनीत भूमिका दूसरे अध्ययन से सम्बन्धित है। अन्य बातों में, परिवार में संघर्ष एवं तनाव, प्रजातांत्रिक परिवार के विपरीत अधिकारी मूलक ढाँचे के कारण, निम्न आर्थिक आय, अतिरिक्त भीड़, मनोरंजक अवसरों का अभाव, युवक और बालकों की मनःस्थिति को अमान्यता, उनके प्रति उदासीनता और सांस्कृतिक अनुदृश्य को ग्रहण करने में निम्न सामाजिक बुद्धि आदि अनेक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से पता चला है कि स्नेहशील बालक और युवक—जिनको अभिभावकों से दूर रहने की लम्बी पीड़ा सहनी पड़ती है, विशेषकर माँ से मात्र—हताश या कुष्ठित हो गुट में जा मिले हैं। दूसरे मामलों में बिना आर्थिक प्रचुरता या असुरक्षा के आन्तरिक बोध सहायक कारण हो सकते हैं। गुट हीनता या क्षतिपूर्ति के साधन के रूप में भी निर्मित किए गए हैं।

जनसंख्या के घनत्व और अपराध के बीच भी घनिष्ठ परस्पर सम्बन्ध पाया गया है। असन्तोषकर रोजगार, निम्न रोजगार या बेरोजगारी कुछ दूसरे प्रमुख कारण हैं। अध्ययनों से पता चलता है कि व्यावसायिक अव्यवस्थाएँ गुट की श्रेणियों को अत्यधिक बढ़ावा देती हैं। और भी, प्रतिष्ठा-मूलक समाज में व्यापक सामाजिक और आर्थिक अव्यवस्थाएँ संवेदनशील आत्माओं पर विघटनात्मक प्रभाव डालती हैं जो, यदि वे इस स्थिति से गंभीरतापूर्वक सुनियोजित नहीं कर पाते, गुट-वाद के माध्यम से अपने प्रति किए गए गलत व्यवहार के निवारण खोजने का प्रयत्न करते हैं।

इलाज स्वयं अपना संकेत देते हैं। सामान्य शब्दों में, मानसिक स्वास्थ्य की उच्च व्यवस्था से सुसंगठित परिवार एवं समाज अपराध के संयोग के विपरीत सुनिश्चित नियंत्रण है। समाज का समान सामाजिक आर्थिक ढाँचा जो लाभप्रद रोजगार एवं आत्माविव्यक्ति का आशाप्रद मार्ग प्रस्तुत करता है, अपराध को न्यून करता है। लोगों को, अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा, अपने सामाजिक ढाँचे, एवं अपने समाहित स्थान के प्रति सचेत रखने की जरूरत है, जिससे वे सामाजिक प्रयोजन और सामाजिक दायित्व के साथ कार्य सम्पन्न कर सकें। अमानवीय व्यवहार के प्रति अवरोधक के रूप में, उन्हें सामाजिकतया जीवन के अधिक फलदायक अनुभवों को प्रस्तुत किया जाना चाहिए। रुचियों की व्यापक श्रेणी को समाहित करते हुए बाल-क्लब और युवक-संगठन, विस्फोटक शक्तियों को सामाजिक मार्गों में लाने के लिए सहायक साधन हैं।

प्रशिक्षित कर्मचारियों, जैसे मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कार्यकर्ताओं की अत्यधिक आवश्यकता है जिससे विविध समस्याओं को विशेषज्ञ की विधि से समझा जा सके। बाल निर्देशन निदानिकाएँ, परिवारों, मनोविश्लेषणकों एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं के आगमन और अभिभावकों से बाल-व्यवहार की विशिष्ट समस्याओं पर विचार-विमर्श करना, पहले ही से सहायक सिद्ध हो रहे हैं। बाल न्यायालय एवं सुधारालय से सम्बद्ध बालनिर्देशन-निदानिकाएँ अपराध-विज्ञान के क्षेत्र में कठोर कारावास एवं श्रम की प्राचीन पद्धतियों का स्थान ग्रहण कर चुकी हैं।

इस सम्बन्ध में विद्यालय का कार्य कम या अधिक अन्य सामाजिक अभिकरणों के बराबर होता है। निम्नलिखित संकेत किए जा सकते हैं :—

(१) सामाजिक समस्याओं में विशेषज्ञ सलाह और निर्देश के लिए और व्यक्तिगत मामलों से व्यवहार करने के लिए विद्यालयों एवं कालेजों के कर्मचारी संघ में सामाजिक मनोवैज्ञानिकों की व्यवस्था।

(२) सामाजिक समस्याओं में शिक्षकों की प्रशिक्षा जिससे वे समस्या-बालकों एवं किशोरों के साथ सामाजिक अन्तर-दृष्टि, सहानुभूति और कौशल से व्यवहार कर सकें।

(३) अपराध की समस्या पर शिक्षकों, अभिभावकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं का सम्मिलित रूप में विचार-विमर्श।

(४) विद्यालय में प्रबुद्ध अनुशासन, आत्मशासन और क्रीड़ा-क्रियाकलाप में बालकों को मान्यता देना और उन्हें अतिरिक्त स्वतंत्रता देना।

(५) विविध रुचियों की तुष्टि के लिए क्रीड़ा और मनोरंजक क्रियाकलापों की व्यापक विविधता की व्यवस्था करना, जिससे बालकों की शक्तियाँ संघटित मार्गों में निर्देशित की जा सकें।

(६) पिछड़े बालकों की शिक्षा के लिए विशिष्ट व्यवस्था।

(७) कक्षाओं या विद्यालय में अतिरिक्त भीड़ से बचाव।

(८) समुदाय, व्यापारिक या औद्योगिक संस्थाओं में अंशकालिक रोजगार या विद्यालय में दस्तकारी के माध्यम से जरूरतमन्द बालकों की सहायता करना। इससे उनमें आत्म-विश्वास और सुरक्षा की अत्यधिक वांछनीयमात्रा उत्पन्न हो जाती है।

(९) बालकों एवं युवकों को नेतृत्व की शिक्षा देना।

(१०) अत्यधिक संख्या में सहयोगी योजनाओं का संगठन करना।

३. टोलियाँ—गुटों की तुलना में टोलियाँ लघुतर समूह को कहते हैं।

साधारणतया इसकी संख्या तीन या चार तक सीमित रहती है। सदस्यों में गहरी अंतरंगता और सुदृढ़तर हम-अनुभूति की भावना रहती है। इनकी प्रवृत्तियाँ और मूल्य समान होते हैं। वे एक साथ होते हैं और प्रतियोगी टोली से दौंव-पेंच लगाते हैं। प्रतियोगी टोली को नीचा दिखाने के लिए वे अफवाहें तथा कथाएँ गढ़ते हैं। लघुतर संख्या में होने के कारण उनका भय कपट-योगों को गुप्त रूप से क्रियान्वित करने एवं सूक्ष्म पद्धतियों को अपनाने के लिए बाध्य करता है। कथानियाँ और चुगली करना उनकी मूल सम्पत्ति है और यदि इस सम्बन्ध में शिक्षक ने सहानुभूति प्रदर्शित की तो वे बहुत उत्साहित होते हैं। जैसे राजनीति और अन्य मानवीय क्रियाकलापों में, उसी प्रकार विद्यालयों में सभी प्रधान समूहों में गुट का अस्तित्व होता है—जैसे कक्षाओं और स्काउट समूहों में। जाति एवं वर्गमूलक समाज में सदस्यों का बहुमत उसी जाति से सम्बन्धित होता है।

दूसरों का अविश्वास और भय साथ ही अयोग्यता बोध एवं जीवन में स्वस्थ रूचियों का अभाव गुट संगठन को प्रेरित करता है। वे दिन में देर तक बैठे हुए पाए जा सकते हैं, या रात की कार्यनीति की योजना करते रहते हैं, इस प्रकार अपने अभिप्राय एवं योग्यता के कुस्थानान्तरण से सन्तोष प्राप्त करते हैं। उनको जीवन में अन्तर्दृष्टि पाने के लिए उनकी मदद करना उन्हें उनकी माँदों से निकालकर व्यापक समूह से जोड़ना और उनमें स्वस्थ रूचियों एवं दृष्टिकोण को विकसित करना शिक्षक का कार्य है।

उपरोक्त विवेचित अभिकरण, जैसे क्रीड़ा-समूह, गुट और टोलियाँ आरम्भिक संगठन कहे जाते हैं, क्योंकि वे बिना बाह्य निरीक्षण या निर्देश के विकसित होते हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे अभिकरण भी हैं, जो प्रशिक्षित कर्मचारियों द्वारा संगठित किए गए हैं, और जो सामाजिकतया क्रियाकलापों के सुविचारपूर्ण कार्यक्रम का अनुगमन करते हैं। ऐसे संस्थान मध्य प्रकार के संगठन कहलाते हैं। इस प्रकार की श्रेणी से युवक समूह-सदस्यता का सम्बन्ध है।

४. युवक समूह सदस्यता—युवक समूह सदस्यता का इतिहास किंचित विचारणीय है। उनकी शुरुआत गुटों के क्रियाकलापों को रोकने और अपराध की सामाजिक बुराई से निपटने के लिए हुई थी। अब तक ये संगठित एवं सामाजिकतया उत्तरदायी व्यक्तियों को विकसित करने का कार्यक्रम बना चुके हैं, जिसके फलस्वरूप समाज के मानसिक स्वास्थ्य एवं क्षमता समुन्नत हुए हैं। कुछ ग्रुप्स जैसे, बाई० एम० सी० ए० और वाई० डब्ल्यू० सी० ए० आदि की सभी देशों में अपनी-अपनी शाखाएँ हैं, दूसरी राष्ट्रीय या स्थानीय सीमाओं तक सीमित हैं। बाल स्काउट,

बाल-गाइड्स, रेडक्रास, युवक-कल्याण समुदाय, पुरुष और स्त्रियों के विविध समुदाय, हार्डकिंग, पर्वतारोहण और तैराकी क्लबों को सम्मिलित करते हुए कुछ युवक-सेवा संगठन हैं, जो हर जगह एक या दूसरे नाम से बने हुए हैं। कुछ सम्प्रदायवादी या वर्गीय संगठन हैं जो कार्य में कम नाम से ज्यादा, जैसे वाई० एम० सी० ए०; जबकि दूसरे संगठन समुदाय या राज्य द्वारा संगठित किए गए हैं। हमारे देश में युवक कल्याण का विभाग युवक-कल्याण एवं नेतृत्व के लिए कैम्पों का संगठन करते हैं और जहाँ तक सम्भव हो आर्थिक सहायता से युक्त संगठनों, युवक कैम्पों एवं युवकों के लिए अवकाश-गृहों की स्थापना करने में सहायक होते हैं।

प्रत्येक युवक संगठन का अपना एक कार्यक्रम होता है, जिस पर भी उनमें सर्व-सामान्य सिद्धान्त क्रियाशील रहता है। और वह है, क्रीड़ा और मनोरंजक क्रिया-कलापों के माध्यम से किशोरों की आत्माभिव्यक्ति खोजना, उन्हें स्वास्थ्यकारक दृष्टि से व्यक्त रखना, उनकी रुचियों एवं सहानुभूतियों को विस्तृत करना, उनका समाजीकरण करना और उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को समुन्नत करना। युवक नेता और सामाजिक कार्यकर्ता निश्चय ही अस्वस्थ प्रतियोगी प्रवृत्तियों, सीमित और कठोर निष्ठाओं के प्रति सचेत रहे। सामाजिक संयम और अनुशासन-बोध को नियंत्रित करने के लिए अनिवार्य सुविचारपूर्ण नियमों एवं संयमों के अन्तर्गत सदस्यों को रचनात्मकता एवं उनके व्यक्तित्वों के स्वस्थ विकास के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता होनी चाहिए।

सहायक पुस्तकें :—

1. Youth Centres—An Appraisal and a Look Ahead, Federal Security Agency, Washington, D. C.
2. Conrad H. Mochlman : School and Church, Harper and Brothers, New York.
3. F. Shiart Chapin : Cultural Change, D. Appleton-Century Company.
4. Hart, Hornell and Hart, E. B. : Personality and the Family, D. C. Heath & Co., Boston.

विद्यालय

(सामाजिक नियंत्रण का एक सक्रिय एवं सुव्यवस्थित अभिकरण)

“शिक्षक स्वयं को जितनी जल्दी हो सके छात्र के लिए अवश्य ही अनुपयोगी बना लें।”
—एक ग्रीक कहावत।

विद्यालय, राज्य के एक संगठित संस्था के रूप में, शिष्यों के व्यक्तित्व के निर्माण में एवं उनके व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए विशिष्ट स्थान रखता है। यह लघु समाज है जिसमें सामाजिक अन्तरक्रिया की प्रक्रिया बुद्धिमत्ता पूर्वक नियंत्रित एवं निर्देशित की जा सकती है। विद्यालय की वृहत सामाजिक और शैक्षिक संभावनाएँ सभी युगों में स्वीकार की गई हैं और इसलिए प्रबुद्ध समाज इसे प्रथम दर्जे की चालू संस्था बनाने के लिए धन और जन दोनों की परवाह नहीं करता। अक्सर विद्यालय राजनीतिज्ञों और सरकारों के कठपुतले रहे हैं; उसी शिक्षण को इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही उपयोग किया गया है। यह प्रजातंत्र प्रशासन की अपेक्षा तानाशाही शासनों में अधिक होता है। यह समाज की जटिल समस्या से निपटने के लिए, विद्यालय को वृद्धिमूलक उत्तरदायित्व को अग्रभाग में ले आता है। एक ओर, विद्यालय समाज का अंश होने से उसके कार्य एवं सांस्कृतिक ढाँचे तथा मूल्यों को आलोचनात्मक रूप से समझने का प्रयास करता है और उन्हें शिष्यों तक प्रेषित करता है तो दूसरी ओर, इसका कार्य दूसरे समाज के सांस्कृतिक ढाँचों में एवं रहन-सहन में लाभप्रद प्रयोग करता है, और अन्ततः इससे समाज को बदलता है। इस प्रकार विद्यालय प्रथम निजी सीमाओं के अन्तर्गत और द्वितीय समाज के साथ अन्तरक्रिया के एक अभिकरण के रूप में हमारे सामने आता है। यदि अभी निश्चित ढंग से कहा जाए तो अन्तरक्रिया की प्रक्रिया कोमल और जटिल है और व्यक्तित्व के सम्यक् विकास तथा संतुलित एवं पर्याप्त सामाजिक विकास के लिए इसे सावधानी से ग्रहण करने की जरूरत है। समाज में यह एक उच्च संघटन का संकेत है। जब इसके और विद्यालय के बीच सामरस्य हो और दोनों ही सामाजिक प्रक्रिया के निर्विघ्न विकास के लिए सहयोग

एवं बुद्धिमत्तापूर्वक योग देते हों। इस प्रकार सीखने की प्रक्रिया से समाज का सांस्कृतिक ढाँचा विद्यालय में अपना मार्ग खोज लेता है जैसे ही विद्यालय की शैक्षिक शक्तियाँ सामाजिक नियंत्रण और परिवर्तन पर सक्रिय प्रभाव डालती हैं। यह तभी सम्भव है जब समुदाय का सांस्कृतिक ढाँचा विद्यालय में प्रत्यक्ष से अपना प्रतिबिम्ब प्राप्त करता हो, नम्य एवं आत्मसातकारी हो। रूढ़िपरक समाज केवल विशाल में संकीर्ण दृष्टिकोण ही रख सकता है जो आसानी से नये प्रभावों को स्वीकार नहीं करता। फिर भी यह सम्भव है कि संघर्ष-मूलक एवं पतनोन्मुख संस्कृति में विद्यालय यदि अपना सामरस्य बनाए रख सकता है, तो समाज को पुनः संघटित करने में एक बड़ी शक्ति सिद्ध हो सकता है। शिक्षा में वह तार्किक अकादमिक स्वातंत्र्य के लिए सुदृढ़ उदाहरण बन सकता है। इस बात की प्रशंसा प्रत्येक स्थान में की जायेगी कि सामाजिक प्रक्रिया का भाग्य सार्थक अर्थ में विद्यालय में लाए गए व्यक्तित्वों के संगठन पर ही निर्भर करता है।

विद्यालय और कक्षा-भवन के सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर ही व्यक्तित्व और समूहों का विकास होता है। विद्यालय एक छोटी सी इकाई है, जो पाठ्यक्रम और पाठ्यक्रम से इतर क्रियाओं के माध्यम से विभिन्न और सामाजिक सम्बन्धों एवं अध्ययन के लिए अवसर प्रदान करता है। निम्नलिखित उद्धरण से इस बात की पुष्टि हो जाती है।

“विद्यालय का सामाजिक विश्व बालकों के लिए अपना जगत है। यह सामाजिक भूमिकाओं को क्रियान्वित करता है, जैसे बढ़ता की प्रक्रियाएँ; तादात्म्यीकरण, सामूहिक क्रिया और अन्तरक्रिया जो बालक के सामाजिक विकास के लिए आरम्भिक साधन हैं। सामाजिक जानकारी जो सम्पन्न समूह के लगाव से अनुप्राणित होती है, लोगों के साथ व्यवहार करने के कौशल हैं। सामाजिक प्रक्रिया की प्रकृति में पैठ रखने, उद्देश्यों के प्रति सम्वेदनशीलता और दूसरों की अनुभूतियों को सम्मिलित कर सकती है। इस प्रकार की जानकारी एवं शिक्षा बालकों को प्रौढ़ बनाती है। वे उस समाज के एक विकासक्रम का निर्माण करते हैं जो आरम्भिक विद्यालय समकक्षियों के समाज से किशोर समकक्षियों के एक समाज तक और अन्त में प्रौढ़ों की अगली पीढ़ी में प्रवेश करने वाली प्रत्येक विद्यालयीय पीढ़ी के द्वारा निर्मित किए गए हैं।”

१. Staff, Division on child Development and Teacher Personnel, Commission on Teacher Education : Helping Teachers Understand Children, p. 279, Washington, D. C., American Council of Education, 1945.

परिवार और क्रीड़ासमूह के बाद ही, बालकों में व्यापक दृष्टिकोण को विकसित करते हुए विद्यालय समाज की सेवा के लिए कटिबद्ध हो। विशेषज्ञ निरीक्षण और निर्देशन में सामूहिक जीवन की सुविधाएँ प्रदान करते हुए, यह उनके व्यक्तित्व के विकास को सहज बनाता है। निश्चित रूप में बालकों का व्यक्तित्व, जिस सीमा तक वे समूह से तादात्म्य अनुभव करते हैं, प्रभावित होता है और इस प्रकार सामरस्य का बोध होता है। समूहान्तर के बोध को प्राप्त करने एवं सफलतापूर्वक बालकों को निर्देशित करने में दक्ष होने के लिए उनके व्यक्तित्व में गहनतर अन्तर्दृष्टि रखना अनिवार्य है। समूहान्तर की भावना के बोध को विकसित करने में व्यक्तिगत मतभेदों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना प्रथम आवश्यक तत्त्व है। विभिन्न क्रियाकलापों में रुचि रखने वाले को उचित स्थान देना, सामूहिक जीवन में भाग लेने और समूह में भाग लेने में उनकी सहायता करना सम्भव है। लेकिन व्यक्तिगत विभिन्नता की शब्दावली को योग्यता में विभिन्नता तक सीमित नहीं करना चाहिए। यद्यपि बालकों की बुद्धिलब्धि की जानकारी शैक्षिक प्रक्रिया में अनेकों प्रकार से सहायक होती है जब सांस्कृतिक और सामाजिक अन्तरों को समान रूप से मान्यता देने में बेहतर परिणामों को प्राप्त किया जा सकता है और जिससे लाभ उठाया जा सकता है। विशिष्ट सामाजिक प्रवृत्तियों एवं मनोवृत्तियों से युक्त बालक समुदाय की विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयों से स्कूल में प्रवेश करते हैं। वे पहले से ही जीवन-यापन की पद्धति में प्रभावकारी होते हैं। शैक्षिक कार्यक्रम में इसका उपयोग करने के लिए शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह बालक की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को अवश्य समझने का प्रयत्न करे जब कि घर से अर्जित अवांछनीय सामाजिक प्रवृत्तियों के प्रभाव को दुरुस्त करने में अध्यापक को अत्यधिक कष्ट उठाना पड़े तो दूसरी ओर वह बालक के पूर्वार्जित स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्तियों के सुसंगठन में योग दे सकता है। यह शिक्षक को अन्व शैक्षिक क्रियाकलापों से और निवारणीय अन्तर-व्यक्तिगत एवं अन्तर-सामूहिक संघर्षों से अधिकांश संख्या में मुक्ति दिलाता है। वह विद्यालय और परिवार के अन्तर को भी पाटता है। बालकों को जीवन और परिवार की समस्याओं से असम्बन्धित जानकारी एवं अनुभवों के साथ घरवापस भेजना एक बात है, अभी अपने पारिवारिक समस्याओं एवं विद्यालयीय जीवन के उद्देश्यों से गहनतम जानकारी करवा कर उन्हें वापस घर भेजना दूसरी बात है। प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति बालक के मन में दो पारस्परिक असंगत जगतों के आधार पर संघर्ष उत्पन्न कर देती है अथवा वह सामाजिक जीवन में कुव्यवस्थित होने का खतरा मोल लेता है। द्वितीय प्रकार की प्रवृत्ति उसे परिवार एवं विद्यालय

में सामाजिक सम्बन्धों को उन्नत करने एवं उनसे समायोजन स्थापन करने के लिए संघर्ष करने की योग्यता और उत्साह और सामाजिक परिस्थिति की सहानुभूति-मूलक समझ प्रदान करती है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह विद्यालय का एक प्रधान कार्य है कि वह सामाजिक जीवन में संघर्षों एवं तनाव को कम करे और सामाजिक सम्बन्धों को उन्नत करे।

सांस्कृतिक अन्तरो के विस्तृत शीर्षक के अन्तर्गत शिक्षक के लिए अनिवार्य है कि वह पहले परिवार के वैषम्य पर ध्यान दे। प्रत्येक परिवार की अपनी निजी सामाजिक वातावरण, सामाजिक और आर्थिक स्थिति, धार्मिक एवं सांस्कृतिक लगाव होता है, जो विकासमान बालक के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। शब्दावली, प्रवृत्तियाँ, भोजन की आदतें, पहनावा, विचार, भाषण, निर्णय, अध्ययन और व्यवहार परिवार के कुछ आरम्भिक अभिग्रहण होते हैं। इस तरह की प्राप्त प्रवृत्तियाँ सामाजिक तथा वांछनीय या अवांछनीय अपर्याप्त या साधारण अत्यधिक हो सकती हैं। शिक्षक को बालक की आदतों को उन्नत या सुधारने के लिए योजना एवं अन्य साधनों को ज़रूरत के अनुसार उपयोग में लाना आवश्यक है।

सांस्कृतिक विभिन्नता में उत्तरदायी दूसरा पक्ष पड़ोस का प्रभाव है। क्या पड़ोस बालक को वांछनीय अनुभव प्रदान करता है ? या विपरीत ढंग से उसकी प्रवृत्तियों एवं व्यवहार के निर्माण में अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है। अच्छे पड़ोस से सम्भव है कि वह सामाजिक स्वीकृति का बोध और स्वयं में परवर्ती विश्वास और मानव सम्बन्धों में विश्वास प्राप्त कर लें। वह उच्च अभिजातीय पड़ोस के द्वारा केवल हीनता की प्रवृत्ति और समाज के प्रति परवर्ती आक्रमण का बोध ही प्राप्त कर सकता है। नैतिकता से वंचित पड़ोस द्वारा बालक अपराधी प्रवृत्तियों को आत्मसात कर सकता है। पड़ोस अपने विशिष्ट गुणों से एक दूसरे से भिन्न होते हैं। भूगोल और आर्थिक संगठन के प्रतिबन्ध के रूप में पड़ोस एक देहाती गाँव, एक औद्योगिक गाँव, एक खुला ग्रामीण पड़ोसी या सीमित नगरीय व्यवस्था से लेकर उच्चस्तरीय रूप से अतिरिक्त भीड़ भरा व औद्योगिक-कृत एक कस्बा भी हो सकता है। लोकरीतियाँ आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के आधार पर विभिन्न पड़ोसों में विभिन्न हो सकती हैं। उच्चस्तरीय रूप से प्रबुद्ध औद्योगिक एवं सुदूर

१. जहाँ कुछ कृषक परिवार एक-दूसरे से थोड़ी-थोड़ी दूरी पर अपने-अपने कृषिक्षेत्रों में बसे हुए होते हैं।

कस्वों में कृषिक्षेत्र कृषिमूलक और औद्योगिक ग्रामों की तुलना में सामाजिक सम्पर्क सामान्य होते हैं अर्थात् सुपरिचित नहीं होते।

अपने आप से मतलब रखने वाले जीवन की तुलना में लोकरीतियों और लोकाचारों पर गाँवों में कठोर सामाजिक नियंत्रण होता है। इसलिए विकासमान व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं समान रूप से योग्यता पर यह सब प्रक्रियाएँ प्रभाव डालती हैं। शिक्षक इस पृष्ठभूमि को अच्छी तरह समझे, उसकी अन्तर्दृष्टि सामाजिक सर्वेक्षणों में व्यावहारिक कार्य एवं समाजविज्ञान के आरम्भिक ज्ञान पर आधारित हो।

कक्षा एवं विद्यालय के व्यापक दृष्टिकोण को विकसित करने में अगला कदम कक्षा के भीतर और कक्षा के बाहर के कार्यों में पारस्परिक दायित्व ग्रहण करने में बालकों को उत्तरदायी बनाना है। इससे वे सामाजिकता का एक दूसरे के निकटतर आते हैं और जैसा कि डिवी संकेत करते हैं, उनमें समान-मानसिकता विकसित होती है; इस प्रकार बालक एक दूसरे को अच्छी तरह समझते हैं और अधिक विचारपूर्वक एवं नम्रता से व्यवहार करते हैं।

वे सर्वसामान्य अनुभवों एवं सामाजिक जीवन की वास्तविक सार्थकता को खोजते हैं जिससे उनकी सहयोगी प्रवृत्तियाँ और आगे सुदृढ़ हो जाती हैं। विद्यालय को बृहत् क्रियाकलापों एवं सहयोगी योजनाओं का समुचित समायोजन करना चाहिए जिससे सभी लोग एक या दूसरे सामान्य कार्य में प्रवृत्त हो सकें। शिक्षक के लिए यह देखना आवश्यक है कि अन्तर्मुखी बालक स्वयं में अकेले न बने रहें या आक्रामक बालकों द्वारा घमकाए न जायें। वह सम्बेदनशील को उत्साहित करके बाहर ले आए और सामान्य कार्यों में भाग लेने के लिए प्रेरित करें, साथ ही दूसरों का दमन करने वाले आक्रामक किस्म के विद्यार्थियों का सावधानी से नियंत्रण करे। उसके कार्य का एक मुख्य भाग पूरा हो जाता है जब वह अपने विद्यालयीय जीवन में अपने कार्यों में रुचि लेने के लिए बालकों की मदद करने में सफल रहता है, क्योंकि तभी वे सुगमता पूर्वक सामाजिक कार्यों में सम्मिलित हो सकते हैं।

व्यापक दृष्टिकोण के निर्माण में तीसरा कदम सामाजिक अन्तर्क्रिया के साधनों का प्रयोग करना है। विरोध और सहयोग के प्रचुर अवसर जो कक्षा में और विद्यालय में बने रहते हैं, सामाजिक उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। छोटे-छोटे संघर्षों को यदि उभरने दिया जाए तो कक्षा या विद्यालय के सामाजिक जीवन को खतरे में डालने के बड़े संघर्ष विकसित हो सकते हैं। छोटे-छोटे संघर्षों से

समूहों में गुटों एवं शत्रुताओं का विकास हो सकता है जो अधिक क्रूर क्रियाकलापों में सक्रिय हो सकता है। शिक्षक की ओर से जरा भी पक्षपात करने पर स्थिति बुरी हो सकती है जबकि उसका कौशल और नेतृत्व संघर्षों को स्वस्थ प्रतियोगिता एवं कल्याणकारी सहयोग में बदल सकता है। अतिरिक्त पाठ्यक्रम क्रियाकलाप जैसे खेल, क्रीड़ा, कक्षा भवन एवं विद्यालय सफाई अभियान, स्काउटिंग, रेडक्रास एवं अन्य सामाजिक सेवा के रूप विरोध का स्वस्थ दिशा में मार्गीकरण करने के लिए आजमाए हुए साधन हैं। इस प्रकार उपयुक्त उपायों से व्यवहार का दूसरी ओर उन्मुख किया जा सकता है।

शिक्षकों को न केवल छात्रों के बीच संघर्ष पर ही ध्यान देना चाहिए बल्कि उन्हें शिक्षक-शिष्य संघर्ष पर भी ध्यान देना चाहिए। एक तानाशाही मनोवृत्ति का शिक्षक अपनी कौशलहीनता से एक के विरोध में दूसरे का पक्ष लेकर या एक या दूसरी गलती के लिए उसी बालक को चुन कर अपने शिष्यों से विरोध निमंत्रित कर सकता है। इसलिए यह उचित है कि शिक्षक-शिष्य का सम्बन्ध परस्पर विश्वास एवं सहयोग का हो। क्योंकि कोई अवांछनीय विरोध समूह से बालक के तादात्म्य भाव को भंग कर सकता है और फलतः समूह की एकता को भी।

बालक का समूह के साथ तादात्म्य-भाव या दूसरे शब्दों में उसका स्थिति-बोध व्यक्तित्व के विकास में एक वृहत् घटक तत्त्व है। जहाँ उसे अपनत्व एवं सम्बन्धित होने का कल्याणकारी बोध होता है, वहाँ ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि वह संवेदना के स्तर पर समुचित रूप से पोषित होता है और समुचित समायोजित व्यक्तित्व रखता है। समूह से सम्बन्ध रखने की प्रेरणा और उसके द्वारा मान्यता प्राप्त करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। इससे उनमें सुरक्षा, संतुलन और सामरस्य की भावना जागृत होती है। इसकी विपरीत स्थिति के बोध में व्यक्तित्व के विकास में किसी प्रकार की कमी उस पर उल्टा प्रभाव डालती है। भय, अविश्वास, ईर्ष्या, संकीर्ण मानसिकता, अलगाव, आक्रमण और इस प्रकार की समाज विरोधी प्रवृत्तियाँ स्थिति या अयोग्य स्वामित्व की भावना के बोध के अनिवार्य परिणाम हैं। शिक्षक परिणामतः बालकों के बीच बहिष्कार की प्रवृत्ति के प्रति सजग रहें और कौशलपूर्वक इस विध्वंसक सामाजिक प्रवृत्ति का प्रतिकार करें। दण्ड के माध्यम से भी बालकों को कक्षा भवन या विद्यालय क्रियाकलापों से अलग नहीं रखना चाहिए। क्योंकि यह तथ्य है कि समूह से बहिष्कृत होने का बोध व्यक्तित्व की दुर्बलता को प्रश्रय देता है।

विद्यालयीय जीवन से सम्बद्ध नेतृत्व के विकास के गुणों के लिए अनेकानेक अव-

सर हैं। सामूहिक क्रियाकलापों में भाग लेना स्वयं नेतृत्व की सम्भावनाओं को सिद्ध करता है। वे बालक जिनका पालन-पोषण आत्म-केन्द्रित और आत्मलीन होने के लिए नहीं बल्कि अपने से हट कर समुदाय और समूह के कल्याण को देखने के लिए किया गया है। वे अपने आपको शीघ्र ही समूह के कल्याण में सक्रिय रूप से लगा लेते हैं। समूह के कल्याण और जीवन के लिए यह सहयोग उनके लिए बेहतर स्थिति प्रदान करता है, साथ ही सामाजिक कार्य की तृप्ति सन्तोष-प्रद बोध प्रदान करता है। फिर भी अध्यापक के लिए आवश्यक है कि वह निष्क्रिय के दमन में अथवा अपने अहं या आडम्बर व बालकों के नेतृत्व को पतित होने के खतरे को बढ़ावा देने वाली प्रवृत्तियों के प्रति अवश्य सावधान रहें। वास्तव में नेतृत्व के सभी गलत विचारों को निस्तसाहित किया जाना चाहिए। नेतृत्व को सामाजिक अनुग्रह और सद्गुण के वैचारिक रूप में ही प्रोत्साहित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, नेतृत्व की संकीर्ण अवधारणा यानी एक या दो नेताओं का वृहत् अनुगमन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अस्वस्थ है। आवश्यक तो यह है कि अधिकाधिक बालकों के बीच क्रियाकलापों के विभिन्न क्षेत्रों में नेतृत्व के गुणों का विकास किया जाए। अधिक संख्यक बालकों के लिए यह न केवल आवश्यक ही है बल्कि समूह या समुदाय को बेहतर परिणामों की ओर उन्मुख करता है। इसका साधारण कारण यह है कि अधिक व्यक्ति सामूहिक जीवन के लिए विशेषज्ञ एवं रचनात्मक विधि से सहयोग देते हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि विद्यालय अवश्य ही वृहत् संख्या में क्रियाकलापों को प्रस्तुत करें जिससे विविध मनोवृत्तियों के बालक नेतृत्व के गुणों के विकास के लिए उपयुक्त मार्ग अपना सकें। सामाजिक प्रगति निम्न विधि से नहीं, अपितु नेतृत्व पर निर्भर करती है।

बालक का सामाजीकरण करने में तथा उसके नेतृत्व के गुणों को विकसित करने में शिक्षक को ही विशिष्ट भूमिका अदा करनी पड़ती है। अपनी व्यावसायिक शिक्षा एवं साधन से सम्पन्न होकर उसे बालक की सामाजिक पृष्ठभूमि का ज्ञान अवश्य रखना चाहिए, साथ ही उसे अपने उद्देश्यपरकता बिंदु पर सुदृढ़ रहना चाहिए। ठीक ही कहा गया है: "शिक्षा का कोई दर्शन, कोई पाठ्यक्रम, कोई पद्धति शिक्षक जो इसे क्रियान्वित करता है, की अपेक्षा प्रभावोत्पादक नहीं है।"

शिष्यों की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि के लेख को व्यक्तिगत रूप में व्यवस्थित करने में इसकी जाँच करते हैं एवं समय-समय पर इसका आलेखन करने में उसके लिए सहायक होता है। लेकिन आलेखन विभिन्न व्यक्तित्व विशेषताओं की मात्र सारणी नहीं होना चाहिए बल्कि वह विशिष्ट व्यवहारों के कारणों को अवश्य ही प्रतिबिम्बित

करें। उदाहरण के लिए यह लेखबद्ध कर लेना पर्याप्त नहीं है कि विशेष बालक असहयोगी है। रेखाचित्र इस योग्य होना चाहिए कि वह बालक के असहयोग का कारण निर्देशित करे। व्यवहार के कारणों का खोज के पश्चात् ही सम्यक निरोधों एवं इलाजों को लागू किया जा सकता है। शिक्षक द्वारा किए गए निरीक्षणों एवं निर्णयों की यह क्रमबद्ध व्यवस्था शिष्यों के व्यवहार निर्देशन में अत्यधिक फलदायक हो सकती है। जहाँ आवश्यकता पड़े वह विद्यालयीय मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्री की सलाह भी प्राप्त कर सकता है।

विद्यालय एवं अन्य सामाजिक अभिकरण

सामाजिक नियंत्रण के दूसरे सामाजिक एवं राजकीय अभिकरणों की एक संस्था के रूप में विद्यालय की अब कल्पना नहीं की जा सकती। आधुनिक विकासमान सम्यता की जटिलता में सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक अभिकरण के रूप में विद्यालय का केन्द्रीय स्थान है। इसे दूसरे अभिकरणों से जो सामाजिक सुधार के कार्य में लगे हुए हैं अपने क्रियाकलापों को परस्पर जोड़ना एवं उन्हें सहयोग देना है। यदि विद्यालय एवं अन्य अभिकरणों के बीच स्वस्थ परस्पर सहयोग हो तो इसे अधिकाधिक धन की बचत और श्रम में लघुता का प्रयत्न करना चाहिए। इसी के साथ-साथ प्रभावोत्पादक परिणाम उत्पन्न करने चाहिए। वह समाज जो विशेष-तया विभागवाद या खण्डवाद पर आधारित है और जिसने एकता (अखण्डता) के सिद्धान्त को सामाजिक जीवन पर लागू करना नहीं सीखा है, अन्त में विद्यालय एवं दूसरे अभिकरण अलग अलग-अपनी तरह से चलते हैं, अभी कठिनता से ही कभी मिल पाते हैं। परिणाम यह होता है कि सहयोगी सुनियोजित प्रयत्न का अभाव या मानवीय क्रियाकलापों और जानकारीयों के पहले ही से उपेक्षित क्षेत्रों की अति-व्याप्ति व्यक्तित्व का विकास अगणित सामाजिक अभिकरणों द्वारा डाले गये प्रभावों पर निर्भर करता है और यदि संतुलित एवं सम्पन्नतर जीवन विकसित करना है तो विभिन्न अभिकरणों के कार्यों एवं क्रियाकलापों में सामंजस्य स्थापित करना जरूरी है। जार्ज पायने अपने एक सम्पादकीय में सारी समस्या को एक बिन्दु पर केन्द्रित करते हैं।^१ “... शिक्षा की इस अवधारणा से ध्वनित होता है कि चाहे जैसे भी हो

१. पाठ्यक्रम एवं विद्यालय समुदाय सम्बन्धों के कार्य एवं अवधारणा के विषय में जानकारी के लिए चौथा अध्याय देखिए।

२. E. George Payne : Journal of Educational Sociology, October 1937, Vol. II, No. 2, pp. 65-66.

एक सम्पूर्ण स्थिति व्यवहार को प्रभावित करती है और किसी भी सामाजिक कार्य को करते हुए सभी अभिकरण एक या दूसरी तरह से शैक्षिक नीतियों में संलग्न हैं, और सम्पूर्ण कार्य से सम्बन्धित हैं। सामाजिक अभिकरण मुख्यतया सामाजिक कल्याण की समस्याओं से सम्बद्ध रहते हैं; सरकार नगरीय कार्यों के शासन के साथ सम्बन्ध रखती है, और विद्यालय औपचारिक ढंग से दी जाने वाली शिक्षा से सम्बन्ध रखते हैं; लेकिन हर एक के क्रियाकलाप दूसरे पर टकराते हैं और कोई भी न केवल एक दूसरे के विचारों एवं क्रियाकलापों के समझे बिना प्रभावोत्पादक कार्य ही कर सकते हैं बल्कि सर्वसामान्य कार्य में सहयोग करते हैं।”

जिस प्राचीन अलगाववादी प्रवृत्ति के माध्यम से अतिरिक्त या निहित स्वार्थों के प्रति विभिन्न सामाजिक अभिकरणों की नींव रखी गई थी, उन क्रिया-कलापों के परस्पर सहयोग और परस्पर सम्बन्ध के सिद्धान्त के पक्ष में स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों को अवश्य त्याग में दिया जाना चाहिए। इस प्रकार पारस्परिक सम्बन्ध के ढाँचे को निर्मित करने में विद्यालय नेतृत्व ग्रहण करने की अनुकूल स्थिति में है। लेकिन जहाँ यह आर्थिक साधनों या नेतृत्व के अभाव में असफल हो जाता है वहाँ इन्हें राज्य या अन्य अभिकरणों के नेतृत्व का स्वागत करना चाहिए। सामाजिक विकास के सम्बन्ध में एक या दूसरे अभिकरण के लिए नेतृत्व को हमेशा के लिए निश्चित करना कठिन है। एक जटिल या गत्यात्मक समाज में नेतृत्व कहीं से भी उत्पन्न हो सकता है और शेष सामाजिक तन्तु-जाल को प्रभावित करता है। नेतृत्व में अवांछनीय प्रतियोगिता की प्रवृत्ति को ही केवल रोकना चाहिए। विभिन्न देशों में नेतृत्व का आधार पुनः सामान्य कार्य पर चरितार्थ सहयोग और सर्वसामान्य मतैक्य ही होना चाहिए।

योजना बनाना और क्रियाकलापों को परस्पर सम्बद्ध करना तथा दूसरे अभिकरणों के साथ इसकी अन्तर्क्रिया में विद्यालय के कार्य को महत्त्व देने के लिए क्षेत्र में सहयोगी समितियों की स्थापना फलदायक रही है। समिति के सदस्य अत्यधिक अनुभवी एवं विभिन्न क्षेत्र से सम्बद्ध व्यक्ति होते हैं। समिति में अपने सदस्यों के प्रतिनिधित्व द्वारा विद्यालय इसके क्रियाकलापों में अग्रणी भाग ले सकता है। समिति के कार्य हैं : (१) सामुदायिक जीवन के विविध पक्षों के विषय में आँकड़े एकत्रित करना, संगठित करना और उनकी व्याख्या करना, (२) समय-समय पर आँकड़ों का पर्यवेक्षण करना और (३) दूसरे अभिकरणों की सहायता करना और साथ ही विभिन्न अभिकरणों के कार्यक्रमों एवं क्रियाकलापों में स्वस्थ सामञ्जस्य लाना और निर्देश देना।

कुछ कर लेने से पहले समुदाय जीवन के विभिन्न रूपों सम्बन्धी तथ्य एकत्र करने के लिए समुदाय के पूरे क्षेत्र का निरीक्षण कर लेना समिति के लिए अनिवार्य है। यह तथ्यमूलक आँकड़े निरीक्षण, साक्षात्कार एवं प्रश्नावलियों के माध्यम से संगृहीत किए जा सकते हैं जिनमें निम्नलिखित सम्मिलित हो सकते हैं :

१. जनसंख्या की प्रवृत्तियाँ और गत्यात्मकता।
२. जातीय एवं राष्ट्रीय विशेषताओं की प्रक्रिया में जनसंख्या का संगठन।
३. समुदाय की आर्थिक स्थिति और रहन-सहन पर इसका प्रभाव।
४. अध्ययन के लिए निवासस्थान और शारीरिक सुविधाओं की पर्याप्तता और विभिन्नता।
५. तौर-तरीके, जिसके माध्यम से परिवार अपनी जीविका कमाता है।
६. सारे किस्म के सेवा-अभिकरणों की संख्या, विशेषता और पर्याप्तता जिसमें विद्यालय, चर्च, क्रीड़ा-क्षेत्र, पुस्तकालय, व्यवस्थित घर, चलचित्र, रंगशाला, कैफे, रात्रि-क्लब आदि सम्मिलित हैं।
७. स्थानीय राज्य संगठन और उसका कार्य राज्य और राष्ट्रीय सरकार जिस सीमा तक स्थानीय समुदाय की सेवा करते हैं।
८. जनसंख्या के सम्बन्ध में, बाल-मृत्यु-दर, रोग, बाल-अपराध और दुर्घटनाओं की सहजता।
९. अवकाशकाल व्यतीत करने का तौर-तरीका।
१०. समुदाय का सामाजिक संगठन, औपचारिक एवं अनौपचारिक व्यापार, व्यवसाय, श्रम, राजनीतिक, स्नातृत्व, बालक और प्रौढ़ दोनों के सामाजिक और गैर सामाजिक शैक्षिक समूह जिसमें सम्मिलित हैं।
११. लोकरीतियों एवं रीति-रिवाजों में प्रकट सामाजिक प्रवृत्तियाँ।
१२. समुदाय के प्राकृतिक साधन और मानवीय एवं सामाजिक साधनों से उनका सम्बन्ध।

समिति द्वारा इस प्रकार संगृहीत आँकड़ों को दूसरे अभिकरणों या व्यक्तियों द्वारा एकत्रित आँकड़ों से तुलित किया जा सकता है और निर्णीत किया जा सकता है। इसके उपरान्त समिति को तथ्य से व्याख्या की ओर बढ़ने के लिए तत्पर रहना चाहिए, जो वस्तुतः एक अध्यवसायी कार्य है। व्याख्या को समुदाय के आध्यात्मिक

सांस्कृतिक और आर्थिक ढाँचे, समुदाय-मन के विभिन्न सामाजिक और आर्थिक लक्षण, संघर्ष एवं सहयोग की मात्रा एवं विस्तार, जनता की सामाजिक और आर्थिक प्रेरणाओं, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं आदि को स्पष्ट रूप से अनुद्श्य में रखने योग्य होना चाहिए। यह तभी सम्भव होता है जब कि तथ्यों को सामाजिक नियंत्रण और सामाजिक समायोजन की सेवा में लगाया जा सकता है। सामाजिक सेवाओं में सुधार सिर्फ उचित समझ और सचेत सहयोगी प्रयास के बाद ही परिणामित हो सकता है। इस प्रकार विशिष्ट अध्ययन एवं व्याख्या विद्यालय पाठ्यक्रम और पद्धतियों को अत्यधिक प्रभावित कर सकते हैं, समुदाय की व्यावसायिक और आर्थिक जरूरतों से इसके क्रियाकलापों को जोड़ते हैं, सांस्कृतिक परम्परा को सुरक्षित एवं समुन्नत करने में सहायता देते हैं; संक्षेप में परिवार और विद्यालय एवं विद्यालय और समुदाय के मध्य सम्पूर्ण समायोजन स्थापित करते हैं।

निर्देशन-केन्द्र एक दूसरा अभिकरण है जिसे विद्यालय एवं समुदाय के निकट सहयोग की आवश्यकता है। इस अभिकरण का कार्य व्यक्तियों को व्यक्तिगत, व्यवसायिक और सामाजिक मामलों में विशेष निर्देश देना है। केन्द्र एक विशेषज्ञ के अन्तर्गत व्यवस्थित किया जा सकता है जिसने मनोविज्ञान एवं समाजविज्ञान का सम्यक् अध्ययन किया हो। अधिकतर शिक्षक या कार्यकर्ताओं का एक समूह उसकी सहायता कर सकता है—जो इस कार्य के लिए उसके द्वारा सुशिक्षित किये गये हों।

व्यक्तिगत और सामाजिक संगठन में अक्सर परामर्श का महत्व अनुभव नहीं किया गया है। जो बिना समझ और उद्देश्य के बिखर जाने के लिए छोड़ दिया जाता है, या निर्देश को आरम्भिक बचपन में अज्ञान के कारण या विचार-प्रवास के कारण बिल्कुल उपेक्षित कर दिया जाता है। इस विचार से कि इसकी जरूरत प्रौढ़ावस्था में पड़ती है जो एकदम हेत्वाभास है और व्यापक मात्रा में शक्ति को ध्वनित करती है। वास्तव में निर्देश की प्रक्रिया शैशव के विकास के साथ ही प्रारम्भ होनी चाहिए। जैसे ही बालक विद्यालय में प्रवेश करता है शिक्षक उसे समुचित रूप से जाने, जिससे वह जिस योग्य हो उसे वैसी ही सलाह देने में समर्थ हो सके।

स्थानीय समस्याओं एवं साधनों पर निर्भर रहकर केन्द्र का रूप और संगठन, स्थान-स्थान पर भिन्न हो सकता है और इसकी उपयोगिता भी। इसकी ही अनेक विद्यालयों द्वारा संयुक्त रूप से या कस्बे की समिति द्वारा अर्थ-सहायता दी जा सकती है।

प्रत्येक प्रकार से ऐसे किसी केन्द्र से सम्बन्धित विशेषज्ञ के कार्य निम्नांकित हैं :

१. बाल-पोषण में सामान्य एवं विशिष्ट समस्याओं पर अभिभावकों को सलाह देना।
२. समुदाय सर्वेक्षण के माध्यम से समुदाय जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्धित आँकड़ों को इकट्ठा करना।
३. दोनों स्थानीय एवं राष्ट्रीय रोजगार में लक्षों के आँकड़े प्राप्त करना।
४. प्रत्येक बालक के समुदाय एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि के आँकड़े को प्राप्त करने एवं व्याख्या करने में शिक्षक को सहयोग देना।
५. बालक की व्यक्तिगत योग्यता एवं रुचियों पर आँकड़े प्राप्त करने में शिक्षक को सहयोग देना।
६. समुदाय के विषय में उन्हें आँकड़ों को परिचित करने के लिए शिक्षकों के साथ व्यक्तिगत एवं सामूहिक सभाओं में सहज पकड़ और उन्हें विशिष्ट बालक या सामूहिक स्थितियों में सलाह देना जो कक्षा-भवन में उत्पन्न हुई हों या उन्हें व्यावसायिक निर्देश की समस्या पर सलाह देना।
७. यदि कोई उनकी व्यक्तिगत, सामाजिक और व्यावसायिक समस्याएँ हैं तो समझने एवं हल करने में शिक्षक की सहायता करना।
८. उनके मानसिक संघर्षों या उसी तरह की समस्याओं को सुलझाने में बालकों को सहायता देना और विषयों एवं व्यवसायों के चुनाव में उन्हें निर्देश देना।

सहायक पुस्तकें :—

1. Lloyd Allen Cook: Community Action and the School, Ohio.
2. Arthur E. Morgan : The Small Community, Harper and Brothers, Publishers, New York.
3. Joseph K. Folsom : Youth, Family and Education, American Council of Education, Washington, D. C.
4. Edward G. Olen : School and Community, Prentice Hall, Inc., New York.

१. उल्लिखित कार्यों में से २ से ६ तक के लिए देखिए, Brown, Francis J. : Educational Sociology, pp. 366-67, Prentice Hall, Inc., New York.

सामाजिक क्रिया के निश्चेष्ट अभिकरण

“विद्या जो किसी चीज का इलाज नहीं करती।”

—सेनेका

चलचित्र, टेलीविजन, रेडियो और मुद्रणालय—अवकाशकालीन अभिकरण—तकनीकी तौर पर निश्चेष्ट कहे गए हैं, क्योंकि जहाँ वे लोगों की प्रवृत्तियों और व्यवहार को प्रभावित करते हैं वहाँ वे प्रत्यक्ष रूप से उनसे प्रभावित नहीं होते। इन अभिकरणों और जनता के बीच एकमार्गीय कार्य-व्यापार होता है फिर भी किसी तरह पूर्वगामी से सवार को अवश्य ही जोड़ा जाता है। और वह है कि परिवर्तित जनमत शैक्षिक एवं सांस्कृतिक शक्तियाँ इन अभिकरणों की गतिविधि एवं लय को अवश्य ही प्रभावित करती हैं। क्योंकि इन सुस्पष्ट भौतिक अभिकरणों के पीछे चिन्तनशील एवं अनुभूतिपरक मनो का अस्तित्व है जो स्वयं जनमत एवं समाज की अन्य सांस्कृतिक शक्तियों से निरापद नहीं रख सकते। उदाहरणतया एक देश का समाचार अभिकरण जन-समूह की विचारधारा का प्रतिनिधित्व एवं उसको परिवर्तित करने में प्रबल साधन हो सकता है क्योंकि सामूहिक स्वर और क्रिया के माध्यम के बिना एक व्यक्ति किसी भी तरह मात्र अकेले इन अभिकरणों को सामान्यतया प्रभावित नहीं कर सकता, वह इनसे गौण रूप से प्रभावित होता है। फलतः विशुद्ध समाजशास्त्रीय अर्थ में इन अभिकरणों को निश्चेष्ट कहा गया है।

सभी आयु-स्तर के व्यक्तियों पर पूर्वकथित अभिकरणों का प्रभाव विकसित रूप से अनुभव किया जा रहा है। सरकारी एवं वैयक्तिक अभिकरण अनुसन्धान के द्वारा देखना चाहते हैं कि जनता को सूचित एवं उसका सुचारु करने के लिए इन माध्यमों का सर्वोत्तम उपयोग किस ढंग से किया जा सकता है। व्यक्ति और समूह-मत पर ये माध्यम कितना व्यापक प्रभाव डालते हैं, उसके विषय में दो मत

नहीं हैं। युद्ध-काल में उनके क्रिया-कलाप लोगों को सन्तुलित बनाये रखने के लिए, उन्हें सही या गलत रास्ते पर ले जाने के लिए उपयोग में लाए जाते हैं। शांति-काल में भी समान रूप से उनकी सेवाएँ राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रियाओं में सुलभ हैं। युद्ध चाहे शांति में निहित स्वार्थ अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इनका प्रयोग करते हैं, इसीलिए सरकार और जनता इन अभिकरणों के अधिकारों एवं कार्यों के प्रति विद्वेष पूर्ण दृष्टि रखती है और उन पर अपने ध्यान को बराबर सजग रूप से बनाए रखती है। प्रत्येक देश में चलचित्रों एवं मुद्रणालय के लिए (प्रहरी) सेन्सर बोर्ड होते हैं जो चलचित्र एवं मुद्रण पर नियंत्रण रखते हैं जबकि रेडियो अमेरिका और इंग्लैंड को छोड़ कर अपने-अपने देशों की सरकारों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से संचालित किए जाते हैं।

इन अभिकरणों के उपयोगों की श्रेणी मनोरंजन, प्रचार, ऐतिहासिक आलेख लोगों के नैतिक निर्णय एवं लय को उन्नत और शिक्षित करने तक लक्षित रहती है। सामाजिक उन्नति के हित में इन अभिकरणों को प्रजातांत्रिक स्वातंत्र्य क्रिया के प्रति प्रवृत्त करना जरूरी है, जिसके साथ समाज की ओर समानुरूप से नैतिक उत्तरदायित्व अवश्य ही संचालित हो।

१. व्यावसायिक चलचित्र—आँखों और कानों को अपील हेतु जो स्थायी प्रभावों को धारण करने की विशिष्ट क्षमता रखते हैं, ऐसे चलचित्र ने मानव मनों पर व्यापक प्रभाव डाला है। यह बिम्बों की वृहत् विविधता, मानव हृदयों एवं भावों को जीवित एवं स्पर्शणीय रूप से पर्दे पर प्रस्तुत करते हैं जो अत्यधिक सांकेतिक और उद्देश्य-मूलक होती है। यह अनुभूति एवं भावों के माध्यम से सक्रिय होकर दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है। कलात्मक रूप से उपयोग किए जाने पर चलचित्र स्थायी मूल्यों की संरचना में सफल सिद्ध हो सकता है।

जिज्ञासु एवं प्रभाव्य बालक-मन खेल और जिज्ञासा की अपनी प्रवृत्ति की संतुष्टि के लिए तथ्यों एवं दृश्यों को खोजने के लिए उत्सुक रहता है। यह पर्दे पर प्रदर्शित क्रीड़ा क्रिया-कलाप, व्यवहार के ढाँचों एवं चरित्रों का अनुकरण एवं उनके साथ तादात्म्यीकरण करता है। उसी प्रकार पर्दे पर संयोगात्मक रूप से स्पर्श करने वाली फैशन और आचार-व्यवहार शीघ्रता एवं सहजता से ग्रहण किए जाते हैं और शीघ्र ही लोकरीतियों में रूपान्तरित हो जाते हैं। अनेक प्रयोगों से पता चला है कि चलचित्र के माध्यम से प्रसारित धारणा अत्यधिक देर तक टिकती है। अध्ययन से यह भी उद्घाटित हुआ है कि बालकों में अध्ययन-अवरोध अनुपस्थित अपराध और अपचार चमत्कारों, यौन-चित्र आदि से उत्पन्न होता है। चलचित्र में अतिरिक्त रोमान्स

बालकों की सम्वेदनशीलता को सरलता से उत्तेजित कर देता है और उन्हें वास्तविक एवं उत्तरदायित्व के संसार से परे ले जाता है। प्रेम-निवेदन के दृश्य बीस वर्ष के नीचे के किशोरों में ध्यानाभाव और बेचैनी के सभी खतरे उत्पन्न कर देते हैं। जब व्यावसायिक चलचित्र विद्यालय और परिवार के विपरीत मूल्यों को समुन्नत करते हैं, बेचारे अभिभावक और शिक्षक! उनका सुदृढ़ कार्य चालाकी के औद्योगिक शैतान द्वारा असफल हो जाता है। इसके विपरीत सामाजिक एवं नैतिक विषयों से सम्बन्धित चित्र सामाजिक स्थितियों की समझ को पूरा करते हैं और नैतिक उत्तरदायित्व और मूल्यों की अभिवृद्धि करते हैं। इसीलिए तो यह अनिवार्य है कि जनमत, शिक्षा और कानून के द्वारा चलचित्र-उद्योग बुद्धिमत्तापूर्वक नियंत्रित किए जाने चाहिए, जिससे यह अपने स्वार्थों के अन्ध पालन में, बालकों एवं प्रौढ़ों को समाज-विरोधी एवं अनैतिक मार्गों पर न ले जाने पाए। इस बात का उल्लेख अत्यावश्यक है कि चलचित्र उद्योग अपने सामाजिक और शैक्षिक भूमिका के प्रति सचेत हो रहा है और इस उद्देश्य से चित्रों का निर्माण हो रहा है। चलचित्र समाजशास्त्रीय घटना के रूप में अन्तर्क्रिया के सिद्धान्त के स्वस्थ विकास के लिए आर्थिक स्वार्थों को सामाजिक एवं नैतिक स्वार्थों के अधीन कर देंगे।

शैक्षिक चलचित्र—व्यावसायिक चलचित्रों की चुनौती से निपटने एवं उनका स्थान ग्रहण करने के लिए प्रौढ़ों तथा बालकों के शिक्षण में नया मार्ग सुझाने के लिए शैक्षिक चित्र क्षेत्र में आ रहे हैं। शिक्षा में हमेशा चलचित्र के व्यापक प्रयोग की आवश्यकता है। मनोरंजन के मूल्य स्वीकृत होने के साथ-साथ यह प्रकृति एवं जीवन की गूढ़ और अमूर्त समस्याओं को प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है, प्रकृति की घटनाओं एवं रहस्यों के गुप्त अर्थों को उद्घाटित कर सकता है, इतिहास के पुनर्निर्माण एवं संक्षेप में जीवन को प्रतिबिम्बित कर सकता है। इस प्रकार यदि इसका कक्षा में योग्यतापूर्वक प्रयोग किया जाए तो शिक्षा-क्षेत्र में यह एक बड़ी शक्ति हो सकता है। “चलचित्र अपने स्वभाव से ही निर्देशात्मक माध्यम है और निर्देशन शैक्षिक विभाग से बहुत ही भिन्न विषय है। महत्वपूर्ण शिक्षा-भवन चलचित्र को प्रत्यक्ष अथवा प्राथमिक निरीक्षण के लिए प्रेरित करना चाहिए, जिसके फलस्वरूप बालक प्रसारित सूचना अभिप्राय को ठीक-ठीक समझे। यह सोखने वाले मात्र निष्क्रिय स्पंज की तरह बनने के खतरे के प्रति सचेत रहे। एक अच्छे शैक्षिक चलचित्र को ऐसे प्रश्न प्रस्तुत करने चाहिए जिनके उत्तर गढ़े-गढ़ाए न हों। प्रस्तुत एकत्र सूचना की अपेक्षा इसे वाद-विवाद को प्रोत्साहित करना चाहिए। उदाहरण के लिए कुछ अलग दृष्टान्तों में यथा परमाणविक भौतिकशास्त्र के विषय

में एक चलचित्र शिक्षक का स्थान ग्रहण कर सकता है, लेकिन साधारणतया इसे निर्देशन की मुख्य पद्धति की अपेक्षा किसी विषय की शिक्षा के एक अन्तिम परिपूर्णता के रूप में प्रयुक्त किया जाना चाहिए। इस सब के ऊपर इसका केवल सम्मोहक प्रभाव ही नहीं होना चाहिए बल्कि बालकों में विचार एवं विवाद को अवश्य प्रोत्साहित करें अन्यथा यह अपने वास्तविक शैक्षिक प्रयोजन को पूर्ण नहीं कर सकेगा।... ठीक ढंग से पाठ्य-क्रम से अन्तर्सम्बन्धित होकर चलचित्र एक बालक की शैक्षिक पृष्ठभूमि को पूर्ण कर सकता है और प्रौढ़ जीवन के ज्ञान को बढ़ा सकता है। इससे क्षमतापूर्वक अनुपूर्ति की जा सकती है या कमी-कमी किन्हीं विषयों के सम्बन्ध में संग्रहालयों, कला-भवनों, रंगशालाओं, कारखानों, ग्रामीण क्षेत्रों और दूसरी जगहों में कक्षाओं द्वारा भ्रमण करके विषय के प्रमुख पक्षों के प्रति ध्यान आकर्षित किया जा सकता है और समीक्षा के माध्यम से प्रभावोत्पादक चित्रों, आंकिक या रेखिक सांख्यिकी द्वारा व्याख्या कर सकता है; जिससे भौतिक तथ्यों के सम्बन्ध में संचारी ढंग से अनुभव प्राप्त किया जा सकता है।”

शैक्षिक चलचित्र, यदि उनका विशिष्ट युग और समूह-योग्यता के लिए निर्माण किया गया हो व यदि वे विद्यालय पाठ्यक्रम के योग्य हो और समीक्षा की भाषा सरल और सीधी हो तो वे बेहतर ढंग से प्रयोजन को पूर्ण कर सकते हैं। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए शिक्षकों को शैक्षिक समस्याओं को उनकी दैनिक योजना से, चलचित्रों के निर्माण के साथ जोड़ना वांछनीय है। उपयुक्त तो यह है कि चलचित्र की पाण्डुलिपि तैयार करने में शिक्षक का मुख्य हाथ होना चाहिए।

चलचित्र जैसा कि वे कल्पना के आधार पर कार्य करते हैं, विशेषतः पिछड़े बालकों की शिक्षा में अत्यधिक उपयोगी हो सकते हैं। निरीक्षण से पता लगता है कि ऐसे जड़ बालक शाब्दिक निर्देश की अपेक्षा निर्विकार रूप से चलचित्र की ओर प्रवृत्त होते हैं। इसमें अधिक अनुसन्धान के बाद मानसिकतया अवरुद्ध बालकों के निर्देशन में शैक्षिक चलचित्रों को लागू करना सम्भव हो सकता है।

शैक्षिक चलचित्रों में पहले से ही प्रस्तुत कुछ अनुसंधानों के साथ अब भी अधिक खोज की जरूरत है। पृष्ठभूमि निर्मित करने के लिए बालकों की रुचियों और अरुचियों की श्रेणी की जानकारी प्राप्त करना जरूरी है।

जिसके आधार पर चलचित्र के निर्माण का अगला कदम आधारित किया

जाए, ऐसे प्रश्नों पर खोज करने की जरूरत है जैसे कोई चित्र बच्चों के लिए क्यों अधिक लोकप्रिय है? क्या विभिन्न आयु-समूहों के बालक कल्पना से यथा-तथ्यता और यथार्थवाद को पसन्द करते हैं? क्या एक ही आयु की लड़कियाँ या लड़के वर्णन या विषय में भिन्न रुचि रखते हैं? तथा इन अन्वेषणों के आधार पर ही सम्बद्ध होकर शिक्षा के क्षेत्रों में अनुसन्धानों से बालकों के लिए उपयुक्त चल-चित्र निर्मित किए जा सकते हैं। बालकों के लिए विशेष चित्र की जरूरत है। शिक्षक व्यक्तिगत निरीक्षण से जानते हैं कि ऐसे चित्रों के अभाव में बालक प्रौढ़-चलचित्रों का आनन्द लेते हैं और परिणामतः अपने में कृत्रिमता, सावधानी और बेचैनी विकसित कर लेते हैं। वे अपनी प्राकृतिक मूल प्रवृत्तियों, रुचियों और जीवन-स्थितियों से दूर जाने के लिए बाध्य हैं और विकृतियों के आदी हो जाते हैं।

शैक्षिक चलचित्र योजनाओं की सबसे बड़ी घन की समस्या है, फिर भी चल-चित्रों के वितरण के लिए बालकों के एक केन्द्रीय चलचित्र पुस्तकालय को निर्मित किया जा सकता है। इस कार्य का भारवहन करने के लिए बाल-चलचित्र विभाग की आवश्यकता है। इस समय अमेरिका और रूस बालकों के लिए चलचित्र-निर्माण में अग्रणी हैं। इस सम्बन्ध में युनेस्को का योग महत्वपूर्ण है क्योंकि इसने अपने निर्माण के साथ-साथ उत्पादन तथा जरूरत के अनुसार वैज्ञानिक और सांस्कृतिक चलचित्रों और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उनके वितरण का कार्य किया है।

२. रेडियो—रेडियो, अधिकतम सम्भव संख्या के लिए लघुतम समय में एक महान् मनोरंजक तथा शैक्षिक शक्ति है। यह वैज्ञानिक और सांस्कृतिक तथ्यों को प्रसारित करता है, जनमत को प्रबुद्ध करता है, जिज्ञासा एवं रुचियों को उत्तेजित करता है एवं घटनाओं तथा व्यक्तियों के विषय में बेहतर जानकारी करवाता है। जहाँ दूसरे अभिकरण पहुँचने में असफल हो जाते हैं वहाँ यह सफल होता है। अशिक्षितों की शिक्षा एवं सुविधाहीन तथा दूर क्षेत्र में रहनेवाले व्यक्तियों के विषय में यह विशेष रूप से सहायक हो सकता है। अतिरिक्त श्रमित, चिन्ताग्रस्त और विशेषतः तनावपूर्ण व्यक्तियों के लिए यह मुक्तिदायक है और उनके मानसिक स्वास्थ्य को गति देता है। रोगी की बगल में पड़ा हुआ यह संगीत के माध्यम से विशेषतया निरोगी घटक हो सकता है। साधारण आदमी के लिए भी यह अधिक मनोरञ्जनीय साधन है।

अधिकतम देशों में राज्य के द्वारा सीधा नियंत्रित होने के कारण रेडियो चल-चित्र की अपेक्षा अधिक ध्यानाकर्षक होता है। उसी प्रकार इसके कार्यक्रम शैक्षिक, सांस्कृतिक और नैतिक उद्देश्यों की ओर अधिक सांगोपांग रूप से संगठित है। धार्मिक

कार्यक्रम का प्रचार करने में बी० बी० सी० के अनुभव इसके अनुसन्धान-विभाग के अनुगामी अध्ययनों द्वारा सफल सिद्ध हुए हैं। भारत में रेडियो की सम्भावनाएँ जनता की नैतिक एवं सांस्कृतिक तरुणार्थ के लिए पूरे तौर पर प्रयुक्त की जा रही हैं।

रेडियो कार्यक्रम में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रसारण के विरुद्ध सामान्य आरोप यह है कि यह बौद्धिक निष्क्रियता विकसित कर लेता है। क्योंकि जब यह ग्रहणशील मनो, प्रवृत्तियों एवं मूल्यों में अविवेक पूर्ण स्थितियाँ या काम-चलाऊ धारणा प्रदान करता है तो निश्चय ही इससे समाज की सेवा की अपेक्षा हानि होती है। यदि शिक्षा के एक मित्र के रूप में इसे अपना उद्देश्य पूर्ण करना है तो इसके कार्यक्रम ऐसे होने चाहिए जो लोगों की जिज्ञासा या रुचियों का स्पर्श करते हों, आलोचनात्मक मन विकसित करते हों, निर्णय एवं रुचि को शिक्षित करते हों और वस्तुपरकता की शिक्षा देते हों।

शैक्षिक प्रसारण विशेषतया एक नया प्रयोग है और समुचित रूप से आकर्षित कर रहा है। विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में विभिन्न आयु-समूहों के लिए विशेषज्ञों के सहयोग से कार्यक्रम विशेष रूप से तैयार किए गए हैं। इसका उद्देश्य विद्यालय या विश्वविद्यालय शिक्षा का उन्मूलन करना नहीं है बल्कि उसको सहयोग और परिपूर्णता प्रदान करना है।

बालकों के लिए विद्यालयीय विषयों के विभिन्न उपविषयों को घटना-वृत्ति और नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। मनोरंजन के तत्त्व कहानियाँ एवं नाटक विषय-वस्तु को सरल रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिससे धारण करने तथा समझने में सुविधा रहती है। शैक्षिक कार्यक्रम के अन्तर्गत यदि आवश्यक हो तो कक्षाभवन के आवश्यक अंग के रूप में शिक्षक द्वारा उपस्थान के तौर पर विषय का परिचय दिया जा सकता है जिसका अनुगमन विद्यार्थियों द्वारा शिक्षक के निर्देश में किए गए वाद-विवाद द्वारा हो सकता है। ऐसे अध्यापकों को खोजा जाना चाहिए जिनका रुझान कल्पना और पत्रकारिता में भी हो। सुपठित एवं बुद्धिमान प्रौढ़ छात्रों को भी छोटी कक्षाओं के लिए शैक्षिक कार्यक्रम को प्रसारित करके प्रोत्साहित करना चाहिए। छात्र-समुदाय के लिए यह प्रोत्साहक होना चाहिए जिससे उनके अन्तर्गत आत्मविश्वास की प्रवृत्ति बढ़े। विद्यालय के लिए प्रसारण में निम्नलिखित विषयों में सन्तुलन रक्खा जा सकता है:

(१) विभिन्न विज्ञानों के तथ्य-मूलक आँकड़ों के माध्यम से भौतिक वातावरणों से परिचय।

(२) शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए व्यापक नियम; आरम्भिक शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान ।

(३) इतिहास और संस्कृति के तथ्य एवं मूल्य ।

(४) पारिवारिक समस्याएँ एवं दायित्व ।

(५) नागरिक बोध, नैतिक एवं धार्मिक मूल्य ।

(६) ललित-कलाओं और सौन्दर्य-बोध की शिक्षा ।

(७) राष्ट्रीय एवं स्थानीय समस्याएँ, समसामयिक घटनाएँ और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ ।

(८) विवेचन से, लेकर संगीत एवं नाट्यता तक के रेडियो कार्यक्रम में छात्रों का भाग लेना ।

(९) विद्यालय के अन्तर्गत विवेचनों एवं वाद-विवादों में स्वस्थ प्रतियोगिता ।

(१०) दूसरे देशों के बालकों सम्बन्धी जानकारी देना ।

(११) जीवन के सभी क्षेत्रों में विश्व के महान् व्यक्तियों का संक्षिप्त जीवनी-मूलक चित्रण ।

उपर्युक्त ढंग से विश्वविद्यालय के छात्रों की मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक और नैतिक जरूरतों के योग्य कार्यक्रम अपनाए जा सकते हैं। विविध विषयों पर विशेषज्ञों की सहज में की गई बातचीत बुद्धि के जीवन के लिए अनिवार्य जिज्ञासा और रुचि दोनों को उत्पन्न कर सकती है। विश्वविद्यालय शिक्षा विस्तार व्याख्यान जो युवकों के लिए अत्यधिक चेतनावर्द्धक साबित हुए हैं विशेषतया हमारे जैसे विशाल देश में जहाँ कालेज दूर-दूर भागों में हैं और जिनकी अर्थ-व्यवस्था ठीक नहीं है आसानी से बहुसंख्या में सुगमतापूर्वक प्राप्त नहीं किए जा सकते। इस अभाव की पूर्ति ऐसी व्याख्याओं से की जा सकती है जिनका प्रसारण आकाशवाणी द्वारा किया जाए जैसा कि भारत में आकाशवाणी से 'विश्वविद्यालय के लिए' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा रहा है। इस प्रकार की वार्ताएँ उसी प्रकार बुद्धिजीवियों की भी सेवाएँ कर सकती हैं। इसी प्रकार विचार-प्रवाह प्रतियोगिता, अन्तर्महाविद्यालय और अन्तर्विश्वविद्यालय वाद-विवाद प्रतियोगिता, वाद-विवाद और परिसंवाद अत्यधिक मनोरञ्जक और निर्देशात्मक हो सकते हैं। पुस्तक-समीक्षाएँ और दूसरे कार्यक्रमों से अत्यधिक लाभ उठाया जा सकता है। वास्तव में ध्यान देने वाले व्यक्तियों के लिए रेडियो ने सम्पूर्ण तथ्यों के जगत और मूल्यों को घर में ही ला कर रक्खा है। वस्तुतः यह एक विश्वविद्यालय है।

हमारे देश में युवकों के लिए विशेषतः शैक्षिक प्रसारण में यह कहना संगत

प्रतीत होता है कि किशोर, अनुशासन, नागरिक और नैतिक दायित्व और रचनात्मकता आदि से सम्बद्ध समस्याएँ अवश्य ही व्यापक रूप से प्रकट होनी चाहिए। लेकिन छात्र और शिक्षक तब समुचित रूप में सेवा प्राप्त कर सकेंगे, यदि वे उन समस्याओं पर प्रबुद्ध हों जिससे वे अपने-अपने जीवन के क्षेत्रों में नयी जानकारी को संगठित करें। अभिभावकों के लिए यह कार्यक्रम भी समान रूप से सहायक होगा।

बेतार व्याख्यान अथवा समीक्षाएँ उस अवस्था में अधिक उपयुक्त एवं फलदायक हो सकते हैं यदि रेडियो विभाग द्वारा पुस्तकाध्यक्षों को वार्ता के विभिन्न शीर्षकों एवं तत्सम्बन्धी पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की जानकारी पहले से ही करवा दी जावे ताकि उनको उचित तथा उपयोगितापूर्वक देखा-परखा जा सके। बिना किसी व्यापारिक उद्देश्य के इस प्रकार से अभिस्तावित (recommended) पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ उपर्युक्त कार्यक्रम में भाग लेने वाले विद्यार्थियों के सम्मुख पुस्तकाध्यक्षों द्वारा प्रस्तुत की जा सकती हैं। पुस्तकाध्यक्ष तो पुस्तकालय के किसी कक्ष में विषय सम्बन्धी सामूहिक वाद-विवाद भी संगठित कर सकता है।

इन मार्गों के आधार पर पुस्तकाध्यक्षों तथा कार्यक्रम समिति के द्वारा सन्तोष-प्रद परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। यदि रेडियो को एक वास्तविक शैक्षिक प्रक्रिया बनना है तो इसे सहयोग के अपने क्षेत्र को अवश्य बढ़ाना चाहिए। शिक्षकों, विद्वानों और शिक्षाविदों, जिनके संकेत और निर्णय विषय के प्रति परिकल्पित हों, रेडियो-विभाग की समितियों या कार्यक्रम-समितियों से सक्रिय रूप से जुड़े होने चाहिए।

इस समय और जब तक कि चलचित्र उद्योग राज्य नियंत्रण के अन्तर्गत नहीं आ जाता, रेडियो सिनेमा की अपेक्षा व्यवहार को प्रभावित करने के लिए अधिक विश्वस्त माध्यम के रूप में अपनाया जा सकता है। इसके कार्यक्रम विशिष्ट सांस्कृतिक और शैक्षिक उद्देश्यों को ध्यान में रख कर तैयार किए जाते हैं और उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सुस्पष्ट विचार होता है। लगभग सभी देशों में रेडियो-विभाग का अनुसन्धान विभाग दूसरे अन्वेषणों की भाँति अपने कार्यक्रमों के जनसामान्य पर पड़े प्रभाव की सीमा को आँकने के लिए अनुगमन अध्ययनों को क्रियान्वित करता है। इस प्रकार के कौशल्यों जैसे श्रोता-क्लब (Listeners club) के संघटन द्वारा आरम्भिक सामूहिक मूल्य स्थापित किए जाते हैं। इन क्लबों के सदस्य संयुक्त-श्रवण, प्रश्नोत्तरी या अन्य कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए एकत्र होते हैं। “अनेक अभिभावक सूचित

करते हैं कि रेडियो ने सामान्य रुचियों का सम्बन्ध निर्मित कर दिया है और परिणाम स्वरूप इससे घर की एकता में भोगदान प्राप्त हुआ है।”^१ चलचित्र के प्रत्यक्ष-मूल्यों को भी अपने में समाविष्ट करके, सम्पूर्ण रुचिकर एवं आकर्षक कार्यक्रमों के माध्यम से श्रोताओं के, ध्यान को चलचित्र आकृष्ट करता है। यह सामाजिक मूल्यों को भी कम समन्वित नहीं करता। यह सामाजिक मूल्यों को खतरे में डाले बगैर श्रोताओं की इच्छाओं से निपटता है और उनका आदर करता है। वास्तव में यह किसी अनैतिक वस्तु को प्रस्तुत नहीं करता, और सम्पूर्ण रूप से मनोरञ्जन का स्तर चलचित्र के स्तर से कहीं अधिक उच्च होता है। निरुद्ध और अश्लील वस्तुएँ रेडियो पर वर्जित हैं, जिससे यह उन चलचित्रों से अधिक नैतिक प्रभाव रखता है, जो आजकल हालीवुड के अनुकरण पर बन रहे हैं।

३. टेलीविजन—टेलीविजन यांत्रिकीय रूप से समुन्नत अमेरिका, रूस और इंग्लैण्ड को छोड़ कर इस क्षेत्र में नया अन्वेषण है जो अभी सर्वसामान्य नहीं है। अमेरिका में जहाँ कक्षा-भवन में टेलीविजन का प्रयोग बढ़ रहा है चलचित्र या रेडियो की अपेक्षा प्राप्त परिणाम आशाप्रद है। टेलीविजन कृत व्याख्यान कहीं अधिक चमत्कारिक हैं जैसा कि वे श्रोताओं के लिए न केवल वक्ता की सूचना एवं निर्देश प्रस्तुत करते हैं वरन् कार्य में संलग्न उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को भी नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करते हैं जिससे सम्भावित एवं स्पष्ट तत्त्वों का उभार हो जाता है जिसकी अभिव्यक्ति रेडियो में अधिकतर नगण्य होती है। आँखें श्रवणेन्द्रियों की सहायता करती हैं जिससे रेडियो की कमी पूरी हो जाती है। इस प्रकार टेलीविजन चलचित्र से भी अधिक श्रेष्ठ ठहरता है क्योंकि रंगशाला की तरह यह जीवित होता है। इसमें प्रत्यक्षानुभूति का गुण होता है जिसका अर्थ होता है कि परदे पर घटते हुए दृश्य देखने के साथ घटते रहते हैं। ग्रहणशील मन पर इसका प्रभाव रेडियो की अपेक्षा अच्छा अनुमानित किया गया है जो कान के लिए तो प्रत्यक्षानुभूति देता है लेकिन आँख के लिए नहीं, या सिनेमा की अपेक्षा जो प्रत्यक्षानुभूति में दूरी से प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। फिर भी कुछ ऐसे आलोचक हैं जो गहराई से इस विचार से चिपके हुए हैं कि टेलीविजन कक्षा में चलचित्र का स्थान लेने में कभी सफल नहीं होगा—“जैसे चलचित्र कभी शिक्षक का स्थान नहीं ले सकता,

१. Clive M. Koon in 'Educational Role of Broadcasting', p. 107, International Institute of Intellectual Co-operation, 2 Rue De Montpensier, Palais-Royal, Paris.

टेलीविजन मेरी राय में कक्षा-भवन में चलचित्र का स्थान नहीं ले सकता, चाहे यह इसका अतिक्रमण कर जाए—क्योंकि सहायता का सर्वोत्तम रूप दृश्य-साधन मात्र सचेत तैयारी से ही निर्मित किया जाता है और चलचित्रीकरण के पूर्ण होने के पश्चात् दृश्य कर्तन कक्ष में शैक्षिक चलचित्र अपने वास्तविक मूल्य से समाविष्ट हो पाता है। अन्तिम परिणाम टेलीविजन शब्द के अर्थ में निहित नहीं है बल्कि यह जीवन से वृहत्तर विषय वस्तु को प्रस्तुत करता है, क्योंकि कैमरा काँच आवर्धक काँच और सूक्ष्मदर्शी दोनों रूपों में कार्य करता है, प्रक्रियाओं एवं स्थानों का विश्लेषण करते हुए, उन्हें अगणित कोणों से प्रस्तुत करते हुए, जो समुचित रूप से एकत्र होकर एक विस्तृत चित्रात्मक हो जाता है।”

लेकिन पहले से टेलीविजन कृत कार्यक्रम उच्च सांस्कृतिक एवं बौद्धिक जीवन्तता के विविध बृहत् कार्यक्रम को घरों एवं विद्यालयों की देहलीज तक प्रस्तुत कर सकते हैं। इसकी सम्भावनाओं एवं प्रवृत्तियों के आधार पर निर्णय करते हुए टेलीविजन का भविष्य आशाप्रद है।

४. मुद्रणालय (छापाखाने)—मुद्रणालय अपने लक्षणार्थ में सम्पूर्ण मुद्रित सामग्री को अपने में समाहित करता है चाहे पुस्तक, पत्रिका, अखबार या जर्नल के रूप में ही हो। जहाँ-जहाँ यह लोकप्रिय है इसका प्रभाव जन-मन पर व्यापक रूप से पड़ता है। सांस्कृतिक रूप में सम्मुन्नत देश अश्लील साहित्य के प्रकाशन को निरुत्साहित करके पुस्तक व्यवसाय पर अवरोध लगाता है या प्रकाशित हो जाने पर प्रकाशित पुस्तकों को सरकार द्वारा जब्त करने पर, मुद्रणालय पथ-भ्रष्ट करने वाले अश्लील और अनैतिक तथा भ्रष्टकारी सामग्री को अवरुद्ध करने के लिए अधिक सक्रिय रहता है। फिर भी यह स्वीकार किया जाएगा कि प्रजातांत्रिक देशों में जहाँ प्रकाशन व्यापार की स्वतंत्रता एक पवित्र सिद्धान्त है, हमेशा समानुरूप दायित्व नहीं निभाया जा सकता है। जासूसी और यौन सम्बन्धी पुस्तकों की एक बृहत् संख्या जो बालकों और युवकों के हाथों में पड़ती रहती है, जन-नैतिकताओं का बिल्कुल निरादर, आर्थिक स्वार्थों द्वारा प्रेरित प्रकाशन व्यापार पर एक बड़ा भारी घब्बा है। अमरीका में केवल इस प्रकार का विकृत साहित्य ऐसे खतरनाक अनुपात से बढ़ रहा है कि हाल ही में इसे समाप्त करने एवं इसके अग्रिम प्रवाह को रोकने के लिए व्यापक रूप में अभियान चला था।

विधिवत् रूप से किया गया गम्भीर अध्ययन सामान्य अनुभव को पुष्ट करता है कि पठन-सामग्री शुभ और अशुभ के लिए व्यापक सम्भावनाएँ रखती है। बालकों एवं युवकों में अपराध और अपराधी प्रवृत्तियाँ अत्यन्त गन्दे जासूसी और सम्बेदनीय प्रेम व्यापार के अध्ययन से ही बढ़ती हैं, जिसमें नग्नता एवं अश्लीलता उन युवकों को अपनी ओर आकृष्ट करती है। उनके हाथ में जाने वाले विभिन्न प्रकार की साहित्य-कृतियों से भी परिणामों में और अन्तर आता रहा है। इसके विपरीत गम्भीर और पवित्र साहित्य उच्च रूप से समाज के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त जीवनीमूलक कृतियों का क्रमबद्ध अध्ययन उपरोक्त निरीक्षणों को सुनिश्चित करता है क्योंकि इस सम्बन्ध में अमेरिकन विश्वविद्यालयों द्वारा विद्यार्थियों की पठन-सामग्री में अनुगामी अध्ययन संचालित किया गया था। प्रत्येक अवस्था में मुद्रण शिक्षा के मामले में आज सभी कोनों में एक विधायक घटक है और उस सीमा तक सामाजिक प्रक्रियाओं को प्रेरित करता है। इस प्रकार मुद्रित सामग्री की विशेषता पर बहुत कुछ आधारित रहता है। समुदाय का मुद्रण पर नियंत्रण रखने का कर्त्तव्य ही नहीं, पूरा अधिकार है और एक गत्यात्मक और नैतिक रूप से जीवित समुदाय और विशेषतया जब नैतिक मूल्य खतरे में हो प्रकाशन व्यवसाय को निरंकुशता की आज्ञा नहीं दी जा सकती और यह होना भी चाहिए।

सर्वसत्तात्मक राज्य कार्य-साधकता या एकादामिक सिद्धान्त या दोनों के लिए प्रजातंत्र की अपेक्षा मुद्रणालय पर कहीं अधिक कठोर नियंत्रण रखते हैं। वास्तव में सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए, वे व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण मुद्रण को अधिकार में रखते हैं और फलतः उन पर गहन प्रतिबन्ध सामान्य स्तर पर लागू करते हैं। इस प्रवृत्ति के लिए दोष और गुण का प्रश्न दूसरी बात है यद्यपि यह प्रजातंत्र के लिए बहुत ही आवश्यक है।

आँकड़ों के आधार पर विदित होता है कि पुस्तकालय के लिए पुस्तक क्रय पर व्यक्तिगत एवं जन धन की बृहत् राशि आर्थिक एवं यांत्रिक रूप से उन्नत देशों में खर्च की जाती है। प्रचार के दूसरे साधनों के अतिरिक्त शैक्षिक, सांस्कृतिक और प्रकाशकीय अभिकरणों द्वारा लोगों को अपने अवकाश के समय को अध्ययन से काटने एवं उसके प्रति आकर्षित करने के लिए पुस्तक समारोह का आयोजन किया जाता है। जन-पुस्तकालय और वाचनालय वृहद् संख्या में बढ़ रहे हैं। गृह-पुस्तकालयों में, पुस्तकों एवं पत्रिकाओं में गिरावट हुई है। चलते-फिरते पुस्तकालय जो दूरस्थ क्षेत्रों में पहुँचने में समर्थ हैं और पैकेज पुस्तकालय जो डाक-व्यय देने पर पुस्तकों वितरित करते हैं जनता की बौद्धिक और सांस्कृतिक जरूरतों

को पूरा करने के लिए इस क्षेत्र में नये प्रयोग हैं। आर्थिक रूप से पिछड़े देशों में इस सम्बन्ध में परिस्थितियाँ सन्तोषजनक नहीं होतीं। फिर भी युनेस्को और अन्य देश व्यक्तिगत रूप से जनता के पठन-पाठन की आदत को बढ़ाने के लिए इन क्षेत्रों में पुस्तकों एवं अनुदानों की एक सार्थक सहायता दे रहे हैं।

पाठ-सामग्री का चुनाव किस सीमा तक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होता है और किस सीमा तक पाठ-सामग्री एक व्यक्ति की संस्कृति को प्रभावित करती है, व्यापक समाजशास्त्रीय प्रश्न के दो ध्यानाकर्षक एवं रुचिपूर्ण पक्ष हैं। अध्ययन से पता चलता है कि संगठित और बौद्धिक रूप से समुन्नत परिवारों से आने वाले बालक और किशोर सम्पूर्ण रूप से उच्च साहित्य, दर्शन, राजनैतिक विज्ञान, जीवनियाँ आदि जैसे शास्त्रीय साहित्य-विज्ञान की माँग करते हैं और विशृङ्खलित और दमित परिवारों से आने वाले स्वयं को जासूसी, प्रेम और हत्या की कहानियों, ऐय्यारी इत्यादि से चमत्कृत करते हैं। पाठ्य सामग्री का चुनाव इस सम्बन्ध में शैक्षिक संस्थाओं द्वारा दिए गए निर्देशों द्वारा भी विचारणीय रूप से प्रभावित होता है। अनिवार्यतः ये संस्थाएँ सेमिनारों, पुस्तक-गोष्ठी और प्रभावकारी पुस्तकालय संगठनों के द्वारा पुस्तकों के चुनाव एवं पठन के लिए शिक्षकों में प्रथम कोटि की रुचि विकसित करने के महान् उत्तरदायित्व से युक्त होता है। इसका उद्देश्य गहन मानवता की पृष्ठभूमि के साथ भविष्य के लिए उच्च-स्तरीय रूप से वस्तुपरक एवं आलोचनात्मक मन का विकास करना है।

अध्ययन से यह भी पता चलता है कि जनता का एक बृहत् भाग पठन के विषय में अधिक प्रशिक्षा एवं रुचि नहीं रखता और पठन-सामग्री को अपने मार्ग में पाकर अवरुद्ध होता है। एकमात्र पीत मुद्रणालय अपने विकास के लिए उनके प्रति ऋणी है। किसी भी तरह प्राप्त अन्वेषणों के आधार पर यह न्यायसंगत परिणाम निकलता है कि पठन-सामग्री के चुनाव द्वारा वर्ग प्रभाव, परिवार और विद्यालय के प्रभाव या पठन-पाठन में इसका अभाव समुचित रूप में प्रतिबिम्बित हुआ है। बदले में पठन-सामग्री बुद्धि और संवेदों को प्रभावित करती है और जीवन-दर्शन एवं प्रवृत्तियों के निर्माण में उसका स्वीकारणीय भाग हो सकता है।

दैनिक समाचार-पत्रों के सम्बन्ध में भी चन्द बातें कहना अनिवार्य हैं, जो सीमित अर्थ में सामान्य मनुष्य द्वारा 'मुद्रणालय' समझे गए हैं। और उसी सीमित अर्थ में मुद्रणालय की बहुचर्चित स्वतंत्रता का गुण-दोष विवेचित किया गया है, जो एक दैनिक

समाचारपत्र, प्रकाशन की अपनी त्वरा से, प्रचलित समाचारों, दृष्टियों एवं समीक्षा की व्याप्ति से, बौद्धिक सांस्कृतिक और शैक्षिक मामलों में अपनी सांगोपांगता से पुनः नवीनीकृत एवं गहन होकर दिन प्रतिदिन जनता पर व्यापक प्रभाव डालता है। एक उच्च स्तरीय समाचारपत्र अपने पाठकों के लिए एक सुपरिवेक्षित एवं कल्याणकारी बौद्धिक सामग्री प्रदान करता है। यह उदारमना शिक्षा का माध्यम है। निजी समीक्षा देने के अतिरिक्त गोष्ठी, पत्रों, विवादों एवं लेखों द्वारा पाठकों एवं विचारकों की सम्मति को निमंत्रित करता है, उसे प्रकाशित करता है और इस प्रकार आलोचनात्मक और उत्तरदायी चिन्तन की कला में उन्हें शिक्षित करने एवं लोगों को प्रशिक्षित करने में प्रजातांत्रिक शासन का एक शक्तिशाली सहयोगी बन जाता है। प्रत्येक समाचारपत्र का अपना एक जीवित व्यक्तित्व होता है जिसे पाठक अपने चुनाव के अनुसार सहयोगी बनाता है और हर रोज उसकी प्राप्ति की आशा करता है। इस प्रकार वह उससे प्रभावित होता रहता है। अतः किसी एक समाचारपत्र के प्रभाव की सीमा इसके व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। व्यक्तित्व और प्रतिष्ठा वाले एक समाचारपत्र के कथन एवं दृष्टिकोण बिना किसी अवरोध के स्वीकार किए जाते हैं, इसका नेतृत्व स्वीकृत हो जाता है और इसके संकेत-चिह्न सभी महत्वपूर्ण विषयों में सूचना और निर्देश के लिए देखे जाते हैं। लेकिन व्यक्तित्व और प्रतिष्ठा के घटक हमेशा अपने आन्तरिक मूल्यों को नहीं बनाए रखते। कम विवेकशील, संकीर्ण, वर्गीय या रूढ़िवादी प्रवृत्ति के लोगों के साथ, सिर्फ वही समाचारपत्र प्रतिष्ठा-सम्पन्न होते हैं जो उनकी सनक को पोषित करते हैं, वास्तव में ऊपर उल्लेखित दोनों प्रकार के मुद्रणालय एवं लोग एक दूसरे से निर्वाह करते हैं और इस प्रकार कुचक्र चलता रहता है और विकसित होता है। संकीर्ण सम्प्रदायवादी, वर्गीय या कोई सन्निहित स्वार्थ वाला मुद्रणालय प्रजातंत्र और मानवता के साथ ही शिक्षा के लिए चुनौती है।

सहायक पुस्तकें :—

1. Andrew Buchanan : The Film in Education, Phoenix House Ltd. London.
2. The Educational Role of Broadcasting, International Institute of Intellectual Co-operation, 2, Rue De Montpensier, Palais-Royal, Paris.

दसवाँ अध्याय

प्रजातन्त्र के लिए शिक्षा

“मैं प्रजातन्त्र में विश्वास करता हूँ क्योंकि यह प्रत्येक प्राणी की शक्तियों को मुक्त करता है।” —उडरो विल्सन।

प्रजातन्त्र की अवधारणा मानवीय अभिव्यक्ति में कोई नया अन्वेषण नहीं है। इसका इतिहास बहुत ही पुराना है, जो शास्त्रीय ग्रीक एवं प्राचीन भारत से प्रारम्भ होता है। अपनी लम्बी विकासवादी क्रिया में यह, किसी तरह अर्थ, अनुभव एवं विवरण में अपरिमित रूप से विकसित हो गया है। निश्चय ही, निरंकुश राजतन्त्र (Monarchy), अल्पतन्त्र (Oligarchy) और सामन्तवाद (Feudalism) के अधीन इसका अन्वकारमय युग भी विद्यमान है। फिर भी इसके अस्तित्व का पूर्णतः विनाश नहीं हुआ, क्योंकि स्वतन्त्रता के लिए मानवीय उत्कण्ठा इसे पुनः जीवन प्रदान करती है। वस्तुतः इसका मृत्यु से बिलगाव इसकी बौद्धिक एवं संतोष-प्रद जीवन-शैली में ही निहित है। निश्चय ही यह मानव की मानवीयता में गहरी जड़ें जमाए हुए है एवं मानवीय आकांक्षाओं के साथ-साथ प्रगति कर रहा है।

मध्यकाल से ही प्रजातन्त्र का इंग्लैण्ड की घरती पर पोषण होता रहा है; जिसका अनुसरण अमरीका के नये प्रयोग द्वारा हुआ। आजकल भारत एवं कुछ अन्य देश अपनी-अपनी परम्पराओं एवं प्रतिभाओं के प्रति विश्वस्त होकर इसे समृद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आधुनिक युग में प्रजातन्त्र न केवल उदात्त विचारों के रूप में अपनी अन्तर्निहित शक्ति से उत्पन्न हुआ है, अपितु एक ओर उग्र राष्ट्रीयता (Fascism) और साम्यवाद (Communism) के उदय से और दूसरी ओर खिल्य-गत प्रगति से। सत्य तो यह है कि कोई भी प्रजातांत्रिक देश प्रजातन्त्र के विचार एवं उसके व्यवहार में पूर्णरूप से सौरस्यता (Harmony) का दावा नहीं कर सकता। वह तो केवल एक आदर्श है जिसे प्रजातान्त्रिक नैतिकता पाने का प्रयास करती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वातंत्र्य (Liberty), समानता (Equality), भ्रातृत्व (Fraternity) के प्रजातांत्रिक नारे व स्वप्न को पूरा होने में पर्याप्त समय लगेगा। शिक्षा उस प्रक्रिया में गति दे सकती है। वास्तव में यह प्रजातंत्र के विचार को सम्पन्न एवं जीवित बना सकती है, इसके गुणात्मक विकास को आगे बढ़ा सकती है, साथ ही जीवन की स्वस्थ एवं सुनिश्चित प्रजातांत्रिक आदतों को विकसित कर सकती है। इसी पर प्रजातंत्र का भविष्य निर्भर करता है। वस्तुतः अधिकतम लोगों के लिए समस्त नैतिकता व्यवहार है और वही बात प्रजातंत्र के सम्बन्ध में भी सत्य है, जो मूलतः नैतिक है, यद्यपि द्रुमिग्यवश केन्द्र राजनीति के झाड़-झंखाड़ में खो जाता है। जब राजनीति अन्य सभी से सर्वोच्च हो जाती है—अर्थात् राजनीति राजनीति के लिए—अपने स्वभाव से अलग हो जाती है, यह मानव मूल्यों के लिए संकट उत्पन्न कर देती है। इसीलिए तो भारतीय संस्कृति की परम्परा हमेशा अम्यास या व्यवहार पर जोर देती रही है जिसमें नैतिकता को सर्वसामान्य समझा जाता है। और हमारे समय में राजनीति का आध्यात्मीकरण एवं नैतिकीकरण करने के लिए महात्मा गान्धी का प्रशंसनीय प्रयत्न प्रजातंत्र के लिए कहीं अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण है।

जीवन के प्रारम्भ में जब से आदत निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ होती है और एक बार निर्मित आदतें स्थायी होने लगती हैं, तो प्रजातांत्रिक अम्यासों में बालकों को प्रशिक्षित करने का दायित्व शिक्षा पर आ पड़ता है अन्यथा बाद में वे उसे ठीक बंग से नहीं समझ सकेंगे। लेकिन उस समस्या पर विचार करने से पूर्व एक ओर हमें प्रजातंत्र के राजनीतिक और आर्थिक अर्थों को ले लेना चाहिए और दूसरी ओर प्रजातंत्र के आधारिक, दार्शनिक और समाजशास्त्रीय अभिप्रायों को जिससे शिक्षा समस्या के मूल तक पहुँचने में समर्थ हो तथा सतह पर ही उससे न टकरा जाय।

प्रजातंत्र का अपेक्षित राजनीतिक दायित्व—राजनीतिक रूप से प्रजातंत्र का अर्थ है 'जनता की सरकार, जनता के लिए और जनता के द्वारा'। इससे सरकार की संसदीय प्रणाली का अभिप्राय निकलता है : विधान सभा में बहुविध दल-प्रणाली और मान्यता प्राप्त विरोधी दल। चुनाव के आधार पर बहुमत प्राप्त दल सरकार का संगठन करता है जबकि विरोधी दल को शक्ति के अन्तर्गत रुद्ध करके इसे सामाजिक प्रगति की ओर प्रेरित करके उच्चतर राजनीतिक और नैतिक कार्य को पूर्ण करता है क्योंकि अन्यथा 'व्यक्तियों को कोई अन्य चीज उतना मष्ट नहीं करती जितना निरपेक्ष रूप से निरपेक्ष शक्ति'। बर्ट्रेंड रसेल के अनुसार 'शक्ति' (Power) मानवता के लिए उतनी ही आधारिक है जितनी कि भौतिक शास्त्र

के लिए ऊर्जा (Energy)। इसीलिए समाज में शक्ति संतुलन बनाए रखना अनिवार्य है। प्रजातान्त्रिक यंत्र-शक्ति को व्यवस्थित एवं वितरित करने में सबसे अधिक प्रभावोत्पादक साधन के रूप में परिकल्पित किया गया है। शक्ति एक या चुने हुए व्यक्तियों के हाथों में संकेन्द्रित नहीं होनी चाहिए बल्कि मतदाताओं में व्यापक रूप से वितरित हो क्योंकि वे सरकार को चुनने और उसे वापस या अपदस्थ करने का अधिकार रखते हैं। इस प्रकार सरकार जनता से अपना राजनीतिक शक्ति प्राप्त करती है और उसकी प्रसन्नता पर एवं उसका प्रतिनिधित्व करके शासन करती है।

कानून में समानता या अधिकार की समता, आत्मविकास के लिए समान रूप से अवसरों की व्यवस्था, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, समुदाय की स्वतंत्रता, समझौता और उनके समान रूप अनुग्रहों एवं कर्तव्यों के साथ दमन का अभाव, प्रजातंत्र की कुछ प्रसिद्ध विशिष्टताएँ हैं।

प्रौढ़ मताधिकार—यानी, प्रत्येक समझदार प्रौढ़ का अधिकार या वह जो मतदान के लिए संवैधानिक रूप से अपदस्थ नहीं किया गया—प्रजातंत्र की आधारिक मान्यता है। उससे सम्बद्ध यह आधारिक राजनीतिक मान्यता है कि कम से कम, सार्वभौमिक साक्षरता प्रजातंत्र के सफल क्रियाकलाप के लिए अनिवार्य है। बहुत पहले जे० एस० मिल ने अपनी पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' (On Liberty) में सार्वभौमिक साक्षरता पर काफी जोर दिया था। महात्मा गान्धी ने हमारे देश में न केवल सार्वभौमिक साक्षरता की ही अगुवाई की, बल्कि प्रजातंत्र के उद्देश्यों के लिए सार्वभौमिक आधारिक शिक्षा का भी अनुमोदन किया।

लेकिन राजनीतिक प्रजातंत्र तब सदोष होता है यदि साथ ही आधारिक मानव एवं नैतिक मूल्यों में सामाजीकृत आर्थिक मूल्य की उपेक्षा करता है।

प्रजातंत्र का अपेक्षित आर्थिक दायित्व (implication)—अवसर की समानता का तब कोई अर्थ नहीं होता यदि लोगों की आधारिक आर्थिक आवश्यकताएँ नहीं सुलझाई जातीं या लोगों की आर्थिक आय में व्यापक विषमता हो। आर्थिक पर्याप्तता, यद्यपि साध्य नहीं है, मानव-व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए साधनमूलक है। लोग कम से कम आवश्यकता एवं भय से मुक्त हों। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमुख उद्योगों के राज्य-नियंत्रण के समाजवादी विचार, सामान्यतः धन का समान वितरण और काम के लिए प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार बहुत पहले से ही प्रजातान्त्रिक क्रिया-कलाप से बाहर कर दिए गए। औद्योगिक प्रजातंत्रों के

भीतर ही विचार क्रमशः स्वयं सक्रिय है जैसे भारत में जिस्ते समाजवादी नमूने के समाज या कल्याणकारी राज्य को स्वीकार कर लिया है।

राज्य का यह उत्तरदायित्व है कि वह नागरिकों को विविध कौशलों को सीखने के लिए सभी अवसर प्रदान करे जिससे वे अपनी जीविका कमा सकें। बेरोजगारी और निर्धारित मात्रा से कम रोजगार (under-employment) प्रजातन्त्र के निषेध हैं। इतना ही नहीं, बल्कि लोगों को अपनी शक्तियों एवं प्रवृत्तियों को लाभप्रद ढंग से उपयोग करने के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए। किसी व्यक्ति का रोजगार या जीविकोपार्जन का अभिप्राय मनमानी नियुक्ति से कदापि नहीं है। इसका अर्थ इससे कहीं अधिक—एक वाक्य में—कार्य, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता, समाज के लिए विविध प्रकार की सामग्री पैदा करने और उनके साथ सहयोग-पूर्ण ढंग से भाग लेने, सामाजिक सेवा और आत्मानुशासन की आदतों को विकसित करने तथा मनोरंजन और आत्मविस्तार के लिए स्वयं का बोध करने के लिए अवकाश प्राप्त करना और अधिक से अधिक कार्य और अवकाश—दोनों से स्थायी आनन्द प्राप्त करने का साधन है। आर्थिकता और नैतिकता समान रूप से आधारित कार्य का 'दर्शन' ऐसा ही है जो किसी भी प्रजातन्त्र का सार्थक घटक होता है। इसके शैक्षिक अभिप्राय 'नागरिकता के लिए शिक्षा' नामक अध्याय में उल्लिखित किये जा चुके हैं। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि बिना आर्थिक समता एवं समान अवसरों के मानव-शक्तियाँ बर्बाद एवं नष्ट होने के लिए बाध्य हैं। इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत विकास और सामाजिक प्रगति, विनाश और हिंसा के साथ असम्भावनीय है।

प्रजातन्त्र का अपेक्षित दार्शनिक एवं धार्मिक दायित्व

१—मानव व्यक्तित्व पवित्र होता है और जीवन में प्रतिष्ठा और आदर के लिए अपेक्षणीय है। यह पवित्र है क्योंकि स्वभाव में यह बौद्धिक और आध्यात्मिक है। इस विचार की आधारशिला बड़े-बड़े दर्शनों एवं धर्मों की नैतिक एवं धार्मिक मान्यताओं पर आधारित है। 'ईश्वर का पितृत्व और मनुष्य का भ्रातृत्व' की अवधारणा सभी भारतीय, मुस्लिम, प्राचीन ग्रीक और हिब्रू ईसाई परम्पराओं के लिए सर्वमान्य है और जब से दैवी गुणों में भाग ले रहे हैं, मानव गुण के प्रति विशिष्ट निष्ठा रखते हैं। विशेषतः बौद्ध और जैन धर्म सम्पूर्ण जीवों, जानवरों और साथ ही मानवों के प्रति अत्यधिक श्रद्धा का प्रदर्शन करते हैं। अनेक विचारक विश्वास करते हैं कि धार्मिक आग्रहों से कटा हुआ प्रजातन्त्र

कमजोर होने के लिए बाध्य है, क्योंकि मानव व्यक्तित्व की पवित्रता में यह धार्मिक विश्वास ही है जो मानव सम्बन्धों को भव्य बनाता है। जैसी कि परम्परावादी मार्टिनियर एडलर की स्थापना है “यदि प्राकृतिक नैतिक नियम नहीं हैं तो प्राकृतिक अधिकार भी नहीं है।” परम्परावादियों के अनुसार यह दयनीय स्थिति है कि राजनीति और शिक्षा से धर्म को क्रमशः हटाया जा रहा है; और आध्यात्मिक, नैतिक और धर्म-शास्त्रीय अध्ययनों को अलग शैक्षिक संस्थाओं में नष्ट किया जा रहा है जो अन्यथा प्रजातन्त्र के निर्माण को एक जीवित शक्ति बनाने के लिए सम्पन्न सम्भावनाएँ रखता है।

जर्मन दार्शनिक कॉन्ट ने नैतिक आदेश के लिए अपने बहुर्चचित सूत्र में मनुष्य की प्रतिष्ठा की वकालत की है कि “हमें इस प्रकार विचरण करना चाहिए कि मानवता को साधन के रूप में न समझ कर साध्य ही समझें, भले ही अन्य लोगों के सन्दर्भ अथवा व्यक्तिगत सम्बन्ध हों।” यहाँ तक कि मैकआइवर और सोरोकिन जैसे कुछ प्रसिद्ध समाजवादी विश्वास करते हैं कि एक स्वस्थ सामाजिक संगठन ईश्वर के पितृत्व और मनुष्य के भ्रातृत्व के धार्मिक विश्वास पर निर्भर करते हैं।^१

२—मनुष्य सामाजिक रूप से समान एवं स्वतंत्र पैदा हुआ है और उसी रूप में बने रहने के लिए अधिकार रखता है। वर्ग-परम्परा, यदि दैनिक जीवन में किसी तरह से टिकती है तो यह नैतिक सिद्धान्त के अधीन रखी जा सकती है। बुद्धिमत्ता, बुद्धि-रचनात्मकता, साहस इत्यादि व्यक्तित्व के साधनों में असमानता, समानता के मूलभूत सामाजिक मूल्य को हमेशा ग्रहण नहीं करती। अधिकतर समाज का नैतिक स्वर उस अनुपात से निर्धारित होता है जिसमें यह जन्म एवं धन की असमानता की विचारधारा को कम करने के लिए योगदान देता है। क्योंकि जन्म और सम्पत्ति की असमानताएँ अब मानवीय नियंत्रण से परे नहीं हैं। विभिन्न दिशाओं में मानसिक अक्षमताएँ शिक्षा की विविध उन्नत प्रणालियों एवं दरिद्रता को बेहतर उत्पादन और समान वितरण की गम्भीर सामाजिक क्रिया के द्वारा सुधारा जा सकता है। अवसरों की समानता फलतः प्रजातन्त्र का मूल लक्षण है।

३—स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है क्योंकि इसके बिना उसे आत्मानुभूति सम्भव नहीं। सराहनीय बात तो यह है कि आत्मानुभूति मनुष्य का उच्चतम उद्देश्य है। लेकिन स्वतन्त्रता से अनुज्ञप्ति का अर्थ स्वीकार करने की

१. देखिए, Robert E. Mason : Moral Values and Secular Education. p. 129, Columbia University Press, New York.

भूल नहीं करनी चाहिए। दूसरी ओर, यह दूसरों के कल्याण के लिए मानवीय एवं उचित विचारधारा तथा आत्म-नियंत्रण और उत्तरदायित्व की वृहत् राशि को ध्वनित करता है। शायद इसलिए नैतिक रूप से वंचित व्यक्ति स्वतंत्रता को आंदर के साथ ग्रहण नहीं कर सकता और कभी यह इतना महंगा पड़ता है कि पराधीनता उनके लिए अधिक स्वागत की वस्तु हो जाती है। और जैसा कि प्लेटो ने बहुत पहले कहा था कि बार-बार स्वतंत्रता की ओर मुड़ना न्याय के विचार द्वारा निर्देशित नैतिकता के उच्चादर्श को ध्वनित करता है।

यद्यपि विलियम जेम्स का प्रभावपूर्ण मुहावरा 'जीवित व्यक्ति की प्रभुसत्ता' पूर्ण निष्ठा के प्रति नामाभिहित है, फिर भी इसे स्थूल व्यक्तिवाद ही नहीं समझ लेना चाहिए। समाज अपने स्वाभाविक रूप में गत्यात्मक होता है जहाँ जनता के विचार एवं व्यवहार अन्तर-सम्बन्धित और अन्तर-क्रियाकारी हैं और यह नहीं हो सकता कि किसी के द्वारा अभ्यासित स्वतंत्रता का गुण शेष लोगों पर प्रभाव न डालता हो। इसीलिए तो समाज स्वतंत्रता का ईर्ष्यालु अभिभावक है और सावधानी से सचेत रह कर उसका मूल्य चुकाता है। यद्यपि घोषणाओं के सभी तौर-तरीकों से मानव अधिकारों पर जोर देना वांछनीय है। फिर भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि हर प्रकार से नैतिक दायित्व ही प्रजातन्त्र का गतिशील चक्र है।

स्वतन्त्रता सम्पूर्ण अधिकारों एवं कर्तव्यों के साथ सामाजिक सहभागिता के समान अवसर को ध्वनित करती है, क्योंकि ऐसी सहभागिता एवं अनुभव के माध्यम से ही मनुष्य स्वतन्त्रता को पूर्ण रूप से प्राप्त करता है। फलतः जातिवाद का और जातीय अवरोधों का कोई भी रूप मानवीय जीवन के आदर्श के विपरीत है।

४—प्रजातन्त्र जड़ता या अन्तिम स्थिति नहीं है। यह मानवीय प्रकृति का विकासमूलक परिणाम है जो निरंतर अपने विचार एवं क्रिया उपकरणों को पूर्ण करता है, अपनी सम्भावनाओं का उपयोग एवं विकास करता है, उसे पशुता के स्तर से उठाकर सामाजिक एवं आध्यात्मिक प्रक्रिया के मार्ग पर आगे बढ़ाता है। उसकी भाषा, प्रतीक एवं तर्क नैतिक एवं सामाजिक जीवन की पुनर्रचना के लिए उसी प्रकार के प्रकरण हैं जिस प्रकार शिल्पगत परिवेशों की रचना के लिए भौतिक उपकरण। उपयोगितावादी विचार का अनुगमन करते हुए इस बात का समर्थन किया जाएगा कि वह समाज आदर्शमूलक है जो 'सामाजिक चेतना' की छत्र-छाया या सामान्यहित में लगाई हुई बुद्धि के अन्तर्गत मानव सम्भावनाओं के पूर्णतम विकास की अनुमति देता है। स्वयं 'सामाजिक बुद्धि' का

विकास समाज का कार्य है जो संयुक्त सहभागिता और संयुक्त हिस्सेदारी के लिए नियंत्रित करता है, क्योंकि 'उद्देश्य के रूप में नैतिक नियमों के सामान्यीकरण' का वही एक मार्ग है। संयुक्त भागीदारी और सहभागिता से अलग होकर, नैतिकता शाब्दिक उपदेश मात्र रह जाती है और मानव अंतरंगता एवं मित्रता की जीवन्त गति से रिक्त हो जाती है। मानव-जीवन सर्वोपरि रूप में अनुभव पर जीवित रहता है और सामाजिक अनुभव अन्य सभी अनुभवों का आधार है, जैसे आध्यात्मिक, धार्मिक और कलात्मक। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण जो सामाजिक सम्बन्ध के गुण एवं तौर-तरीके के आधार पर विविध मानवीय अनुभवों की सीमा निर्धारित करता है, सत्य के उच्चतम अंश को ध्वनित करता है। अन्तिम विश्लेषण के परिणाम-स्वरूप साम्यवादी कला या प्रजातांत्रिक साहित्य की रचना मानव उन्नयनों के कल्याण के लिए सम्भव हो सकती है। क्योंकि वे सामाजिक वातावरण में ही अन्तर्निहित एवं विकसित प्रतीत होती हैं।

इस सामाजिक सहभागिता की अवधारणा में कोई भी एकरूपता या नियंत्रण लागू नहीं है, क्योंकि समूहों एवं समुदायों की विविधता अधिकतर विविध मानवीय योग्यताओं के विकास एवं अभ्यास के लिए अवसर प्रदान करने के लिए अनिवार्य समझी गई है। प्रजातंत्र सचमुच जीवन में विकास की क्रिया है। न ही व्यक्ति और न राज्य ही 'तुरन्त निर्मित तत्त्व' हैं। वे विकास के नैतिक नियमों द्वारा स्वयं को और विविध सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक संस्थाओं, जो ठीक साधन हैं और उद्देश्य नहीं हैं के माध्यम से शासित होते हैं। शिक्षा तब भी कुछ नहीं है यदि विकास नहीं है और प्रजातंत्र से उसका सामंजस्य नहीं है और वे एक दूसरे को एक साथ समृद्ध नहीं करते।

५. 'सामाजिक बुद्धि' और 'तर्क' से युक्त मनुष्य सर्वकल्याण के लिए पारस्परिक बातचीत द्वारा अपनी समस्याओं को हल करने में सक्षम होते हैं। अन्य स्वतंत्रताओं में वे विचार और क्रिया की स्वतंत्रता का अधिकार रखते हैं, जिससे सामाजिक गति को बदलने में समर्थ हो सकें। सामाजिक विषयों में जहाँ निर्विरोधता सम्भव नहीं है, बहुमत की इच्छा का समादर किया जाना चाहिए, यद्यपि अल्पमत केवल एक व्यक्ति की इकाई तक भी अपने कथन और दूसरों को अपने चिंतन और रहन-सहन के प्रति विश्वस्त करने का पूर्णरूप से अधिकारी है। अल्पमत के लिए राजनीतिक समादर और सुविधाएँ मानव व्यक्तित्व के 'पवित्रता सिद्धान्त' में गहराई से अन्तर्निहित है।

किसी निश्चित सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हिंसा और दमन

किसी भी रूप में कितने ही प्रशंसनीय हों प्रजातांत्रिक दर्शन के अत्यधिक विरुद्ध पड़ते हैं। और यह एक संकटमय स्थिति है, जहाँ यह उन दर्शनों से अपना नाता तोड़ लेता है जो आत्मानुकूल उद्देश्यों को लक्ष्य तो बनाते हैं—लेकिन साधन के बारे में विवेकहीन हैं—और समझते हैं कि कोई भी साधन, यदि उद्देश्य प्राप्ति में सफल होता है, तो अच्छा है। प्रजातांत्रिक दर्शन घोषित करता है कि विभिन्न साधन विभिन्न उद्देश्यों को प्राप्त करते हैं, क्योंकि साध्य और साधन अलग नहीं हैं। वे समानान्तर हैं। हिंसा द्वारा लाया गया कोई भी सामाजिक सुधार मानव स्वभाव में इसके साधनों के बृहत् दोषों को रखने के लिए बाध्य है, जो शीघ्र ही हिंसक विषयों में विकसित हो जाता है, और इस प्रकार कुचक्र का निर्माण होता रहता है। युद्ध से युद्ध समाप्त करना इस दर्शन के अनुसार एक भ्रम है, क्योंकि युद्ध अहिंसा पद्धति से ही समाप्त किया जा सकता है। क्योंकि यदि मानवीय आवेग सक्रिय हो जाता है तो वह शान्त होने के बजाय अधिक आवेग एकत्र करता है। इस पर भी यदि कोई तर्क करता है कि यह लक्ष्य-प्राप्ति के बाद समाप्त होकर शान्त हो जाता है तो वह अवश्य ही स्मरणीय है कि यह पहले ही उपचेतन में सक्रिय रहा है और किसी समय भी बदले की भावना से पुनः लौट सकता है।

इस प्रकार प्रजातंत्र मानवतावाद की नैतिकता है और मात्र अस्थायी राजनीतिक संस्था से इसकी समानता नहीं की जानी चाहिए। यह आर्थिक प्रजातंत्र के साथ-साथ सामाजिक और नैतिक प्रजातंत्र है। सचमुच यह एक जीवन-शैली है। सर्वाधिकारवादी, अन्तर्राष्ट्रवादी या साम्यवादी दर्शनों से यह सर्वथा भिन्न है जो कुछ निश्चित उद्देश्य के लिए नियंत्रण एवं प्रतिबद्धता के माध्यम से जनता का उपयोग करने एवं कुछ लोगों के हाथों में शक्ति संकेन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वे मानव व्यक्तित्व को स्वतंत्रता के अधिनायकत्व के ढाँचे में कठोरतापूर्वक जमा देते हैं। यह इन दर्शनों से इसमें भी भिन्न है कि यह दमन के किसी रूप या हिंसा को निर्बल कर देता है।

अपेक्षित शैक्षिक दायित्व

उपरोक्त कथन से कुछ शैक्षिक परिणामों एवं निहितार्थ की प्राप्ति होती है। जब तक शिक्षा प्रजातंत्र के आधारिक दर्शन के अनुकूल नहीं होती, यह प्रभावकारी प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण एवं सद्गुणों का अर्जन नहीं कर सकती। कोई भी प्रणाली, स्पष्ट रूप से यह कितनी ही व्यापक और भव्य हो, यदि मूल तत्त्वों की उपेक्षा करती

है तो सफल नहीं हो सकती। सामान्य रूप में प्रजातांत्रिक शिक्षा के मूल लक्ष्य इस प्रकार हैं :

(क) प्रेम, सहयोग और समन्वय के आधार पर घर और समाज की योग्य सदस्यता का विकास करना।

(ख) व्यावसायिक योग्यता और व्यावसायिक नैतिकता का विकास करना।

(ग) अवकाश प्राप्त करने के लिए क्षमता का प्रशिक्षण और आत्म-उत्थान और मनोरंजन के सर्वोत्तम लाभ के लिए इसका उपयोग।

(घ) शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को उन्नत करना।

(ङ) बुद्धि और प्रतिभा को प्रशिक्षित करना।

(छ) विविध क्षेत्रों में नेतृत्व में प्रशिक्षण।

प्रजातांत्रिक शिक्षा का प्रथम दायित्व मानव व्यक्तित्व के लिए शिष्यों के मन में वास्तविक समादर उत्पन्न करना है। उचित जीवन का आधारीक सद्गुण बचपन ही से निर्मित किया जाना चाहिए। शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों के समूह एवं अन्तर-समूह को इस प्रकार निर्देशित एवं संगठित करें कि वे अपने अनेक क्रियाकलापों की गति में, दोस्ती एवं बन्धुत्व की स्वस्थ भावनाओं का अनुभव कर सकें और आदान-प्रदान के माध्यम से एक दूसरे का आदर कर सकें। हमें यह कभी भी भूलना नहीं चाहिए कि मानव व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा नाजुक अनुभूतियों पर निर्भर करती है और शैक्षिक संस्थाओं में कोई भी ऐसी चीज विकसित नहीं होने देनी चाहिए जो इन अनुभवों का विध्वंस करती हो। सभी छात्रों से एक समान व्यवहार करना चाहिए और जातीय, स्थानीय, बौद्धिक और व्यक्तिगत स्तरों के आधार पर भेदभाव पूर्ण विवेचन नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण बालकों के मन पर असर डालता है। बालकों को हमेशा साधन के रूप की अपेक्षा साध्य के रूप में व्यवहृत करके शिक्षकों को उत्तरदायित्व का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए। वे उन्हें कोमलता से व्यवहार में लाएँ और स्वयं विकसित होने में निर्देश दें। बालकों की वृद्धि एवं क्रियाकलापों में शिक्षकों की ओर से अनावश्यक और अबौद्धिक हस्तक्षेप, उन पर अपने व्यक्तित्व को आरोपित करने का गलत उत्साह, या किसी साधन द्वारा उनके व्यक्तित्व को अपमानित करना, शीघ्र ही रोका जाना चाहिए। क्योंकि अनादर का वातावरण एवं मानव व्यक्तित्व के लिए अल्प देखरेख, सिर्फ मानवीय समस्याओं में व्यापक भ्रष्टाचार ही ला सकती है जिसका राजकीय सत्ता का कोई नियंत्रण अवरोध नहीं कर सकती। इसी से पता लगता है कि बौद्धनीतिशास्त्र में मैत्री या भ्रातृत्व

के मूल सिद्धान्त को क्यों महत्त्व दिया गया है। प्रेम और बन्धुत्व लगभग सभी धर्मों के सामान्य विषय हैं क्योंकि वे मानवजीवन के लिए आधारिक तत्त्व हैं और किसी भी तरह उस सीमा तक व्यापक अर्थ में शिक्षा अवश्य ही धार्मिक नींव पर आधारित होनी चाहिए। मनुष्य के बन्धुत्व में विश्वास, प्रजातांत्रिक द्वन्द्व का प्रथम न्यायवाक्य है, जिसके बिना कोई परिणाम सम्भव नहीं है। इसलिए प्रजातांत्रिक शिक्षा न केवल इसी आधारिक मूल्यों में ही विश्वास उत्पन्न करे, बल्कि यह देखने के लिए व्यावहारिक पद्धतियों एवं तकनीकों का निर्माण करे कि विश्वास स्वयं को जीवन के न्यायालय में उचित ठहराता हो।

परिणाम निकलता है कि शैक्षिक संस्थाओं में शैक्षिक प्रक्रिया प्रजातंत्र के मूलतत्त्वों के चारों ओर ही विकसित हों। मानवता को ठीक परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए विद्यार्थियों की सहायता करना प्रथम अनिवार्यता है। जंगली जीवन से लेकर सम्यता तक मनुष्य का इतिहास एवं प्रजातांत्रिक प्रयोगों द्वारा अभिनीत भूमिका का ज्ञान उन्हें होना चाहिए। मानवता सर्वोत्तम शुभ की खोज में दुःख और सुख की एक सामान्य सहभागिता एवं एक संयुक्त उद्यम है। इस प्रकार युग-युगान्तरों तक छात्रों को मनुष्य की भौतिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों को देखने के लिए निर्देशित किया जाना चाहिए। मनुष्य के भाग्य में बिना इस ऐतिहासिक और नैतिक बोध के, सामाजिक जानकारी ग्रामक हो सकती है। आपके साथ ऐसी कुप्रतिभाएँ हैं, जो शिक्षा की अन्यथा समर्थ प्रणाली की उपज हो सकती हैं, लेकिन परवर्ती रूप से मानवीय प्रयोजन के तत्त्वों से रिक्त ही हों। यहाँ तक कि सनातन मूल्यों में कठोर अनास्थावादी परन्तु दूसरी तरह से प्रजातांत्रिक होता हुआ भी व्यक्ति इस बात को मानने के लिए बाध्य है कि मानवता की अगाध स्वरूप जो वस्तुतः अपने आकार को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए चाहे कितने ही उप-मूल्यों की वह खोज कर ले और अन्वेषण कर ले जो हर तरह से एक सामाजिक आश्रय मूल्य है।

अतः मात्र पांडित्य नहीं बल्कि उससे भी अधिक नागरिकता शिक्षा का प्रयोजन है। जीना और सीखना साथ-साथ चलते हैं और शिक्षण का उद्देश्य डिवी के शब्दों में 'अनुचित क्रिया' को उन्नत करना है। सफल शिक्षा की एक कसौटी, सुन्दर अनुभूतियों, उपयुक्त दृष्टिकोणों और सामाजिक मूल्यों की सराहना के साथ सामाजिक क्रिया के प्रति इसकी क्षमता को उन्नत करना है। शिक्षण 'व्यावहारिक वातावरण' से व्यक्ति की अन्तर्क्रिया और उसमें भागीदारी का परिणाम है जिसके प्रति यह सम्वेदनशील होता है। इस प्रकार आत्मा और आत्म-साक्षात्कार रहन-

सहन के परिणाम हैं। इसलिए विद्यालय का एक प्रमुख उद्देश्य है छात्रों को आत्म-साक्षात्कार में सहायता देना।

प्रजातांत्रिक शिक्षण एक स्थायी सूत्र की यांत्रिक आवृत्ति नहीं है। यह व्यक्ति की वातावरण से अन्तर्क्रिया में एक विवेकपूर्ण और रचनात्मक गत्यात्मक साधन है, सोद्देश्य योजना है, एकदृढ़ क्रिया और सामाजिक गति की समीक्षा करने, उन्नति करने एवं निर्देशित करने के लिए विचारपूर्ण चिन्तन है। प्रजातांत्रिक शिक्षण एक साथ आत्मोन्नति, व्यक्तिगत आनन्द और समाज का सुख है।

शिक्षण की प्रक्रिया की यथातथ्य प्रकृति को समझना शिक्षक के लिए अनिवार्य है। शिक्षण व्यक्तित्व के किसी एक विभाग जैसे मस्तिष्क 'शुद्ध-बुद्धि' आदि की क्रिया नहीं, विभाग मनोविज्ञान की गति बहुत पहले समाप्त हो चुकी है। यह सम्पूर्ण व्यक्तित्व की क्रिया है, जिसमें अनुभूतियाँ और भावनाएँ कम महत्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि सभी व्यवहार के आधार हैं। स्वभाव की भावात्मक लय या भावात्मक यंत्र का नियंत्रण किए बगैर मानव क्रियाएँ निश्चित प्रयोजन के प्रति निर्देशित नहीं की जा सकतीं क्योंकि यह तय है कि अन्तर्निहित अनुभूतियाँ एवं भावनाएँ एक सुदृढ़ निर्देशक एवं विनाश करने की शक्ति से युक्त होती हैं। सामान्य रूप में शैक्षिक प्रक्रिया के माध्यम से अनुभूतियों एवं भावों को न केवल कला-शिक्षा, काव्य-संगीत और साहित्य के लिए ही बल्कि समान रूप से सामाजिक शिक्षण के लिए भी नियंत्रण करना अनिवार्य है।

अनुभूतियाँ, भाव और मनोभाव मानव व्यक्तित्व के स्वयं सम्पूर्ण अलग उप-निवेश में निवास नहीं करते। वे व्यक्तित्व की अगणित शक्तियों की अन्तर्क्रिया के परिणाम हैं जैसे तथ्यों, इच्छाओं, प्रवृत्तियों, तर्क, जीवन के असाधारण अनुभवों और अचेतन का ज्ञान। जिस प्रकार व्यक्तित्व अनुभूतियों एवं भावों को प्रभावित करता है, वे भी व्यक्तित्व की शेष शक्तियों को प्रभावित करते हैं। इसीलिए यह देखना शिक्षक का कार्य है कि व्यक्तिगत मामलों में कौन से मर्मस्थल पर आघात किया जाय जिसके फलस्वरूप छात्र सुसंगठित व्यक्तित्व निर्माण में सम्यक् दिशा प्राप्त कर सकें। इसका अर्थ यह है कि एक सन्विस्थल अवश्य होना चाहिए जिसके प्रति उनकी शक्तियाँ, एक दूसरे की एकता में उन्मुख हों। सामान्यतया सन्विस्थल को दार्शनिक चिन्तन एवं स्वस्थ नगरीय प्रवृत्तियों के द्वारा समायोजित किया जा सकता है।

जबकि दार्शनिक चिन्तन प्रौढ़-मन को ध्वनित करता है, तो प्रवृत्तियाँ बहुत पहले ही मनुष्यों से अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं। इसलिए यह देखना बहुत

बड़े महत्त्व की बात है कि प्रजातंत्र के प्रति सम्यक् प्रवृत्तियाँ निर्मित कर ली गई हों जिससे ज्ञान के बिखराव एवं अनुभवों के असंयुक्त टुकड़े प्रजातांत्रिक व्यवहार के सुगठित ढाँचे में निबद्ध कर लिये जाएँ। दृष्टिकोण को सहज रूप में कक्षा में या कक्षा से बाहर शाब्दिक अध्ययनों, विवेचनों के भीतर और बाहर अन्तरंग व्यक्तिगत अनुभवों, सामाजिक वातावरण और परम्पराओं और शिक्षक के प्रत्यक्ष संकेतों द्वारा निर्मित किया जा सकता है।

पूर्वोक्त विवरण रचनात्मक क्रीड़ा, सामूहिक दायित्व, एवं अन्तर-समूह, नैतिकता के माध्यम से, रुचियों की बहुविविधता के चारों ओर विकसित व्यक्तिगत क्षमताओं के पूर्ण विकास और संगठन को ध्वनित करता है। रुचियों एवं क्रीड़ाओं को कुछ मार्गों तक सीमित नहीं रखना चाहिए बल्कि जितना सम्भव हो सके, उन्हें बहुविविध होना चाहिए, जिससे स्थितियों एवं अनुभवों की नवीनता एवं विविधता विचार को चुनौती देती रहें। इसके अतिरिक्त, विद्यालय में, सभी सामाजिक सम्बन्धों में, 'स्वतंत्र एवं समुचित आदान-प्रदान' होना चाहिए, जिससे उस तत्त्व के अभाव में किसी प्रकार की वर्ग-चेतना विकसित न होने पाए।^१ न केवल रुचिगत विविधता ही अपेक्षित है, बल्कि आपसी आदान-प्रदान की नीति भी, क्योंकि ऐसा व्यापक रूप से पारस्परिक अनुभव के द्वारा ही व्यक्तित्व के सामान्य तत्त्व निर्मित करने में उत्तरदायी हैं। इसलिए अन्य लोगों के अनुभवों को अस्वीकारना या किसी तरह उनकी परीक्षा करने से इन्कार करना, कृत्रिमता है और प्रजातंत्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। पारिवारिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अलगाववाद ने पहले ही सामाजिक एकता की भावना को अत्यधिक हानि पहुँचा दी है। अलग बने रहने की अनिवार्यता या किसी कारण—हीनता, अक्खड़पन, जाति अशुद्धता, खो देने का भय, गुटवादिता और टोली अप्रजातंत्रीय है जिससे उनपर नियंत्रण रखना अनिवार्य है। प्रजातंत्र सीमाओं से परे है। विविध सामाजिक समूहों के बीच स्वतंत्र अन्तर्क्रिया के माध्यम से निर्मित स्थितियों एवं समस्याओं के नए मार्गों पर आश्रित, ये स्वतंत्र सामाजिक साहचर्य एवं निरंतर समायोजन की माँग करता है।^२

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अलगाववाद और स्तरनिर्माण की

१. देखिए, John Dewey : Democracy and Education, p. 98, The Macmillan Co., New York.

२. वही, पृ० ९९।

प्रवृत्तियों के विरुद्ध सजग रहने में शिक्षकों का बहुत बड़ा दायित्व है। बृहत् रुचियों के विकसित करने एवं विद्यालय और समुदाय में प्रजातांत्रिक उपकरण एवं क्रीड़ा माध्यम से उनमें पारस्परिक सहभागिता के द्वारा बालकों के लिए उपयुक्त अवसर एवं उद्दीपन प्रदान करने चाहिए क्योंकि लोगों को प्रजातंत्र के लिए प्रजातंत्र से बाहर शिक्षित नहीं किया जा सकता। हो सकता है, यह स्वयं-सिद्ध प्रतीत हो, फिर भी यह समस्त वार्तालाप को शिक्षकों के समक्ष एक निष्कर्ष पर केन्द्रित करती है।

प्रजातांत्रिक शिक्षा अपने सामाजिक परिणामों के कारण स्वयं को बाह्य व्यवहार से सम्बद्ध रखती है। यह सतही अनुभूतियों, भावों, मनोभावों और प्रवृत्तियों से अत्युत्कण्ठित होती है क्योंकि वे व्यवहार को प्रभावित करते हैं। लेकिन गहन-तर नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर इसकी पकड़ गहरी होती है क्योंकि वे सामाजिक जीवन के आधार हैं जिनके बिना अनुभूतियों एवं क्रियाओं का कोई भी ढाँचा क्षत-विक्षत हो जाता है। शिक्षक का दायित्व वातावरण और स्थितियों का निर्माण करना है, जो छात्रों के बीच सम्यक् इच्छाओं के चुनाव एवं उन्हें न्यायपूर्वक नियंत्रित करने की प्रवृत्ति का विकास करती हैं। आत्मचिंतन एवं आत्मानुशासन शिक्षा के कष्टसाध्य उद्देश्य हैं। इन नैतिक सद्गुणों का अभ्यास किए बगैर प्रजातांत्रिक आदर्शों निर्मित नहीं की जा सकतीं क्योंकि इच्छाओं में अनियंत्रित और आत्मनियंत्रण में कमजोर व्यक्ति, आप कुछ भी कहें, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, या स्पष्टतया और वैधानिकतया प्रजातांत्रिक यंत्र का निर्माण करके, दूसरों को घराशायी करने के लिए बाध्य हैं। प्रजातांत्रिक रहन-सहन की अन्तिम नैतिकता आत्मानुशासन या नैतिक मूल्यों के रूप (बाह्य सरकारी यंत्र आदि) की अपेक्षा गुण में अन्तर्निहित होती है। क्योंकि यह भी सम्भव है कि नाम और नियम से एक-एक समाज प्रजातांत्रिक हो सकता है, जहाँ कुछ थोड़े से लोग अज्ञान, गरीबी और सामाजिक जड़त्व से लाभ उठाकर कार्यों का इस प्रकार प्रबन्ध कर सकते हैं कि वे स्वयं नैतिक सद्गुणों के अभाव में विधान की एक शृंखला को क्रियान्वित करने में सफल हो जाते हैं, जिससे आधार्मिक मानव-मूल्यों को अधिक क्षति पहुँचती है। यही है वह तस्वीर का दूसरा रुख जो 'अतिमानव सिद्धान्त' के सुप्रसिद्ध लेखक जर्मन दार्शनिक नीत्शे के उपहास्य के अनुरूप है जिसके अनुसार प्रजातंत्र सिर झिन्ने की एक सनक है। यद्यपि नीत्शे ने सूत्र को भिन्न संदर्भ में प्रयुक्त किया है जिसके साथ हम किसी तरह भी सहमत नहीं हैं फिर भी यह उपयुक्त प्रतीत होता है कि

प्रजातंत्र आधारिक मानव-मूल्यों से विमुख होकर 'सिर गिनने की एक सनक' के अलावा कुछ भी नहीं है।

छात्रों में उच्च नैतिक जीवन का उन्नत एवं स्थायी रखना शिक्षक का कष्ट-साध्य दायित्व है, जो विद्यालय जीवन तक ही सीमित न रह कर, सम्पूर्ण जीवन तक स्थायी रहने के लिए परिचालित किया गया है। इस प्रकार नैतिकता किसी तरह भी अधिकारी शब्द की उत्पत्ति से सम्बन्धित नहीं बल्कि यह एक सामूहिक नैतिकता, सार्वभौमिक रूप से अवबोधनीय एवं स्वीकार्य होती है। उसे जीवित वास्तविकता बनाने के लिए शिक्षक विद्यार्थियों के मन में मानवता के महत्तम को प्रेरित करके, उसे सुरक्षित रखने के लिए बाध्य हैं, साथ ही उनकी महत्तम अमानवीयता को उनसे बाहर निकालने के लिए कटिबद्ध हैं।

प्रजातंत्र की सेवा में शिक्षा स्वतंत्र चिंतन की प्रवृत्ति को अवश्य विकसित करे। छात्रों को तथ्य जानने तथा उनकी धैर्यपूर्वक आलोचनात्मक विश्लेषण करने, मूल्यों के संदर्भ में उन्हें अनुमानित करने तथा उनमें से मूल्यों को निकालने के लिए उत्साहित करना चाहिए। उन्हें वैज्ञानिक पद्धति एवं तार्किक चिंतन में समुचित प्रशिक्षण की अपेक्षा है। शिक्षकों को चाहिए कि वे आवश्यकता के अनुसार छात्रों के सामने तथ्यों को उपस्थित करें और उनसे कहें कि वे स्वयं उन तथ्यों का पुनर्निरीक्षण करें। उन्हें किसी भी तरह तैयार या बना-बनाया तथ्य न दें जो उनकी मानसिक उर्वरता को उनसे छीनने के लिए बाध्य है। यदि परिणामों को प्रदर्शित करना ही है, तो उन्हें जीवन-चिंतन के अन्त में प्रस्तुत किया जाना चाहिए और छात्रों को विचार-विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया स्पष्ट कर देनी चाहिए जिससे विचार की अपनी प्रक्रिया के माध्यम से वे अन्तर-सम्बन्धित तथ्यों एवं परिणामों का परीक्षण कर सकें। इस प्रसंग में डिवी के प्रयोगवाद ने प्रजातांत्रिक शिक्षा के लिए एक महान् संदेश प्रस्तुत किया है जो किसी पूर्वकल्पित सिद्धान्त के अधीनस्थ नहीं बल्कि मात्र तथ्यों से आरम्भ करके व्यावहारिक समस्याओं के हल तक पहुँचता है। पुनः अपनी बात पर ध्यान केन्द्रित करते हुए गुण-दोष विवेचन के माध्यम से छात्र शीघ्रतापूर्वक निर्णयों से दूर रहने के लिए अनुप्रेरित हों, कि ज्ञान व्यापक है और इसका परीक्षण छात्रत्व की एक लम्बी अवधि एवं एक प्रौढ़ चिंतनमूलक अनुभव की माँग करता है। और यह नियंत्रित अभिव्यक्ति के उत्तर-दायित्व से समस्या को सम्बद्ध करता है। जबकि अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य प्रजातंत्र का स्वीकृत मूल्य है, अनेक प्रजातांत्रिक समूह अपने सदस्यों को यथा अवसर बोलने की शिक्षा देकर पर्याप्त सेवा करेंगे, जिससे अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य का आधारिक

मूल्य ठीक अर्थ एवं उद्देश्य में परिपूर्ण हो सके। इस बात को जीवन के आरम्भ में छात्रों को सिखाने की जरूरत है, जिसे सामाजिक शिष्टता और सलज्जता का बोध कम से कम मानव सम्बन्धों को नियंत्रित कर सके और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य की गलत प्रतिष्ठा या मात्र सनक के द्वारा सामाजिक संगठन में कुप्रवृत्ति निर्मित न हो जाए। एक प्रजातांत्रिक शैक्षिक संस्था में, समिति बैठकें, कक्षा या विद्यालय चुनावों जैसे अनेकों अवसर हो सकते हैं जब कि छात्र कितनी ही जीवन्त समस्याओं पर गम्भीर मतभेद रख सकते हैं और विरोध प्रदर्शन के लिए सुदृढ़ तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं। यह मार्ग तब तक उपयुक्त है, जब तक कि इसे प्रजातांत्रिक विधि के नियमों के अन्तर्गत ही किया जाता है। छात्रों को प्रजातांत्रिक चिन्तन की कला सिखलाने में शिक्षकों का बड़ा भाग होता है। स्वयं उन्हें सर्वप्रथम एक उदाहरण प्रस्तुत करना पड़ता है। यदि शिक्षक अपने संघ एवं विभाग की बैठक में, या छात्रों के साथ अपने बैठक में, स्वयं प्रजातांत्रिक चरित्र को नहीं रख पाते, तो अपने छात्रों से इससे अधिक आशा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि स्पष्ट रूप से शिक्षक का व्यक्तित्व अपने छात्रों के शैक्षिक एवं सामाजिक वातावरणों के एक अविकांश भाग को निर्मित करता है।

स्वतंत्र चिन्तन को ऐसा ध्वनित नहीं करना चाहिए कि यह व्यक्तिवादी चिन्तन है। सचमुच इसका अर्थ समूह-चिन्तन है; जैसा कि अलेक्जेंडर मिक्लेजान ने बार-बार उल्लेख किया है, “प्रजातंत्र की कला स्वतंत्र रूप से सामूहिक ढंग से सोचने की कला है।” न ही इसे यह ध्वनित करना चाहिए कि स्वतंत्र रूप से सोचने में समर्थ होने के लिए हम दूसरों के विचारों या संकेतों के प्रति अपने मस्तिष्क को बन्द रखें। वास्तव में सभी विचारों के लिए मन को सांगोपांग रूप से स्पष्ट होना चाहिए, जिससे संकीर्ण प्रतिबन्धता प्रवेश न करने पाए। दूसरों के दृष्टिकोणों को धैर्य पूर्वक सुनने की कला, उनके मतों का समादर करना और यदि वे बहुमत में हैं तो निस्सूह भाव से उनके अधीन होना और बहुमत के मामले में, अल्पमत की इच्छाओं एवं दृष्टिकोणों का आदर, प्रजातांत्रिक शिक्षा की अनिवार्य विशेषताएँ हैं।

स्वतंत्र चिन्तन सभी सामाजिक संघर्षों का नियोजन करने के लिए सहबोधी विचार के माध्यम से वैज्ञानिक, तार्किक एवं सामंजस्यपरक पद्धतियों को ध्वनित करता है। इसका व्यावहारिक प्रयोजन होता है और जीवन की गति के अवसर होने पर भी वह निष्क्रिय होकर नहीं रहता। यही जीवित प्रक्रिया को नियंत्रित करता है, रचनात्मक मानवीय शक्तियों को मुक्त करता है और समाज में संगति

बिठलाता है। प्रजातंत्र में विचार-स्वातंत्र्य सम्बन्धी ऐसी अवधारणा है और वही स्वतंत्र-क्रिया के आधार एवं दायित्व हो सकता है, जिसकी अनुपस्थिति में अव्यवस्था अवश्यम्भावी है।^१

शिक्षक, यदि वे सफलतापूर्वक विवाद-समूह का नेतृत्व तथा अपने छात्रों को चिंतन-कला में उन्मुख कर सकें तो अत्यधिक योग दे सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रजातांत्रिक जीवन की कुछ व्यावहारिक समस्याओं को लिया जा सकता है और कार्यों की गति में उन्नति लाने के लिए रास्ते खोजे जा सकते हैं। जहाँ कहीं आवश्यक हो, शिक्षक तार्किक हेतुभासों को संकेत से बतलाएँ, जिन्हें छात्र देखने में स्वयं असमर्थ रहें। उसी प्रकार का चिंतन जो दैनिक पत्रों में प्रकाशित होता रहता है, समुचित रूप से दिखलाया जा सकता है। किसी दूसरे कौशल की तरह स्वतंत्र-चिंतन अभ्यास के द्वारा ही सीखा जा सकता है। इसके लिए प्रजातांत्रिक विद्यालय में प्रचुर अवसर एवं नेतृत्व अवश्य होना चाहिए, क्योंकि सिर्फ तभी रचनात्मक मन एवं रचनात्मक रहन-सहन एक वास्तविकता हो पाता है। प्रजातांत्रिक शिक्षा-प्रणाली में पाठ्यक्रम के मूल लक्ष्य व्यापक रूप से इस प्रकार गिनाए जा सकते हैं :

१—बालकों को अपने सम्बन्ध में तथा अपनी जरूरतों, इच्छाओं और समस्याओं एवं साथ ही परिवार के कार्यों एवं समस्याओं को, विद्यालय एवं समुदाय को समझने योग्य बनाना, संक्षेप में उनकी सामाजिक बौद्धिकता को प्रखर करना।

२—उनके सामाजिक कार्य को उन्नत करना।

३—उन्हें विविध कौशलों में प्रशिक्षित करना, और उन्हें प्रकृति-विज्ञानों एवं यांत्रिकी एवं उनके सामाजिक उपयोग की समझ देना।

४—सामाजिक विज्ञानों एवं व्यावहारिक कार्य-क्षेत्रों के विषय में पाठ्य-क्रमों के माध्यम से समाज एवं उसके कार्य की समझ में उन्हें प्रशिक्षित करना।

प्रजातंत्र के लिए यही हमें शिक्षकों के प्रशिक्षण की समस्या के निकट ले आता है।

शिक्षकों का प्रशिक्षण

शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए छात्र कर्मचारियों का दाखिल करना एक सजग

१. देखिए, John Dewey : Education To-day (Joseph Ratner, Editor), p. 62, G. P. Putnam's Sons, New York.

सुनियोजित प्रक्रिया की प्रथम अविचार्यता है। शिक्षण एवं शब्दों के व्यापक अर्थ में चरित्र-निर्माण के लिए क्षमता, योग्यता आदि उनके चुनाव में निर्धारित घटक होने चाहिए—विश्वविद्यालयीय सर्टीफिकेट एवं डिप्लोमा के लिए जब तक शुद्ध बौद्धिक योग्यता से सामाजिक उपयोगिता को सम्मिलित करते हुए आधार व्यक्तित्व के सर्वांग विकास तक नहीं बदल जाते, तब तक यही क्रम अनिवार्य है। उदाहरण के लिए एक विरक्त बौद्धिक, जिसे न सामाजिक सहानुभूति है, न बालकों एवं युवकों के प्रति धैर्य, एक प्रजातांत्रिक विद्यालय में अधिक उपयोगी नहीं हो सकता, चाहे उसकी बुद्धि को अन्यथा कितनी ही प्रधानता क्यों न दी जाय।

शिक्षकों की प्रशिक्षण संस्थाएँ स्वतंत्र शिक्षक-शिक्षार्थी मिश्रण के जीवन्त वातावरण प्रदान करें, जिससे छात्रों को अन्तरंग सम्बन्धों से प्राप्त अनुभवों को सीखने के लिए सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हो। उन्हें अपने एवं सामाजिक अनुभव के विषय में सोचने के लिए महत्तम अवसर प्राप्त होने चाहिए। शिक्षण में परम्परागत पद्धति का अभ्यास पर्याप्त नहीं है। सामाजिक कार्य में सहभाग के माध्यम से वास्तविक कार्य-क्षेत्र और सामाजिक समस्याओं का ज्ञान, उदाहरण के लिए जैसे भारत सेवक समाज द्वारा किए गए कार्य, उनकी शिक्षा का एक अविभाज्य भाग निर्मित करें। उनके अतिरिक्त एकादमिक कार्य स्पष्ट रूप से विभिन्न एवं उत्तेजक हों और ऐसी तमाम संस्थाओं एवं स्थानों में गमन एवं भ्रमणों को शामिल कर सकते हैं जो स्वस्थ सामाजिक अनुभवों के संचालक हों। प्राचीनतम शुद्ध रूप से शास्त्रीय पद्धतियों की अपेक्षा श्रम-कल्याण-कार्य, कारखानों के कार्य एवं विविध समुदाय-योजनाओं में सहभागिता एवं उनका प्रथम कोटि का ज्ञान प्रजातांत्रिक शिक्षा के उद्देश्यों की सेवा के लिए बेहतर समझा गया है।

शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में जीवन को अत्यधिक आशय के साथ प्रजातांत्रिक रूप से संगठित करने की जरूरत है, क्योंकि प्रशिक्षकों की आदतें अन्ततोगत्वा विद्यालय में बालकों पर प्रभाव डालती हैं, जहाँ उन्हें बाद में पढ़ाना पड़ सकता है। किस प्रकार की प्रजातांत्रिक संस्थाओं की जरूरत है, इस अध्याय के अन्त में यह विवेचित किया जाएगा, यद्यपि वहाँ उनको विभिन्न संदर्भ में देखा गया है।

पाठ्यक्रम की अवधारणा संकीर्ण नहीं होनी चाहिए। इसे सामाजिक एवं शैक्षिक क्षेत्रों में जैविक एवं सामाजिक विज्ञानों से लेकर आधुनिक अनुसंधानों तक व्यावसायिक विषय वस्तु के ज्ञान की विस्तृत शृंखला के लिए अवश्य ही अव-

सर बनाना चाहिए। इसे सामाजिक समस्याओं, प्रवृत्तियों एवं विवादों को चतुर्दिक दृष्टि से देखने में उनकी योग्यता को प्रदर्शित किया जाना चाहिए, साथ ही प्रजातांत्रिक सामाजिक क्रिया के शिल्प में उन्हें निर्देशित करना चाहिए। इसलिए शिक्षण परिस्थितियों की विविधता से निपटने के लिए इसे स्पष्टतः बहुमुखी, नम्य, विकासशील एवं रचनात्मक होना चाहिए जिसका प्रशिक्षार्थी को बाद में सामना करना पड़ेगा। मानवीय सम्बन्धों के अन्य क्षेत्रों की भाँति शैक्षिक संस्थाओं में अकथनीय परिस्थितियाँ, चाहे शिक्षण की गति में या छात्रों के संगठित होते हुए जीवन में, उत्पन्न होती रहती हैं। यद्यपि प्रशिक्षार्थियों का पाठ्यक्रम समस्त आवश्यकताओं के लिए रामबाण नहीं हो सकता परन्तु उनकी 'सामाजिक बुद्धि' को प्रशिक्षित करने के लिए इसे अवश्य ही प्रभावोत्पादक होना चाहिए। इस प्रकार प्रशिक्षित वे, शिक्षक के रूप में, विद्यालयों में बालकों की सामाजिक सम्भावनाओं एवं अग्रगामी प्रवृत्तियों को स्वस्थ दिशा देने के साधनों और मार्गों तथा नियमों को खोजने में समर्थ होंगे।

इसके द्वारा प्रशिक्षार्थियों की सामाजिक उपयोगिता एवं व्यावसायिक योग्यता का स्वतः विकास होता है यदि पाठ्यक्रम तैयार करने में उनका सहयोग प्राप्त किया जाए। वह उन्हें उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं दायित्व के प्रति सचेत करता है और इसी के साथ-साथ सुनिश्चित एवं स्थायी विचार व योजना को नियोजित करता है जिसे शिक्षक के रूप में, वे शीघ्र ही आवश्यक पाएँगे। इसके अतिरिक्त, पाठ्यक्रम निर्माण में उनका सहभाग, उनकी आवश्यकताओं, समस्याओं और व्यक्तित्व के विविध स्तरों से सम्पूर्ण कार्यक्रम को सम्बद्ध कर देता है। यह शिक्षक एवं शिक्षार्थी को समान रूप से शिक्षण की प्रक्रिया में विकसित करने का अवसर प्रदान करता है। पाठ्यक्रम निर्माण के सम्बन्ध में ऐसी दलीलों, यथा कि शिक्षार्थीगण अप्रौढ़ होते हैं, वे व्यर्थ समय बरबाद करते हैं या अत्यधिक सम्मम उत्पन्न कर देते हैं, त्यागने योग्य बातें ही हैं। इस बात का महत्त्व वहीं है कि कितना समय लगा, या कितने खतरे से पाठ्यक्रम तैयार किया गया क्योंकि प्रक्रिया स्वयं अपने-आप में अत्यधिक शैक्षिक महत्त्व रखती है। शिक्षा में 'संक्षिप्त उपाय' और 'निम्नतर अवरोध का मार्ग' विशेषतः उस समय हानि ही पहुँचाते हैं जब उन्हें जीवन्त और अनिवार्य अनुभवों के मूल्यों पर अपनाया गया हो। शिक्षा शृंखलाबद्ध सामाजिक एवं बौद्धिक प्रक्रियाओं में सक्रिय सहभागिता में अन्तर्निहित है, न कि विचार की सम्पूर्ण व्यवस्थित सामग्री के

लिए शैक्षिक संग्रहालय भवनों में आदर या आश्चर्य की भावना से चारों ओर देखने में।

अस्तु, शिक्षा में निर्देशन, योजना और मूल्यांकन का साथ-साथ बने रहना अनिवार्य है, नहीं तो परिणाम मनमाने होंगे। प्रजातांत्रिक उद्देश्य का ज्ञान और महत्व शिक्षक और शिष्य के सम्पूर्ण समुदाय के मन में स्पष्ट होना चाहिए। उसी ढाँचे के अन्तर्गत व्यक्तिगत कौशलों, प्रवृत्तियों और प्रगति को खोजने के लिए, विविध लाभदायक परीक्षाएँ, व्यक्तिगत, सामाजिक और व्यावसायिक समस्याओं पर आँकड़े एकत्र करने के लिए बैठकें एवं समाएँ, स्वयं को और प्रगति की व्यक्तिगत दर को जानने के लिए आत्म-मूल्यांकन एवं आलेखन संगठित किये जा सकते हैं।

इसी प्रकार संस्था एवं उसके चारों ओर के सामुदायिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की देखभाल करने के लिए विविध शिक्षक-शिष्य समितियों के गठन की जरूरत होती है। नगरीय समितियों से लेकर कला और प्रजातांत्रिक समितियों तक, छात्र शिक्षकों के अनुप्रेरक निर्देशन के अन्तर्गत उनमें अतिरेक के साथ प्रविष्ट हो, जिससे जीवनानुभवों की स्वस्थ सम्पूर्णता से आत्म-ज्ञान और सामाजिकता निचोड़ लिये जाएँ।

शैक्षिक परिस्थिति के संदर्भ में शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएँ स्थानीय समुदाय एवं राष्ट्र के प्रति संस्कृति के पथ-प्रदर्शक के रूप में स्वीकार किए जाने चाहिए। लेकिन यदि प्रकाश को व्यापक रूप से दूर तक फैलना है और प्रव्वलित रहना है, तो उसे न केवल उन्हीं के संयंत्रों में बना रहना है, बल्कि सभी कल्पनीय जीवन्त स्रोतों से संग्रह करना है। दूसरे शब्दों में, ये संस्थाएँ अलग इकाइयाँ न हों, बल्कि व्यापक सामाजिक सम्बन्धों से युक्त हों। वे प्रजातांत्रिक योग्यता के सभी सामाजिक संगठनों से, और वैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं से अपने सहयोगियों एवं शिष्यों के लिए अपने व्यापक जीवनानुभवों और निर्देश के लाभ को सुरक्षित रखने के लिए अवश्य ही उदारतापूर्वक सम्बद्ध करें। वे अन्य स्थानीय शैक्षिक संस्थाओं से भी सामाजिक एवं बौद्धिक सम्बन्ध रखें, जिससे जहाँ भी सम्भव हो एक संयुक्त सांस्कृतिक क्रियाकलापों एवं सामाजिक क्रिया के कार्यक्रम प्रस्तुत किए जा सकें।

विद्यालयीय एवं विश्वविद्यालयीय शिक्षकों के प्रशिक्षण के विषय में दो शब्द कहना उपयुक्त होगा। प्रचलित विधि के अनुसार विद्यालय शिक्षक के लिए शिक्षक के रूप में विद्यालय में ठीक से चलने के लिए एक राजमार्ग होता है,

यदि वे उच्च गुण-सम्पन्न विश्वविद्यालय डिग्री प्राप्त करने में विद्यार्थियों को उत्पन्न कर सकें। कभी-कभी वे बिना सभालय के ही नियुक्ति-पत्र प्राप्त कर लेते हैं। ठीक है कि शिक्षकों का सामान्यतया प्रखर एकादमिक वृत्त होता है और इसलिए पूर्वमान्यता के अनुसार प्रशिक्षण के कठोर नियंत्रण से मुक्त कर दिए जाते हैं। लेकिन जरा हम इस बात को और गहराई से परखें। आज हमारे देश में विद्यालय शिक्षा की प्रणाली विशेषतः छात्रों को अपने-अपने विषयों में विशेषज्ञ के रूप में प्रशिक्षित करने का लक्ष्य रखती है और सामाजिक विज्ञानों का ध्यान थोड़ा या कदाचित् बिल्कुल नहीं करती, जिसका मनन सम्भवतः सामाजिक अनुभव को व्यापक कर सकता है। विद्यालय छात्रों को उनके विशिष्ट विषयों से अलग व्यापक पाठ्यक्रमों एवं सामाजिक विज्ञानों को प्रदान नहीं कर पाए हैं, जिससे अपने व्यक्तिगत रूप में वे उन अनुभवों का विधिवत् एकीकरण और आत्मीकरण कर सकते थे। यह दूसरी बात है कि यदि कुछ आत्मसात्कारी एवं संयोजक मस्तिष्क अध्यवसायपूर्वक व्यापक शैक्षिक साहित्य से लाभ उठाते हैं, जब वे शिक्षक के रूप में विद्यालय में जाते हैं तो समुचित रूप से अभ्यास में उपयोग करते हैं। यह भी दूसरी बात है कि यद्यपि भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र के छात्रों की अपेक्षा मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, समाजविज्ञान के छात्र पहले ही से पर्याप्त आधार रखते हैं और शैक्षिक समस्याओं के प्रति आसानी से सक्रिय हो जाते हैं। लेकिन सामान्यतया यह सच है कि देश में भर्ती और शिक्षा की वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत विद्यालय शिक्षकों की एक बड़ी संख्या शैक्षिक और सामाजिक समस्याओं की क्रमबद्ध समझ को त्याग देते हैं। शैक्षिक समस्याओं के प्रति सामान्य ज्ञान का सिद्धान्त बिना किसी प्रशिक्षण के शिक्षक को प्रौढ़शिक्षा को कार्यान्वित करने में समर्थ मानता है, प्रमाण विरुद्ध है। उस सम्बन्ध में शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण की भी जरूरत न होगी, लेकिन इस बात की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि प्रौढ़ व्यक्तियों एवं सामाजिक परिणामों की समस्याएँ परस्पर जुड़कर इतनी जटिल हो गई हैं जैसे कि बाल-मन की और मानव मनोविज्ञान एवं समाज-विज्ञान के स्थायी एवं विशेष ज्ञान की जरूरत बतलाती है।

विद्यालय एवं विश्वविद्यालय विविध क्षेत्रों के लिए विभिन्न प्रकार का नेतृत्व प्रदान करते हैं। एक उदाहरण लीजिए, किसी भी प्रजातंत्र में समर्थ एवं सार्थक शासकों की आवश्यकता होती है, जो स्पष्टरूप से प्रजातांत्रिक लेकिन अन्य सामाजिक अभिकरणों एवं व्यक्तियों के साथ प्रभावोत्पादक रूप से लक्ष्यों

को क्रियान्वित करेंगे। अब इस प्रकार का नेतृत्व जो सिर्फ विद्यालयों में परिपक्व होता है यदि वहाँ मानव-मनोविज्ञान सामाजिक समस्याओं और लक्ष्यों की समझ से परिपूर्ण शिक्षकों का पर्याप्त नेतृत्व प्राप्य हो। समस्त तर्कों का अभिप्राय यह है कि जब तक विद्यालय शिक्षा की वर्तमान प्रणाली बनी रहती है, विद्यालय शिक्षकों के प्रशिक्षण की अधिकाधिक जरूरत है।

विद्यालय में काम करने वाले शिक्षकों के लिए प्रबोधन पाठ्यक्रम (Refresher Courses), सेमिनार, वाद-विवाद और क्षेत्रीय अनुभव समय-समय पर संगठित करने की जरूरत है। नई भर्ती के लिए पूर्व-सेवा प्रशिक्षण अनिवार्य होना चाहिए। मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक विज्ञानों की सामाजिक रूप-रेखाएँ उनके अध्ययनों के अविभाज्य अंग होनी चाहिए। प्रशिक्षण पुस्तकीय नहीं, बल्कि व्यापक जीवन के जीवन्त अनुभवों में निहित होना चाहिए। विद्यालय एवं विश्वविद्यालय के शिक्षक के लिए जिनका पूर्वमान्यता के अनुसार मानसिक स्तर उच्च होता है प्रशिक्षण पाठ्यक्रम की लम्बी अवधि नहीं है, जिसे प्रयोगात्मक स्तर पर निकष के रूप में होना चाहिए, बल्कि सामाजिक अनुकूलन एवं सामाजिक दिशा का गुण है जिसे अल्पकालीन प्रशिक्षण ही उत्पन्न कर सकता है। इसलिए प्रशिक्षण पाठ्यक्रम की जरूरतों से निपटने के लिए अधिकतर सुनम्य एवं समायोजनीय होना चाहिए, यद्यपि एक परिकलन के आधार पर एक साल का समय पूरा करने वाले विषयों एवं अनुभवों की दूरी के दृष्टिकोण से बहुत लम्बा प्रतीत नहीं होता। कुछ लोग विद्यालय शिक्षकों के लिए दो वर्ष के प्रशिक्षण की मान्यता देते हैं जो अधिकतया उन्हीं नियमों पर आधारित होते हैं जैसा कि विद्यालय शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण विद्यालयों में। इस प्रशिक्षण के लिए एक योजना आज-कल की आवश्यकता है और हमारे देश में यह जितनी शीघ्रता से अस्तित्व में आएगी उतना ही अच्छा है।

विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में हमारे युवकों की पथभ्रष्ट शक्तियों का विराट दृश्य शिक्षकों के पक्ष से अंशतः सामाजिक अनुदृश्य एवं सामाजिक उत्साह के अभाव का परिणाम है जो पर्याप्त रूप से प्रजातांत्रिक लक्ष्यों एवं अपने छात्रों में उनके अनुभव के प्रति अनुकूल एवं उत्साहित सम्यक् प्रजातांत्रिक शिक्षा एवं प्रशिक्षा को आरम्भ में उपलब्ध करने का अवसर प्राप्त नहीं कर पाते। यदि विद्यालय शिक्षक व्यवसाय के लिए ठीक अर्थ में प्रशिक्षित किए जाएँ तो छात्र और शिक्षक में वर्तमान दूरी, उनका भीषण संघर्ष, छात्रों में अनुशासनहीनता और वैसी ही समस्याएँ सरल समाधान के सम्मुख झुकने को बाध्य हैं।

इस अध्याय की समाप्ति पर हम कुछ व्यावहारिक उपायों का विवेचन करेंगे जिनको प्रगतिशील प्रजातांत्रिक शैक्षिक संस्थाओं द्वारा अपनाया गया है। वास्तव में प्रत्येक विद्यालय या कालेज प्रजातांत्रिक रहन-सहन के सफल तकनीकों को सामान्य रूप में घरोहर रखने के अतिरिक्त किसी विशिष्ट समुदाय में अपनी स्वदेशी प्रतिभा और स्वायत्त समुचित रूप से कुछ मौलिक योगदान दे सकते हैं। विचार यह है कि नयी प्रजातांत्रिक तकनीकें एवं कौशल को प्राप्त एवं उनके उपयोग किए जायें जिससे विद्यालय के प्रजातांत्रिक प्रयोग में पिछड़ापन न रहे जबकि वही समाज में व्यापक रूप से प्रयोग में लाया जा रहा हो। विद्यार्थियों को अपने कार्यों का प्रबन्ध करने का दायित्व अवश्य देना चाहिए नहीं तो वे दायित्व को कभी भी नहीं सीखेंगे। प्रजातांत्रिक यंत्रों के माध्यम से बिना साधन के वैधानिक स्वतंत्रता का उपयोग करना न केवल शर्तों का निषेध, बल्कि शिक्षा का भी निषेध है।

इस अध्याय के आरम्भ में उल्लिखित वर्ग के प्रजातांत्रिक संगठन के अतिरिक्त प्रजातांत्रिक संगठन का एक व्यापक तन्तुजाल स्थापित किया जाना चाहिए। निम्नलिखित पंक्तियों में विवेचित उस योजना का विवरण मात्र है, सर्वांगीण विवेचन नहीं।

अनेक नगरीय समुदाय कक्षा-क्रम या ऐसे अन्तर-कक्षा समूह में स्थापित किए जायें जो रोल पर छात्रों की विद्यमान संख्या, मिलन-स्थलों की प्राप्यता, अध्ययन के कार्यक्रम आदि की दृष्टि से किसी एक विशेष संख्या के योग्य हों। उन समुदायों के नेताओं का चुनाव विभिन्न समितियों और उपसमितियों द्वारा होना चाहिए, जो समुदाय एवं विद्यालय की नगरीय समस्याओं पर चिन्तन करने, उनके नगरीय जीवन से दोषों को दूर करने एवं आवश्यक सामाजिक क्रिया करने के लिए संगठित किए गए हों। यह देखने के लिए अत्यधिक सावधानी की जरूरत है कि समुदाय के विचार-विमर्श में प्रत्येक सदस्य प्रत्येक सहभाग का अवसर प्राप्त करे। फलतः यह सराहनीय है कि छोटे-छोटे समुदाय शिक्षकों के अधीन हों। जहाँ शिक्षकों की संख्या अल्प हो, प्रौढ़ विद्यार्थियों को सलाहकार के रूप में समुदायों से संयुक्त किया जा सकता है। नगरीय क्रिया-कलापों के अतिरिक्त समुदाय अपने सदस्यों की रुचियों का पोषण करने के लिए विशेष रुचि क्लबों का संगठन कर सकते हैं और क्रिया-कलापों के सामाजिकता उत्तेजक एवं रचनात्मक कार्यक्रम से उनके अवकाश को योग्यतापूर्वक पूर्ण कर सकते हैं। छोटे-छोटे विद्यालयों में, विशेष रुचियों की प्रत्येक क्लब कार्य कर सकती है, जबकि बड़े विद्यालयों में

समान रुचिगत क्लबों की बहुविधता प्रत्यक्ष सहभाग के माध्यम से उनके सदस्यों को अन्तरंग अनुभव प्रदान करने के लिए आरम्भ की जा सकती है। संक्षेप में नगरीय समुदाय, प्रजातांत्रिक रहन-सहन की प्रथम इकाइयाँ हो सकती हैं।

समुदाय का मंच नगरीय क्रिया-कलापों के साथ नागरिक शास्त्र के विषय पर आवश्यक निर्देश देने के लिए सहज रूप से उपयोग में लाया जाना चाहिए, जो उच्चतर स्तर पर ऐसे पहलुओं में, जैसे प्रजातंत्र के मूलतत्त्वों एवं क्रिया-शीलता में और अधिक उच्चतर स्तरों पर प्रजातंत्र के दर्शन में छायांकित हो सकते हैं।

नगरीय समुदाय या उनके समान प्रकार केन्द्रीय विधायिका छात्र संघ से संयुक्त होने चाहिए, जिसके लिए विविध कार्यवाहक जैसे अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सामान्य मंत्री और सहायक मंत्री लोकप्रिय मतदान के द्वारा चुने जाएँ। इससे उन्हें राजनीतिक यंत्र की क्रियमन्यता में प्रशिक्षा देने के साथ उन्हें विविध विधि से अभिव्यक्ति के लिए अवसर प्राप्त होगा। समुचित रूप से संगठित शैक्षिक संस्थाओं में बालकों एवं किशोरों को अपने लिए विद्यालय या कालेज की समस्याओं के विषय में सोचते हुए, सभाओं एवं चुनाव के समय बुद्धिमत्तापूर्वक अपनी राय जाहिर करते हुए, अपनी संस्थाओं में सम्यक् उद्देश्य की रक्षा में शांतिपूर्ण अभियान, समिति सभा का संचारण और दूसरे प्रजातांत्रिक और नगरीय अभ्यासों को एक अतिथि के अधिकतम आदर से देखते हुए, जिसे कोई भी संगठन उच्चतर लाभ के लिए प्रयोग में लाएगा, देखकर खुशी होती है। इस प्रकार की संस्थाएँ सर्वप्रथम आत्मराज्य के प्रजातांत्रिक उच्च मानदण्डों तक जीवन को व्यवस्थित करने में सफल होती हैं, क्योंकि शिक्षकों एवं प्रधानाध्यापकों का नेतृत्व सुदृढ़ होता है, जो सामाजिकतया संवेदनशील, सहानुभूति-मूलक, उत्साही और सद्गुण में समर्थ होते हैं, जिसके प्रति छात्रों को उनमें दृढ़विश्वास होता है।

परिचालन समिति के अतिरिक्त संघ विविध उपसमितियों का निर्माण कर सकता है, जिसमें सभी वर्गों के प्रतिभासम्पन्न छात्रों को लाया जा सकता है। सुनिश्चित करने के लिए अत्यधिक सावधानी बरतने की जरूरत है कि प्रजातांत्रिक ढंग सीखने के लिए विद्यालयों और कालेजों में अवसर एवं संस्थाएँ प्रदत्त की जाएँ, शक्ति संचय के अखाड़ों में न बदल जाएँ। जब तक छात्र सम्यक् रूप से प्रशिक्षित नहीं हो जाते तब तक उनके लिए सहयोगी रहन-सहन के स्थान पर अधिनायकत्व की प्रवृत्तियों एवं आदतों को सीखने तथा शक्ति के लिए स्वयं को प्रतिभासम्पन्न बनाने के लिए नेतृत्व का उपयोग करने का भय बना रहता

है। शैक्षिक संस्थाओं में जहाँ प्रजातांत्रिक परम्पराएँ पूर्णतः स्थापित नहीं हुई हैं, वहाँ देखा जाता है कि छात्र अपनी इच्छानुसार संस्थागत कार्यों को नियंत्रित करने का प्रयत्न करते हैं, चाहे चुनौती शिक्षक या छात्र समूह के प्रति हो जो अपने कार्य को शांतिमय ढंग और सहयोगपूर्ण प्रवृत्ति से करना चाहते हैं। सामाजिक सेवा का संकेत, उनके द्वारा अपनी धर्म-विकृति में शक्ति एवं आनन्द के लिए उनकी वासना के एक विशाल संकेत-पट के रूप में बदल जाता है। कभी-कभी कुछ अप्रजातांत्रिक दलों के षड्यंत्र शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश कर जाते हैं और पथ-भ्रष्ट, लेकिन कुछ जीवन्त युवकों के साधनों के द्वारा अप्रजातांत्रिक उद्देश्यों के लिए प्रजातांत्रिक यंत्र का उपयोग करते हैं। शैक्षिक जगत में यह ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है, जो उनके खतरे से प्रजातांत्रिक अभ्यासों के विस्तार एवं परीक्षण को यत्रतत्र अवरुद्ध करती है।

शिक्षक लोग छात्रों के मन पर इस बात को अनुमुद्रित करने में अवश्य सफल हों कि उन्हें प्रदत्त प्रजातांत्रिक यंत्र मुख्यतः सामाजिक जीवन, सामाजिक सेवा और सामाजिक दायित्व में प्रशिक्षित करने के लिए हैं जिसकी असफलता से प्रजातांत्रिक शिक्षा का छिन्न-भिन्न होना अनिवार्य है। प्रजातांत्रिक शिक्षा से निर्मित, कम से कम हमारे देश में, वर्तमान परिस्थिति की यही चुनौती है। प्रजातांत्रिक शिक्षा को ऐसे शिक्षकों की जरूरत है, जो आत्मविश्वास एवं पद्धति की प्रचुरता से युक्त हों। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के अनुसार प्रजातांत्रिक प्रयोगों की असफलता—एक वृहत् सीमा तक शिक्षकत्व की असफलता है।

वाद-विवाद और भाषण के मंचों के अतिरिक्त एक विद्यालय या कालेज में समाचारपत्र, साप्ताहिक या पाक्षिक रूप से प्रकाशित हो तो वह सहयोगी रहन-सहन में छात्रों के मन में सचेत रुचि का एक सशक्त माध्यम सिद्ध होने के लिए बाध्य है। समाचारपत्र छात्रों एवं शिक्षकों की संयुक्त समिति द्वारा सम्पादित एवं प्रबन्धित हो सकता है। महत्त्व की संस्थागत खबरें—सामाजिक परिणाम की खबरें—स्थानीय समुदाय, प्रजातांत्रिक रहन-सहन पर संग्रहीत विश्वजर्नेल खबरें, समुचित रूप से खबरों के साथ-साथ प्रस्तुत की जा सकती हैं। स्थानीय समुदाय और विद्यालय में नगरीय जीवन में उन्नति के लिए व्यावहारिक संकेत और रचनात्मक आलोचना नगरीय विषयों में रुचि उत्तेजित करने के लिए अन्य उपाय हो सकते हैं। छोटे-छोटे लेख, अग्रलेख और टिप्पणियाँ स्वस्थ चिंतन एवं अभिव्यक्ति के लिए मार्गों के रूप में सेवा करने के लिए आदरणीय स्थान के अधिकारी हैं। विद्यालय एवं कालेज पत्रिकाएँ बहुत अच्छी तरह कार्य करती हैं जहाँ

तक वे आत्माभिव्यक्ति के लिए माध्यम प्रदान करती हैं, लेकिन वे समाचारपत्र का स्थान नहीं ले सकतीं। कुछ संस्थाएँ संयत विद्यालय समाचारपत्र प्रचलित कर चुकी हैं जो सुखदायक सफलता की सूचना देती हैं। इस प्रकार विद्यार्थी अपने रहन-सहन में अभिप्राय एवं प्रयोजन के बोध का विकास करते हैं और किसी सामाजिक प्रचलन से अलग नहीं पड़ते, जो प्रजातन्त्र के लिए मूल्यवान उपलब्धि है।

प्रौढ़-शिक्षा

विद्यालय में शिक्षा बालकों तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए बल्कि उनके उत्तर-विद्यालय वर्षों तक और साथ ही प्रौढ़ों की व्यापक बहुसंख्या तक विस्तृत होनी चाहिए जिन्हें न तो क्रमिक रूप से विद्यालय शिक्षा का लाभ मिला है। अपना वे हमेशा व्यक्तिगत सामाजिक और आर्थिक समायोजनों को बेहतर बनाने के लिए अधिक शिक्षा की जरूरत अनुभव करते हैं। वास्तव में शिक्षा निरंतर विकास है और मनुष्य जीवन का कोई भी भाग शिक्षा के दृष्टिकोण से नगण्य नहीं है।

प्रजातन्त्र के हित में उन लोगों के मामले में जो कभी विद्यालय नहीं गए हैं प्रौढ़-शिक्षा निरपेक्ष रूप से अनिवार्य है। उन व्यक्तियों के लिए भी जिन्होंने विद्यालय शिक्षा का लाभ प्राप्त किया है और उससे आरम्भिक या मौलिक जानकारी की एक सामाजिक दिशा प्राप्त की है, कम आवश्यक नहीं है। सामाजिक जीवन जटिल और निरंतर प्रवाहशील है। नये ज्ञान की निरंतर अभिवृद्धि होती रही है। वे एक साथ प्रौढ़ों से नए शिक्षण एवं कौशलों और नए समायोजनों की मांग करते हुए समस्याओं और स्थितियों की रचना करते हैं। विद्यालयीय शिक्षा बहुत हद तक उनका पक्ष ले सकती है लेकिन निरंतर प्रयोजनपूर्ण रहन-सहन में उन्हें पर्याप्त सहायता नहीं दे सकती। इस प्रकार विद्यालय की स्वयं अपनी सीमाएँ होती हैं।

प्रौढ़-शिक्षा की विकासमान अवधारणा

हमारे देश में प्रौढ़ शिक्षा मुख्यतः प्रौढ़ जनसंख्या की भीड़ को सार्थकता प्रदान करने के लिए एक आन्दोलन के रूप में आरम्भ की गई थी। यह न्यूनतम अनिवार्यता है जिसके बिना लोग स्वयं अपने लिए समस्याओं का निर्णय नहीं कर सकते। यहाँ तक कि दैनिक जीवन के साधारण कार्य व्यापार का भी भार नहीं उठा सकते। यदि प्रौढ़ व्यक्तियों के मत्ताधिकार की अवधारणा हास्यास्पद नहीं

है तो सार्वभौमिक आधार पर पढ़ना, लिखना और गणित (Three R's) का आरम्भिक न्यूनतम ज्ञान आवश्यक है। लेकिन यह शिक्षा की सीमित अवधारणा है।

प्रौढ़-शिक्षा विद्यालय शिक्षा की पूरक एवं विस्तार है—जिसके अनुसार शिक्षण के लिए कभी भी कोई व्यक्ति बूढ़ा नहीं है। वास्तव में कुछ विचारक हैं जो इस मत के समर्थक हैं कि प्रौढ़ता जीवन की आरम्भिक अवस्थाओं की अपेक्षा शिक्षण की कहीं अधिक प्रभावोत्पादक अवधि है। इसका कारण प्रौढ़ता एवं स्वतंत्रता है। मानव व्यक्तित्व की निरंतर प्रौढ़ता, व्यक्ति-विकास और सामाजिक प्रगति के लिए प्रौढ़-शिक्षा अनिवार्य है।

प्रौढ़-शिक्षा की अवधारणा नई नहीं है। प्राचीन समुदाय में जब संस्थागत विद्यालय अस्तित्व में नहीं आए थे, समुदाय नेता बालकों, युवकों और प्रौढ़ों को अनौपचारिक ढंग से शिक्षा देते थे। अरस्तू की अकादमी ने प्रौढ़ उम्रवालों एवं बूढ़े लोगों के साथ युवकों को समान रूप से आकर्षित किया है। ब्रिटिश और यूरोपीय विश्वविद्यालयों ने विश्वविद्यालयीय एवं विश्वविद्यालयेतर दोनों स्तर के लोगों के लिए प्रसरण-व्याख्यानों के साथ एक प्रयोग आरम्भ किया था जो वर्षों तक ब्रिटिश शिक्षा का प्रभावकारी अभिकरण रहा है। तब से यह प्रणाली अमेरिकीय एवं अन्य सांस्कृतिक अभिकरणों द्वारा अपनाई गई। तब लगभग सभी अग्रगामी विश्वविद्यालयों द्वारा इसका अनुकरण किया गया। प्रौढ़-शिक्षा को व्यापक आन्दोलन ने विद्यालय के सीमित प्रयोजन से जीवन तक शिक्षा के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया।

चूँकि प्रौढ़-शिक्षा नया अभियान है, पर्याप्त आँकड़े संग्रहीत नहीं किए गए हैं और न तो व्यापक पैमाने पर सर्वेक्षण एवं प्रयोग परिणाम के साथ संचालित किए गए जिसके परिणामस्वरूप प्रौढ़-शिक्षा की तकनीकें उतनी अच्छी प्रकार विकसित नहीं हो सकीं जितनी कि बालकों और युवकों की शिक्षा में। प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में कार्यकर्ता इन बाधाओं से कष्ट में पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त प्रौढ़-शिक्षा के अभिकरण साधारणतया उतनी अच्छी प्रकार संगठित नहीं हैं, जितना राज्य-रक्षित शिक्षण-संस्थाएँ हैं। सरकारों एवं अन्य प्रबुद्ध एवं सेवाभाव से युक्त संस्थाओं एवं व्यक्तियों की रुचि का अनुगमन करके अधिक अनुसंधान एवं विस्तृत संगठन के साथ प्रौढ़-शिक्षा की वर्तमान अवस्था राज्य की प्रौढ़तम शैक्षिक संस्था होने के लिए बाध्य है। जैसा कि बाधा है, यदि ऐसा हो जाता है और जब जनता द्वारा शिक्षा की व्यापकतर अवधारणा आत्मीकरण कर ली जाएगी तो किसी उम्र का

कोई भी प्रौढ़ प्रौढ़-शिक्षा-केन्द्र में अपने अवकाश का एक भाग व्यतीत करने के लिए एक प्रेरणा एवं जिम्मेदारी का अनुभव करेगा। प्रजातन्त्र अवश्य ही उसके लिए लाभ करता होगा।

प्रौढ़-शिक्षा के अभिकरण

प्रौढ़-शिक्षा के पहले ही से अनेक अभिकरण हैं, संक्षेप में जिन्हें पुनः नीचे दिया जा रहा है :

१—राष्ट्रीय एवं राज्य सरकारों ने प्रौढ़-शिक्षा-केन्द्रों का संगठन किया है जहाँ आरम्भिक तीन 'र' (three R's) सामाजिक विज्ञानों एवं सामाजिक समस्याओं के व्यापक सिद्धान्तों तक लोगों को खाली समय में शिक्षा दी जाती है।

२—विश्वविद्यालय विशेषज्ञों द्वारा प्रौढ़ छात्रों के लिए प्रसरण व्याख्यान (Extension lectures) और साधारण व्यक्ति के लिए लोकप्रिय व्याख्यान संगठित करते हैं। वे विषयों एवं समस्याओं को व्यापक स्तर पर समाहित किए रहते हैं।

३—संध्या के समय विद्यालय प्रौढ़-शिक्षा-केन्द्रों में परिवर्तित हो जाते हैं जहाँ विद्यालयीय शिक्षक, समुदाय नेता और विश्वविद्यालयीय छात्र प्रौढ़ों की शैक्षिक जरूरतों को पूरा करने की चेष्टा करते हैं।

४—श्रम-कल्याण के लिए मजदूर-संघ और सभाएँ नगरीय विषयों का आरम्भिक ज्ञान देने में और निरक्षरता समाप्त करने में प्रशंसनीय कार्य कर रही हैं।

५—शिक्षा की सांध्य-संस्थाएँ, नाममात्र शुल्क पर, शिल्पगत और सांस्कृतिक विषयों पर निर्देश प्रस्तुत करती हैं और लोगों को अपने ज्ञान एवं कौशल को उन्नत करने में सहायक होती हैं जिसके परिणामस्वरूप उनको व्यावसायिक एवं आर्थिक सुअवसर उन्नत करने का प्रश्रय देती हैं। कुछ विश्वविद्यालयों ने दफ्तरों और कारखानों में काम करने वाले व्यक्तियों के लाभ के लिए सांध्य-पाठ्यक्रम का विधान किया है। अमेरिका शिक्षा के लिए सांध्य-संस्थाओं के विषय में सबसे अग्रणी देश है।

६—पत्र-व्यवहार पाठ्यक्रम संस्थाएँ प्रौढ़-शिक्षा के अभिकरणों एवं तकनीकों में दूसरी नवीनता है। वे जो, किसी कारण-वश, सांध्य-संस्थाओं तक जाने में असमर्थ हैं, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक रुचियों के लगभग सभी विषयों में घर में बैठे ही विधिवत निर्देश प्राप्त कर लेते हैं। इसमें भी अमेरिका अग्रणी है जहाँ हजारों-हजार कार्यकर्ता अपना ज्ञान, कौशल, सामाजिक उपयोगिता और आर्थिक अवस्था को उन्नत करते हैं।

७—समुदाय समितियाँ सामान्यतः केन्द्रीय स्थानों में स्थित होकर, देर से आरम्भ करके कार्यप्रणाली के अपने क्षेत्र को विकसित कर रही हैं। विवेचन, पुस्तक बँधाई, खेल, अभियान, समुदाय-प्रयोजन और त्योहार, जैसा भी विषय हो, वैतनिक या अवैतनिक शिक्षित प्रौढ़-शैक्षिक कार्यकर्ताओं के तत्त्वावधान में सामान्यतया संगठित किए जाते हैं।

८—जनता और राज्य-रक्षित पुस्तकालय, साथ ही परिचालन पुस्तकालय एवं संग्रहालय।

९—शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं व्यापारिक अभिकरणों द्वारा संगठित अध्ययन एवं यात्रामूलक भ्रमण।

१०—अखबार एवं पत्रिकाएँ कर्मचारियों के प्रशिक्षण एवं चुनाव की समस्याओं के अनुसंधान तथा सम्पूर्ण रूप से प्रौढ़-शिक्षा की समस्याओं के प्रति संलग्न हैं।

११—प्रौढ़ जनसंख्या के उपयोग के लिए राष्ट्रीय एवं राजकीय सरकारों के माध्यम से प्रकाशित सरल भाषा में प्रचार-पुस्तिकाएँ एवं अन्य साहित्य।

१२—चलचित्र, रेडियो और टेलीविजन।

प्रौढ़-शिक्षा से प्राप्त लाभ एक साथ सामाजिक एवं व्यक्तिगत दोनों ही हैं। व्यक्ति निरंतर विकासमान जीव है। वह विद्यालय में शिक्षा पाने में असफल हो सकता है या निश्चित रुचियों को विकसित न कर पाया हो जिसे वह देर में प्रदर्शित कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह निरंतर अपनी शिक्षा और कौशल में उन्नति की अपेक्षा रखता है। प्रौढ़-शिक्षा के विभिन्न अभिकरण उसके लिए यह समस्त सुविधा प्रदान करते हैं। उसके ज्ञान और निपुणताएँ उन्नत होती हैं, वह आत्मविश्वास एवं योग्यता का बोध प्राप्त करता है। उसके व्यक्तित्व को आगे उन्नत करने के लिए उसकी व्यावसायिक क्षमता उसके लिए बेहतर वेतन, आनन्द और साधन एकत्र करती है। सीखने के वातावरण में उसका क्रमिक ठहराव विचार और क्रिया में अत्यधिक उत्तरदायी बनता है, संतुलन प्रदान करता है एवं बांछित नगरीय प्रवृत्तियों को गढ़ता है। उसका मानसिक स्वास्थ्य गृहकार्यों एवं व्यावसायिक कार्य की तनाव-उत्पादक दैनिकता से उड़ान भरने के फलस्वरूप स्वस्थ होता है। लोगों के साथ उसका नया एवं नवीनतर सम्बन्ध, उसकी सामाजिक समझ, सहानुभूति और दृष्टिकोण में व्यापकता का समावेश कर देता है, और उसके अलगाववाद को समाप्त कर देता है जो समाज-विज्ञान एवं इतिहास के प्रमाण के अनुसार समाज में फूट डालने वालों में प्रमुख कारण है। संक्षेप में यह

अभिकरण उसके व्यक्तित्व के विकास एवं संगठन के लिए सशक्त माध्यम प्रस्तुत करते हैं।

प्रौढ़-शिक्षा का सामाजिक मूल्य पूर्वोक्त विवरण में अन्तर्निहित है। सामाजिकतया सचेत, योग्य एवं सहयोगी व्यक्ति एक स्वस्थ समाज के लिए निर्माण करता है। किसी भी सार्थक समाज, जो सामाजिक संतुलन से सम्बन्ध स्थापित करता है, का उत्तरदायित्व है कि वह सम्पूर्ण रूप से अपने लोगों की निरंतर शिक्षा के लिए प्रबन्ध करे अथवा सुविधा प्रदान करे। जब सीखने एवं सामाजिक कार्यों को हल करने की भावना में सामान्य प्रयोजन के लिए व्यक्ति एकत्र होते हैं, वे प्रारम्भिक और माध्यमिक समूह-मूल्यों को विकसित कर लेते हैं—प्रारम्भिक, परस्पर सहायता के अभ्यास में, सामाजिक समस्याओं एवं कार्यों के लिए एक साथ कार्य करना और सोचना और अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के लिए सामाजिक दायित्व के बोध को विकसित करने में माध्यमिक।

सहायक पुस्तकें :—

1. John Dewey : Education and Democracy, The Macmillan Company, New York.
2. Pickens, E. Harris in Harold Rugg, (Editors) and Others : Democracy and the Curriculum, Third Year Book of the John Dewey Society, D. Appleton Century Co., New York.
3. Sidney Hook : Education for Modern Man, Dial Press, Inc., New York.
4. George E. Axtelle and William W. Wattenberg (Editors) and Others : Teachers for Democracy, Fourth Year Book of the John Dewey Society, D. Appleton Century Company, New York.
5. J. I. Cohen and R. M. W. Travers (Editors) and Others : Educating for Democracy, The Macmillan and Co. Ltd., London;

अवकाश के लिए शिक्षा

“अवकाश को बुद्धिमत्तापूर्वक व्यतीत करने के योग्य होना, सभ्यता का अन्तिम प्रतिपाद्य है।”
—बर्ट्रैंड रसेल

घरती पर मनुष्य के संघर्ष को यदि पृष्ठभूमि में रखकर देखा जाय तो अवकाश की सम्पूर्ण समस्या को अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। मात्र आवश्यकता इतनी तीव्र है कि मनुष्य को रोटी और कुछ नगण्य आवश्यकताओं जैसे कपड़ा और घर उपलब्ध करने के लिए अवश्य ही कड़े श्रम की आवश्यकता है। इस प्रकार उसने अपनी जागृत अवस्था के अधिकांश क्षणों में समय-असमय एवं युग-युगों तक अपना संघर्ष जारी रखा। जनता के बहुत ही नगण्य अल्पमत जैसे शासक, सामन्तीय मालिक, व्यापारी-वर्ग के अतिरिक्त, सामान्य जनता के भाग्य में सुबह से शाम तक कड़े एवं नीरस परिश्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहा और उसकी दशा आज भी वैसी ही बनी हुई है। सामान्य मनुष्य प्रत्येक दिन के साथ-साथ स्वयं को भी विकृत भावना-युक्त अनुभव करता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो विदित होगा कि कड़ा परिश्रम मनुष्य का रक्षक रहा है और रहेगा। इसीलिए तो कार्य को अत्यधिक पवित्रता एवं मान्यता दे दी गई है जिसके बिना किसी समाज के स्थायी अस्तित्व की आशा नहीं है और जहाँ जनसंख्या का अधिक भाग विलासमय जीवन व्यतीत करने लगता है उस समाज की संस्कृति सचमुच नष्ट हो जाती है। फिर भी औद्योगिक क्रान्ति का आगमन और हमारी सभ्यता के परवर्ती यान्त्रिकीय ढाँचे के साथ मानव इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ गया है। यंत्र-युग ने, जैसा कि नाम से अभिहित किया जाता है, एक ओर सर्वसामान्य मजदूर के लिए अवकाश प्रदान किया है तो दूसरी ओर उसके लिए अनेकानेक समस्याएँ खड़ी कर दी हैं—

यथा, अवकाश का किस प्रकार बुद्धिमत्तापूर्ण एवं उपयुक्त रूप से सदुपयोग किया जाय ।

यंत्र-युग में ऐसी सम्भावनाएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं कि आने वाले युग में मनुष्य को थकानपूर्ण श्रम से बचाने के लिए यंत्रों का उचित ढंग से उपयोग किया जाएगा । श्रम को बचाने के उपायों का पहले ही तीव्रता से उपयोग किया जा रहा है एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादन एवं उपभोग में मनुष्य के लिए अधिकाधिक अवकाश की व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध किया जाने लगा है । बर्ट्रेण्ड रसेल ने गणितीय एवं दार्शनिक अन्तर्दृष्टि के अपने असाधारण चिंतन के क्षणों में इस बात की अभी से संकल्पना की है कि यदि विविध सामग्रियों के संगठित उत्पादन एवं विविध राष्ट्रों में उनके वितरण एवं उपभोग में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग सुलभ हो तो मनुष्य को चार घंटे प्रतिदिन से अधिक कार्य करने की आवश्यकता नहीं रहेगी ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में व्यावसायिक शिक्षा की पूर्णकालिक योजना से विविध व्यवसायों के लिए लोगों को प्रशिक्षित करने के साथ-साथ, अवकाश-सम्बन्धी शिक्षा का मुख्य स्थान निर्धारित होना चाहिए । परन्तु इससे भी परे इस बात की आवश्यकता है कि शिक्षा, कार्य और अवकाश के बीच संतुलन बनाये रखने के लिए समस्त कार्य-पद्धति को स्वयं हस्तगत करे जिससे युग-युगान्तरों से दोनों में चले आ रहे पारस्परिक विरोध का क्रमिक रूप से वियोजन हो जाय । अत्यधिक स्पष्ट रूप में यदि देखा जाय तो कार्य मनुष्य-मात्र के लिए एक अनवरत परिश्रम के पाशविक भार के अतिरिक्त और कुछ नहीं जिससे वे अत्यंत परिपीड़ित हैं । वे अनेकानेक कारणों से कुण्ठित हैं । सम्भवतः अतिरिक्त श्रमित एवं निम्नवेतनभोगी अपने कार्य में सक्षम न होने से अव्यवस्थित हों अथवा कार्य के प्रति उनका घातक दृष्टिकोण हो क्योंकि वे दूसरे व्यक्तियों के श्रम पर अपनी ठठरियों पर मांस चढ़ाना अधिकार समझते हों अथवा यह भी सम्भव है कि पूर्वोक्त घटक कार्य के प्रति व्यक्तिगत या सामूहिक रूप अथवा किन्हीं अन्य कारणों से, घृणा उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी हों जिसके परिणामस्वरूप मनोवैज्ञानिक शब्दावली में तनाव की एक विध्वंसक स्थिति उत्पन्न हो जाय । यद्यपि कारखानों में लघुतर-घंटों के सप्ताह, स्वस्थ वातावरण और मानव प्रवृत्तियों के अनुसार काम, मानवीय व्यवहार, अच्छा वेतन तथा कार्यालय आदि के कार्य की स्वस्थ शर्तें प्रगतिशील समाज के उपादेय एवं शुभ संकेत हैं तथापि ऐसी स्थिति बनी ही रहती है जहाँ कार्य की नीरसता और दैनिक-क्रिया से बिल्कुल बचा नहीं जा सकता । अस्तु, शिक्षा का सर्वप्रथम दायित्व विद्यार्थियों के

मन में कार्य के प्रति स्वस्थ प्रवृत्तियों को स्थापित करना है। कार्य की स्वस्थ नीति—अपने व्यावसायिक कार्यों के ईमानदारी एवं समर्थ दायित्व में समाज के प्रति कर्तव्य—उनके लिए स्वीकार्य बनाया जाना चाहिए! उन्हें समझना चाहिए कि कार्य का एक नैतिक आधार होता है, जिसकी रूप-रेखा सहयोगी जीवन के लिए मानवीय प्रयत्न के इतिहास की पृष्ठभूमि में समुचित रूप से चित्रित की जा सकती है।

अन्य साधनों में कार्य के प्रति स्वस्थ प्रवृत्तियाँ विकसित करने तथा उसमें रुचि दिखाने के लिए, शिक्षा अवकाश के लिए आशाप्रद वादे प्रकट करती है, क्योंकि तथ्य यह है कि वे जो प्रसन्नतापूर्वक एवं उपयोगितापूर्वक अवकाश बिताने में प्रशिक्षित हैं अपने कार्यों को करने के लिए, उसमें उच्च भावना से प्रवृत्त होते हैं। न केवल उनके कार्य में ही वृद्धि होती है, बल्कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य में भी वह ऊँचे उठ जाते हैं। औद्योगिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में संचालित प्रयोगों ने पर्याप्त रूप से सिद्ध कर दिया है कि जहाँ मजदूरों को अवकाश काल के क्रिया-कलापों के साथ संगठित किया गया है, वहाँ कार्य की उपज उच्चतर रही है। साथ ही मानसिक एवं शारीरिक रोगों की घटना तुलनात्मक रूप से कम हुई है। यह स्पष्ट है कि अवकाश के लिए शिक्षा, स्फूर्ति, नम्यता और सृजनात्मक क्रिया करने के कारण न केवल अपनी तरह से वांछनीय ही है, बल्कि व्यावसायिक रुचि के लिए अत्यधिक अपेक्षित भी है इसलिए एक तरह से यह कहना संगत है कि अवकाश के शिक्षा, कार्य के लिए अप्रत्यक्ष शिक्षा है। और यह हमें तस्वीर के दूसरे पहलू को देखने का संकेत करता है।

जब व्यावसायिक कार्य प्रसन्नतापूर्वक किया गया हो तो इस बात की ही अधिकतर सम्भावना है कि मन दुर्बलकारी तनावों से स्वतंत्र रहता है! अक्सर यह देखा गया है कि समुचित रूप से किया गया कार्य अवकाश के सुखद उपयोग के लिए मार्ग निर्मित करता है। वास्तव में समुचित रूप से किया गया कार्य एवं बिताया गया अवकाश स्वयं तथा एक दूसरे को गति प्रदान करते हैं और मनुष्य जीवन में संतुलन बनाए रखते हैं। वे जो व्यक्तित्वों की पूरी रफ्तार के साथ अपना पूर्ण जीवन व्यतीत करने में समर्थ हैं, कार्य एवं अवकाशकालीन क्रिया-कलाप का विलक्षण समन्वय एवं संतुलन प्रदर्शित करते हैं। गेटे, सर विंस्टन चर्चिल और श्री नेहरू इस प्रकार की श्रेणी के उपयुक्त उदाहरण हैं। प्रयोजन की गम्भीरता के अद्वितीय समन्वय तथा सरल मन से एवं रचनात्मकता और प्रसन्नता के आदर्श उदाहरण से समान रूप से अवकाश के सप्तक के माध्यम से गुजरना ऐसे व्यक्तियों के लिए सहज है।

चिन्तनशील मन पर यह परिणाम आरोपित है कि कोई भी शिक्षा जो श्रम की प्रतिष्ठा एवं प्रयोजन की गम्भीरता की शपथ लेती है, बालकों एवं युवकों की अवकाशकालीन क्रिया-कलाप के संगठन के प्रति अवश्य ही निरन्तर ध्यान दे।

यह बात पूर्णतः सत्य है कि जब तक बचपन से अवकाश व्यतीत करने की शिक्षा न मिली हो, लोग जैसे ही बड़े होते जाते हैं मानसिक स्तर पर अवकाश का सदुपयोग करने के लिए असमर्थ होते दिखाई देते हैं। अवकाश किसी समस्या को हल करने की अपेक्षा स्वयं उनके लिए एक विशाल समस्या का रूप धारण कर लेता है। यह उन पर हावी हो जाता है। इसका दुरुपयोग कितने ही ढंगों से किया जाता है—निराधार गप्पें मारना, अफवाह फैलाना, चमत्कारिक एवं सनसनीखेज सूचनाएँ निगलना, रुग्ण आनन्द की भूख, अतिरिक्त दिवा स्वप्न देखना, शराब और नशे का सेवन, अपराधी मार्गों की ओर जाना, यदि कुछ नहीं तो सोकर समय बिताना आदि। दूसरी ओर, अनुगामी अध्ययन से उद्धाटित हुआ है कि बालक और युवक जो अवकाश के हितकारी उपयोग में सम्यक् सम्मान रखते हैं, अपने अवकाश-कालीन क्रिया-कलापों में बढ़ती हुई मौलिकता एवं ताजगी को बनाए रखते हैं। दुरुपयोगपूर्वक व्यतीत अवकाश के कुछ प्रमुख परिणाम शारीरिक एवं मानसिक थकान, मन की अस्पष्टता, मानसिक दौर्बल्य, निष्क्रियता, जड़त्व, वास्तविकता से पलायन की प्रवृत्ति और मनोविलास का आश्रय लेना है। सुस्ती समय के दुरुपयोग का दूसरा नाम है। और हम युगों की बुद्धिमत्ता से सचेत किए गए हैं कि सुस्त मनुष्य का मन शैतान का घर है। इसमें आश्चर्य नहीं कि मनोवैज्ञानिकों द्वारा सुस्ती मानव व्यक्तित्व में विकृति लाने वाले विधायक घटकों में से एक घटक के रूप में स्वीकार की गई है। अवकाशप्राप्त वर्गों विशेषकर बेबीलोन और रोम के शासकों का अप्रौढ़ विघटन एवं लोप इतिहास की सर्वसामान्य घटना है।

यद्यपि अवकाश यन्त्र की देन है, उसके अवकाश के आकर्षण को मनुष्य से छीन लेना भी यंत्रों की प्रकृति है। और यह तब होता है जब अवकाश का पूर्णरूपेण यांत्रिकीकरण हो जाता है। यह तभी सम्भव है जब अवकाश में हर प्रकार के यंत्र हमारे घरों में हमारे लिए लाये जाते हैं। जबकि एक लड़के को गाना और बजाना सीखना चाहिए वे अपना अवकाश रेडियो सुनने में बिता देता है। जब उसको चित्र बनाना चाहिए वह यंत्र-उत्पादित चित्रों से संतुष्ट हो जाता है। यद्यपि यह अपेक्षित है कि वह अपनी आँखों से विभिन्न दृश्यों का आनन्द उठाने पैदल सैर करे, पिकनिक पर जाए उसका अवकाश चलचित्र देखने में ही समाप्त

हो जाता है। मनुष्य के अवकाश पर यंत्र का अधिकार रोका जाना चाहिए, किसी तरह संतुलित किया जाना चाहिए, जिससे मन यंत्र की कठोरता और एकरसता में न पकड़ा जाकर, स्वस्थ जीवन के नए रूपों और सुखों की रचना करने के लिए निरन्तर स्वतंत्र हो। यह मन की साधनपूर्णता, विस्तार व गहराई है जिसे अर्जित करना है न कि हमारे अवकाश में भाग लेने के लिए यांत्रिक साधनों का अव्यवस्थित संग्रह। शिक्षा की कोई स्वस्थ प्रणाली को यांत्रिक वस्तुओं के निरपेक्ष बंधनों से शिष्य के मन को मुक्त करने में समर्थ होना चाहिए और अवकाश काल की व्यस्तता के लिए उनके मन के साधनों पर उन्हें पुनः आश्रित करने में समर्थ होना चाहिए।

अधिक स्पष्ट रूप से, किसी व्यक्ति और समाज के लिए अवकाश के दर्शन से क्या तात्पर्य है? यन्त्र से भिन्न, मनुष्य एक ही काम को लगातार नहीं कर सकता है। वह कुछ देर की क्रमिकता के बाद थकावट को अनुभव करता है और आराम चाहता है। लेकिन विभिन्न व्यवसायों के लोगों के लिए उनकी आवश्यकतानुसार विभिन्न प्रकार के आराम की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, एक श्रमिक से जिसने सारा दिन अपनी मांसपेशियों से कड़ा परिश्रम किया है किसी सुखद परिवर्तन के लिए फुटबाल जैसे खेल में प्रवृत्त होना उसके लिए सुगम कार्य नहीं है। शायद वह शतरंज के खेल या सरल साहित्य के अध्ययन से अपने तंतुओं को आराम पहुँचा सकता है। दूसरी ओर, एक बुद्धिजीवी के लिए जिसने सारा दिन कठोर चिंतन किया है, मांसपेशियों को हिलाने वाले खेल—यथा, टेनिस, हॉकी आदि की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, मनोरंजक क्रिया-कलाप विभिन्न आयु-स्तर के लिए भिन्न-भिन्न होने चाहिए। एक कठोर खेल किसी युवक या प्रौढ़ में ताजगी ला सकता है, जबकि बूढ़े आदमी के लिए यह हानिकर हो सकता है। अतः यह परिणाम निकलता है कि व्यक्तिगत जरूरतों और स्थितियों के आधार पर अवकाश-कालीन क्रिया-कलापों की समृद्ध बहु-विविधता रहे, जिससे अपनी विशेष परिस्थितियों में सभी लोग किसी न किसी प्रवृत्ति में भाग ले सकें। 'विविधता, यह कहना उपयुक्त होगा, अवकाश की आत्मा है।

अधिक सुचारु ढंग से यदि सोचा जाय तो मनोरंजन प्रवृत्त मनबहलाव की दृष्टि में व्यक्तित्व का एक उपान्त न होकर सम्पूर्ण व्यक्तित्व का उपयोग करना है। यह क्रियाकलापों का यांत्रिक अभिनय न होकर अधिकतर सम्पूर्ण मन का सम्मिलित और सदा विकसित रचनात्मक क्रिया है। शिक्षकगण अक्सर छात्रों को

विविध मनोरंजन क्लबों में अपने मन के भीतरी तहों में प्रभावित किए बिना योग्य सदस्य के रूप में भाग लेते हुए अकसर देखते हैं। कहने की जरूरत नहीं कि वह एक बेचैनी भरी स्थिति है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि विविध क्रियाओं के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति में आनन्द लेना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। उसके अन्तर्गत खेलने एवं वस्तु-रचना करने की रचनात्मक सहज प्रवृत्ति होती है। यदि इन साधारण क्रिया-कलापों में गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो मानव यंत्र अनियंत्रित अथवा क्रिया-शून्य हो जाएगा। मनुष्य जाति को दान में मिले कुछ सुन्दरतम उपहार काल्पनिक की अवधारणा, क्रीड़ा-क्रिया से परिणामित हुए हैं। उदाहरणतः भाप-इंजन की अवधारणा, जिसका समाज पर क्रान्तिकारी प्रभाव हुआ, बालक स्टीफेन के मन में खेल के दौरान ही उत्पन्न हुआ। दर्शन और साहित्य, कला और शिल्पकला के कुछ समृद्धतम खंड अवकाश प्राप्त वर्ग से उत्पन्न हुए हैं, या किसी तरह उन लोगों द्वारा, जिन्होंने दुःखमय जीवन के बावजूद, अपने अवकाश को रचनात्मकता में उपयोग करने का मार्ग खोजा। यहाँ तक कि सम्यता के आदिकाल में भी जबकि जीवन की कठोर परिस्थितियाँ मुश्किल से अवकाश दे पाती थीं, कठोर मौसम द्वारा लोगों पर एक तरह का आरोपित अवकाश मनुष्य को सुन्दरतम रचनात्मक कार्य करने के लिए बाध्य कर देता है। यह वस्तुतः स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः मौलिक और रचनात्मक कार्य के लिए अतिरिक्त विशेषीकृत कार्य की दैनिक क्रिया के कारण अवसर प्राप्त नहीं होते और मानव मन स्वभावतः अपने अवकाश की कमी की पूर्ति के लिए मार्ग ढूँढ़ता है। यही उसके लिए एकमात्र संतोषप्रद प्रवृत्ति है।

जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, और जिसका किंचित् विस्तार-पूर्वक उल्लेख किया जा सकता है, अवकाश का सुचारु ढंग से किया गया उपयोग निवारक (Prophylactic) मूल्य रखता है। हृदय में अवस्थित भावों का जब इस प्रकार की क्रियाओं में समुचित प्रयोग होता है तो तनावों, उदासीनता और सुस्त-कामों से मुक्ति मिल जाती है। बुद्धिमत्तापूर्वक प्रयुक्त अवकाश आत्म-केन्द्रिता के विरुद्ध एक सुदृढ़ अवरोध है जो कैशोर अवस्था में अपराध की प्रवृत्ति को रोकता है। और भी यह लेखबद्ध है कि अनेक प्रौढ़ आयु की ग्रंथियाँ बचपन के व्यवसायों में पुनः लौटने पर ठीक हो गई हैं। संक्षेप में मानव प्राणी एवं स्थितियों के साथ समायोजन आसान हो जाता है।

मनोरंजनमूलक क्रिया-कलापों से हमारे सामाजिक और नैतिक मूल्य बँधे हुए हैं। इसके सम्बन्ध में कम ही अनुभव किया गया है कि समाज की नैतिकता

के लिए अवकाशकालीन क्रिया-कलाप कितना योगदान देते हैं। खेल, क्रीड़ा और शेष सभी, समायोजन की मूर्त स्थितियों में अन्तर्निहित हैं जिससे नैतिक गुणों का सृजन एवं विकास हो जाता है। दूसरे शब्दों में, जब ऐसे क्रिया-कलापों में लोग एक दूसरे के निकट आते हैं तो एक दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, दोस्ती की भावना सुदृढ़तर एवं सहयोगिता का उत्थान होता है और प्रतियोगी प्रवृत्तियाँ नष्ट-प्राय हो जाती हैं। मनोरंजक क्रिया-कलापों के माध्यम से नैतिक एवं सामाजिक सद्गुणों की उन्नति, विद्यालय का एक श्रम-साध्य कार्य है।

इस सबके बावजूद विशृंखलता अवांछनीय है। बालकों और प्रौढ़ों के अवकाशकालीन क्रिया-कलापों को संगठित करने की अत्यधिक जरूरत है। सबसे पहले, विविध आयु-स्तर के शिष्यों की मनोरंजक रुचियों को जाँचना अनिवार्य है; इस क्षेत्र में शोध कार्य की आवश्यकता है। सामान्यतया छोटे-छोटे बालक प्रतियोगी खेल में आनन्द लेते हुए देखे गए हैं, जिसमें वे अपनी आक्रामक प्रवृत्तियों को मुक्त कर देते हैं। निम्न-माध्यमिक विद्यालय के बालक अन्य चीजों की अपेक्षा अमिरुचि (हाँबी) में अधिक रुचि रखते हैं फिर भी ऐसी स्थिति में इस क्षेत्र में अभी सामान्य सिद्धान्तों को स्थापित करना सम्भव नहीं। किसी तरह उचित परिणाम यह है कि विद्यालय के मनोरंजक कार्यक्रम को मदों की एक वृहत् विविधता रखनी चाहिए जिससे बालकों की विविध प्रकार की रुचियाँ और प्रकृतियाँ समुचित रूप से पोषित हों।

यह स्वयं ही प्रस्तावित करता है कि विद्यालय में एक या अधिक मनोरंजन-नेता अवश्य होने चाहिए। परम्परागत शारीरिक प्रशिक्षक जिनके नाम से सामान्यतया सख्त व्यक्ति जुड़ा होता है; इस तरह के कठोर कार्य कराने वाले दण्डधारी शिक्षक अब नहीं रहे। उसके स्थान में छात्रों के वास्तविक नेता की आवश्यकता है। उसके कुछ प्रधानभूत गुण निम्नलिखित होने चाहिए :

१—विविध आयु-स्तरों की रुचियों एवं सम्भावनाओं का सुदृढ़ ज्ञान।

२—कल्पना और मौलिकता।

३—सहानुभूति और नेतृत्व का गुण।

४—सुदृढ़ संगठनकारी क्षमता।

५—आत्मबलिदान की क्षमता।

६—मनोरंजक क्रिया-कलापों में अपेक्षित प्रशिक्षण।

त्रिनोदशील नेता का कार्य शिष्यों के अवकाश-कालीन क्रिया-कलापों में यथा-

सम्भव अनेक शिक्षकों की सक्रिय सहभागिता को अंकित करना, शिष्यों में विनोद-शील नेताओं को प्रशिक्षित करना और सामान्यतया ऐसे क्रिया-कलापों में उन्हें अनुप्रेरित एवं निर्देश देना है। सुविधा के लिए भले ही वह, विद्यालय के अवकाश-कालीन क्रिया-कलापों की योजना बनाने एवं क्रियान्वित करने के लिए लघु समितियों का गठन कर सकता है। इस समिति के सदस्य छात्रों, शिक्षकों एवं समुदाय से लिये जाने चाहिए। यह देखना भी समिति का कार्य है कि स्थानीय क्षेत्रों में मनोरंजन-अभिकरण के नकारात्मक प्रभाव, जैसे व्यापारिक स्वार्थों के लिए निम्न स्तर के चलचित्रों का प्रदर्शन उचित ढंग से हटा दिया जाय। इसके दो तरीके हैं, विद्यालय में स्वस्थ क्रियाकलाप प्रदान करके और समुदाय में अच्छे अवकाश-कालीन अभिकरणों के सहयोग से, जैसे बाल-उद्यान, बालकों एवं प्रौढ़ों के लिए पुस्तकालय द्वारा। विद्यालय और समुदाय दोनों रचनात्मक क्रिया-कलापों में विकासमान बालकों के अवकाश को अधिकृत रखने के लिए इकट्ठे हो अपने साधनों को जुटा सकते हैं। वे अक्सर चित्रपट या चित्रात्मक साहित्य के माध्यम से दिखला सकते हैं कि किस प्रकार विविध देशों में बालक और युवक रचनात्मक ढंग से अपना अवकाश व्यतीत करते हैं जिससे वे अनुप्रेरित हों और साथ ही अवकाश बिताने में सद्विवेकी भी। अनेक देशों में युवक-केन्द्र स्थापित हो रहे हैं, जहाँ वे संगीत, चित्रकला एवं पद-यात्रा जैसी मनोरंजक क्रियाओं के लिए एकत्र होते हैं। उच्च और माध्यमिक विद्यालय इन क्लबों से गहरा सम्बन्ध रखें और छात्रों को उनमें शामिल होने के लिए उत्साहित करें। ये क्लब उन लोगों के लिए अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध होते हैं जो दूरी और समय के कारण, अपना अवकाश व्यतीत करने के लिए विद्यालय के क्षेत्र में नहीं जा पाते। किन्तु ऐसे क्लब पर केवल तभी विश्वास किया जाना चाहिए यदि वे सुयोग्य प्रबन्ध-व्यवस्था के अधीन हों और विद्यालय एवं समुदाय-नेताओं से निरन्तर निर्देशित एवं निरीक्षित होते हों।

अवकाश-कालीन क्रिया-कलापों के विभिन्न रूप हो सकते हैं जिसे एक विद्यालय अपने साधनों एवं सुविधा के अनुसार प्रचलित कर सकता है। निम्नलिखित अपितु प्रतिनिधि रूप में न कि सर्वांगीण रूप से क्रिया-कलापों को सुझाया जा सकता है :—

(१.) दुकानें और दस्तकारियाँ—हाथ को प्रशिक्षित करने एवं श्रम-प्रतिष्ठा के सिद्धान्तों में सन्तुलन बनाए रखने के लिए, विद्यालयों को विधिवत् रूप से दुकानों एवं दस्तकारियों की व्यवस्था जरूर करनी चाहिए। यह प्रसिद्ध ही है कि

बनी-बनाई वस्तुओं पर अत्यधिक निर्भरता, बालकों की रचनात्मकता, आनन्द और सफलता एवं अभिमान के बन्धन को समाप्त कर देती है। अपने हाथ से वस्तु बनाने में आनन्द की प्राप्ति निश्चित रूप से होती है। उस युवक के प्रफुल्लित चेहरे को देखिए जिसने विद्यालय की दुकान में छोटी कुर्सी या मेज बनाई हो। सफलता की कितनी योग्य अनुभूति एवं अभिमान के साथ वह अपनी उपलब्धियों का दावा करता है। सचमुच रचनात्मक कार्य का आनन्द बेजोड़ है। शिशु निकेतन (नर्सरी स्कूलों) के बालकों को छोटे-छोटे औजारों की संगति में रहने दीजिए जिससे वे उनका योग्यतापूर्वक उपयोग भी सीखें। वे शीघ्र ही हथौड़ा चलाना व बनाना सीख लेंगे। किण्डरगार्टन के बालक नियमित रूप से दुकानों पर जाएँ और अपनी रुचि एवं रूपरेखा के अनुसार चीजें बनाएँ। जब तक बहुत ही आवश्यक न हो, उनके काम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, जिससे उनकी रचनात्मक क्रिया ढीली न पड़ जाय। उन्हें अपने खेल के अंग के रूप में वस्तुओं को बनाने और बिगाड़ने दीजिए। तोड़-फोड़ की इन क्रियाओं से उचित रचनात्मक योग्यता का आविर्भाव होता है। एक बालक, जहाँ वह किसी विशेष वस्तु के निर्माण में सफलता के बिना अपने हाथ का निरन्तर उपयोग करते हुए निराशा अनुभव करता है वहाँ शिक्षक का हस्तक्षेप करना न्यायसंगत है। सामग्री के विविध प्रकारों से निपटने एवं उन्हें असंख्य रूपों में घसीटने के प्रयत्न में बालक विभिन्न व्यक्तित्व के ढाँचे में स्वयं को ढाल लेते हैं जो उन्हें विभिन्न व्यवसायों में समुचित रूप से निर्देशित कर सकता है। इससे एक बार फिर स्थापित हो जाता है कि अवकाश और कार्य किस प्रकार परस्पर सम्बन्धित हैं। और डिवी ने ठीक ही कहा है कि “शिक्षा जीवन के लिए तैयारी नहीं है, वरन् स्वयं जीवन ही है।”

माध्यमिक विद्यालय के स्तर पर क्रिया-कलापों की श्रेणी की समुचित रूप से वृद्धि करनी चाहिए और बागवानी, चित्रकला, फोटोग्राफी आदि क्रियाओं को सम्मिलित किया जाना चाहिए।

(२) बिन्दुरेखीय एवं प्लास्टिक कला—कला का काम दस्तकारियों से गहराई से जुड़ा हुआ है और आत्माभिव्यक्ति में अत्यधिक सन्तोषप्रद अनुभव हो सकता है। नर्सरी से बाहर जाकर देखने के लिए शिष्यों को उत्साहित किया जा सकता है कि वे अत्यधिक प्रभावित करने वाली चीजों को बाद में रेखांकन, चित्रांकन, मूर्तिकला आदि के जरिये रूपान्तरित कर सकें। रंगों के साथ खेलना बालकों के लिए एक सहज विनोदात्मक प्रवृत्ति हो सकती है। जलरंग (वाटरकलर) एवं खरियारंग की व्यवस्था समुचित रूप से आकर्षक एवं विविध रंगों के अनेक

चित्र उत्पन्न कर सकते हैं। प्लैस्टीसीन एवं मिट्टी के साथ नमूनों की विविध किस्में विकसित की जा सकती हैं। प्रबुद्ध शिष्य विख्यात व्यक्तियों एवं दृश्यों को अंकित कर कही गई कहानी को रोचक बनाने में आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

कला में इस प्रकार का क्रिया-कलाप विकासमान व्यक्तियों की कल्पना को प्रशिक्षित करते हैं एवं उनको प्रेरित करते हैं। शिष्यगण विनोद के सुस्पष्ट बोध के माध्यम से आसानी से कार्टून बना सकते हैं। लेकिन स्पष्ट है कि शिष्यों को जब तक विशेष कला की टेकनिक की शिक्षा नहीं मिलेगी उनका दूर तक विकास नहीं कर सकते। कहने का अर्थ यह है कि अन्य बातों के समान प्रतीकात्मक कला और यथार्थवादी कला के अन्तर की प्रशंसात्मक आलोचना कर सकें और रंग एवं रेखा सामंजस्य के सौन्दर्य का आस्वादन कर सकें।

कलाकृति स्वयं में सन्तोषप्रद होने के अतिरिक्त आत्माभिव्यक्ति के दूसरे प्रकारों से जैसे नाटक, मंच-संयोजन, विज्ञापन, पोशाक आदि से उचित ढंग से सम्बद्ध की जा सकती है। संक्षेप में बच्चों के अन्तर्गत कला के माध्यम से, सौन्दर्य के प्रति संवेदनशील होने के साथ-साथ इसका आस्वादन करने की क्षमता विकसित हो जाती है। यह हमेशा अवकाश को व्यतीत करने का योग्य साधन रही है, और अनेक देशों में सौन्दर्य-विषयक मूल्य एवं नैतिक मूल्य प्रदान करके सांस्कृतिक पुनर्जागरण को जन्म दिया है। कला के तकनीक में उपलब्ध अनुशासन समुचित शिक्षित कलाकारों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में प्रवेश कर जाता है और जबकि स्वतंत्र रूप से उसका कोई भी लाभ नहीं।

इस बात पर बल देना व्यर्थ है कि कला-भवन एवं कला-प्रदर्शनियाँ छात्रों की कलात्मक रुचियों को उत्तेजित करने के लिए किसी प्रगतिशील विद्यालय के नियमित लक्षण होने चाहिए। कला सम्बन्धी चित्रात्मक पुस्तकें एवं पत्रिकाएँ भी विद्यालय पुस्तकालय में प्रचुर मात्रा में होनी चाहिए जिससे छात्र अपने खाली समय में उनसे लाभ उठाएँ।

(३) संगीत—स्नायु-तंत्रों पर संगीत का शांतिदायक प्रभाव पड़ता है जिससे गायक को आनन्द की अनुभूति होती है। जबकि लय संगीत की आत्मा है, संगीत स्वयं जीवन को लय प्रदान करता है। मनोवृत्तियों को सामान्य-रूप से संतुलित करने और विशेष रूप से शारीरिक एवं मानसिक रोगों का उपचार करने के लिए इसका उपचारात्मक मूल्य दिन प्रतिदिन अनुभव किया जा रहा है।

सभी छात्रों को संगीत के कठोर एवं कृत्रिम पाठ्यक्रम की शिक्षा प्रदान करना जरूरी नहीं है। इसे विशेष प्रतिभा-सम्पन्न के लिए ही सुरक्षित रखना चाहिए।

उनको सामान्यतः सुगम-संगीत एवं सामूहिक-गान में सूत्रपात विचारणीय सहायता दे सकता है। विशेष रूप से लोकगीत लोगों को पारस्परिकता एवं सम्बन्धपन का बोध प्रदान करता है, इसके अतिरिक्त अनन्य रूप से प्रसन्न करता है। किसी तरह यह अनिवार्य है कि संगीत छात्रों के आयु-स्तर के अनुकूल हो। छात्रों को मात्र रोमानी गीतों के विपरीत उच्च सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक विषय-वस्तु से युक्त गीतों से परिचित करवाना अत्यधिक आवश्यक है।

समुचित रूप से संगीत से किया गया प्रारम्भ अधिकाधिक रचनात्मक संगीत की ओर प्रेरित कर सकता है। कुछ लोग संगीत-रचना में आनन्द ले सकते हैं। दूसरे निजी रागिनियों एवं लय को प्रस्तुत कर सकते हैं। समूह में या स्वयं अकेले गाना बिल्कुल एक उदात्त अनुभव है।

विद्यालयों में संगीत क्लब अत्यंत उपयोगी संस्था है। विद्यालय के उत्सव के समय विविध संगीत और यथावसर संगीत सुखद विद्यालयों के सामान्य लक्षण हैं। यहाँ तक कि संगीत-श्रवण के प्रति प्रेम एवं इसका आस्वादन करना योग्य-तम मनोरंजक प्रवृत्ति से अवकाश को भर देता है।

(४) लेखकों का क्लब और अध्ययन परिषद्—जबकि उपयोगी प्रयोजनों के लिए दोनों लिखित एवं उच्चारित शब्दों में अभिव्यक्ति करना मनुष्यों के लिए अनिवार्य है, और जब वे शब्दों से काल्पनिक क्रीड़ा करते हैं तो यह प्रवृत्ति उन्हें और अधिक आनंद प्रदान करती है। पहले हम कला के रूप में लिखित शब्दों को लेते हैं। शब्द न केवल तथ्यों को ही, बल्कि अनुभूति एवं अनुभवों का भी प्रतीकीकरण करते हैं। ऐसे जीवन्त अनुभवों एवं अनुभूतियों की चेतना की ओर आगे बढ़ाना प्रारम्भिक स्तर के बालकों के लिए सम्भव है जिससे उन्हें लेखन तक प्रोत्साहित किया जा सके। लेखकों के क्लब में, एक शिक्षक बालकों को अपने अनुभवों को कलात्मक रूप से लिखने में सहायता दे सकता है। लेखन कला अन्य शिल्पों से कम नहीं है। बालकगण परिकथाओं, कहानियों, नाटकीय घटनाओं एवं गीतों को लिख सकते हैं, जिन्हें आस्वादन के लिए क्लब के सदस्यों में लिया-दिया जा सकता है। यह उन्हें वस्तु-निर्माण की, अपने आलोचनात्मक विभागों के प्रशिक्षण एवं अनुभव में सहभाग लेने की प्रसन्नता प्रदान करता है। शिक्षक, या क्लब के अध्यक्ष शिक्षक लेखन सुधारने के साथ ही शैली के सम्बन्ध में संकेत भी दे सकते हैं।

अध्ययन-परिषदों में शिष्यगण लिखित चुटकुलों से लेकर अधिक विस्तृत लेखन जैसे कहानियाँ, जीवनीमूलक रेखाचित्र, सहपाठी के व्यंग्यलेख इत्यादि

को पढ़ने के लिए कहा जाय। पढ़ी हुई पुस्तकों के सार-संक्षेपों का वर्णन करने के लिए भी कहा जा सकता है। यह विस्तृत अध्ययन में रुचि जगाने के साथ ही सदस्यों को ऐसे साहित्य से परिचित कराएगा, जिसके साथ सम्भवतः वे सम्पर्क में नहीं आ सकते थे। कुछ खेल जो शब्दों का उपयोग करते हैं, लाभदायक रूप से खेले जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक सम्वाद-मूलक खेल बिलकुल एक मञ्चाक और निर्देश हो सकता है। क्लब का नेता या शिक्षक दो छात्रों को दो अलग-अलग वाक्य दे, जैसे एक को 'मुझे फूल पसन्द है', और दूसरे को 'मुझे पुस्तकें पसन्द हैं।' दोनों में से कोई भी एक दूसरे के वाक्य को न जानता हो, और उन्हें किसी विषय पर विवाद करने के लिए कहा जाए, उदाहरणतया, 'केवल मात्र काम और खेल के अभाव के कारण मोहन सुस्त लड़का हो गया'। इसके साथ यह निर्देश हो कि वे विवाद के समय अपने वाक्यों को अनुकूल परिस्थिति में प्रयोग करें। जो सर्वप्रथम वाक्य का उचित ढंग से प्रयोग करता है, उसी की जीत होती है। इससे बालकों को सम्वाद में अच्छी शिक्षा मिलती है।

इन क्लबों का उद्देश्य, अभिव्यक्ति में शिक्षा और उसके अवसर देना, अवरुद्ध भावों एवं तनावों को मुक्त करना, आलोचनात्मक योग्यताओं को प्रशिक्षित करना और स्थायी साथ प्रदान करना है, जैसे पठन, लेखन और सम्वाद अनिवार्यतः छुट्टी के समय होते हैं।

(५) नाटक क्लब—नाटकीय अभिनय मन को जिस तरह आकर्षित करता है अन्य कोई चीज नहीं करती। यह सहभागियों के विभिन्न गुणों को खोज निकालता है और चित्रकला, संगीत, नृत्य आदि की भाँति, प्रायः जैसा यह स्वयं करता है, सर्वश्रेष्ठ कला होने का दावा कर सकता है। यह व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व से बाहर आने और वर्जनाओं एवं निषेधों से मुक्त अधिक सुचारु ढंग से सामाजिक जीवन यापन करने में सहायक मूल्यवान माध्यम है। यह 'दूसरे स्थानों, देशों और परिस्थितियों में जीने का अवसर' प्रदान करके नवीन चमत्कारिक अनुभवों को प्रस्तुत करता है।

शिक्षक का कार्य शिष्यों को नाटकीय अभिनय के प्रति प्रेरित करना है। उसे बिना किसी औपचारिकता एवं सहानुभूति के साथ कार्य करना चाहिए जिससे शिष्य बिना किसी अनुचित आत्म-चेतना के, स्वयं को अभिव्यक्त कर सकें। स्वतंत्र और अवर्जित क्रिया नाटकीय क्रिया-कलाप का एक अत्याज्य अंग है। शिक्षक को अधिकतर प्रेक्षक के रूप में व्यवहार करना चाहिए, लेकिन आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र संकेत करना भी आवश्यक है जिससे सहयोगी विशुद्ध सहज-स्फूर्ति की

बपेक्षा नाट्य में अधिकाधिक संयमित तकनीक तक निर्दिष्ट हों। वह क्रमिक रूप से उन्हें आगे चल कर खेलने के लिए लघुकथाएँ एवं नाटक लिखने के लिए उत्साहित करके रचनात्मक नाट्य-कला तक प्रेरित कर सकता है।

नाट्य-कला का उद्देश्य समाजीकरण, आत्माभिव्यक्ति, आत्मविस्मृति, मानसिक स्वास्थ्य की प्रवृत्ति को विकसित करना है, और इस प्रकार यह बहुमूल्य अवकाश-कालीन व्यस्तता सिद्ध हो सकती है।

(६) खेल और अभिरुचि (हॉबी) क्लबें—खेल और अभिरुचि क्लबें छात्रों की अधिकाधिक शक्तियों को अपने अन्तर्गत समाविष्ट कर लेती हैं। खेल-क्लबें विविध खेलों और पद-यात्राओं का संगठन करती हैं और समय-समय पर प्रतियोगिताओं की व्यवस्था करती हैं। भौतिक क्रिया-कलाप और सामाजिक सहभागिता खेल में साथ-साथ चलते हैं। आक्रामक प्रवृत्तियाँ किसी स्वस्थ प्रतियोगितामूलक या निरपेक्ष समूह मनोवृत्ति में परिवर्तित हो जाती हैं।

उसी प्रकार व्यस्त करने वाली विविध अभिरुचियाँ लाभ के साथ प्रस्तुत की जा सकती हैं। बुद्धिमत्तापूर्वक यदि किया जाए तो टिकट और सिक्कों का संग्रह, बागवानी, शहद की मक्खी पालन, सामाजिक सेवा आदि न केवल आनन्दप्रद विनोद ही हैं, बल्कि सूचना प्राप्त करने एवं निर्देश के उद्गम हैं।

उपरोक्त उल्लिखित क्रियाकलाप और उन्हीं की तरह अन्य भी, जिन्हें उचित ढंग से निर्देशित किया जाए वे अवकाश-कालीन सक्रिय अभिकरण कहे जा सकते हैं। सम्यक् रूप से निर्देशित होकर वे व्यापारिक स्वार्थों से संचालित मनोरंजन अभिकरणों का, जैसे, नाचघर, शराबघर, जुआ की गुप्त जगहों और सनसनीखेज एवं उत्तेजक चलचित्रों का उन्मूलन कर सकते हैं।

सहायक पुस्तकें :—

1. American Youth Commission, Youth and the Future : American Council of Education, Washington D. C.
2. Education for Leisure : S. R. Ranganadhan, Indian Adult Education Association, Delhi.

विश्व समाज के लिए शिक्षा

“चूँकि युद्ध का प्रारम्भ मनुष्यों के मन से होता है, इसलिए मनुष्य के मन से ही शान्ति की सुरक्षाएँ निर्मित की जानी चाहिए।” —युनेस्को।

विश्व समाज का आदर्श मनुष्य मन की कोई नयी खोज नहीं है। यद्यपि समकालीन विश्व परिस्थिति ने राजनीतिक, आर्थिक और यांत्रिक स्तर पर सुचारु ढंग से प्रकाश डाला है जिसके द्वारा भविष्य में विकसित होते हुए विश्व समाज का स्पष्ट अनुदृश्य प्राप्त हो गया है। बहुत पहले ऋग्वेद में परिवार की विनम्र शुरुआतों से विश्व समाज के विकास का उल्लेख मिलता है। इस विचारधारा का अनुकरण करने वाले ऋषियों, दार्शनिकों और मानवतावादियों की लम्बी सूची प्राप्य है जिन्होंने समय-समय पर मनुष्य के लिए सार्वभौमिक बन्धुत्व को मनुष्य के लिए एकमात्र मार्ग बतलाया है। धार्मिक और दार्शनिक रूप से विश्व समाज का आदर्श बहुत पहले से मनुष्य मन में गहरी जड़ें जमा चुका है। वेदान्तियों की ब्रह्म अथवा सम्पूर्ण विश्व एकता की संकल्पना तथा बौद्ध-ईसाई-गाँधीवाद की अहिंसा की परिकल्पना गम्भीरतापूर्वक यही निर्दिष्ट करता है कि निस्सन्देह मानव आदर्श ‘विश्वमेव कुटुम्बम्’ ही है, यानी सम्पूर्ण विश्व एक ही परिवार है।

यह सत्य है कि वास्तविक व्यवहार में मानवता को परिवार से लेकर राष्ट्र तक सम्बन्ध स्थापित करने में हजारों वर्ष लगे हैं। और एक बार इतिहास से ऐसा प्रतीत हुआ है कि राष्ट्रीयता ही एक मात्र मानव उद्देश्य है तथा देशभक्ति उच्चतम सद्गुण है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो राष्ट्रीयता की भावना ने उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति की है। इसने लोगों को परिवार के संकीर्ण निष्ठाओं से निकाल कर बृहत्तर समुदायों की निष्ठाओं से जोड़ा है जिससे दूसरे लोगों के प्रति अभी और बृहत्तर निष्ठाओं के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया है।

यह दूसरी बात है कि विक्षिप्त राष्ट्रवाद ने मानवता के लिए बड़ी भारी अप-सेवा की है और कर रहा है, परन्तु यह आज की तर्कसम्मत विश्व परिस्थितियों में स्वयं निन्दनीय है। राष्ट्रवाद की किसी भी प्रक्रिया को जो सत्य एवं अहिंसा के आधार्मिक मानव मूल्यों के विपरीत पड़ती है, अवश्य ही उखाड़ फेंका जाना चाहिए जिससे आदर्श विश्व समाज की स्थापना शीघ्रातिशीघ्र हो सके। शिक्षा जो कि सामाजिक नियंत्रण के लिए एक उच्च-स्तरीय प्रभावकारी उपकरण है, उस समाज निर्माण में स्पष्ट भूमिका अदा करने के लिए बाध्य है, जैसा यह है। विश्व के अधिकतम देशों की अधिकाधिक शैक्षिक संस्थाओं ने अपने कार्यक्रम में इस विषय को गम्भीरतापूर्वक नहीं अपनाया। फलतः अतिरिक्त विद्यालय अभि-करणों के लिए कोई विकल्प शेष नहीं रह जाता सिवाय इसके कि किसी महत्त्वपूर्ण परिणाम की उपलब्धि के बिना इस आदर्श की सेवा में अपनी शक्ति नष्ट करे। इसका बड़ा सीधा-सादा तथ्य यह है कि मनुष्यों के अत्यधिक सम्बेदनशील वर्ष विद्यालय एवं कालेजों में व्यतीत होते हैं और यदि उन्हें विपरीतावस्था में प्रतिबद्ध कर दिया जाए तो वे बाद में अपने पूर्वाग्रहों एवं प्रवृत्तियों से ऊपर नहीं उठ सकते। अतः उपयुक्त यही है कि शैक्षिक संस्थाएँ, साथ-साथ वे स्वयं जो कुछ कर सकती हैं, उन सभी उदार अभिकरणों को जो कि विकासशील अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रशंसनीय कार्य को क्रियान्वित कर रही हैं, अपनी सेवाएँ प्रस्तुत करें।

वर्तमान विश्व परिस्थिति राजनीतिज्ञ और शिक्षक दोनों के लिए समान रूप से चुनौती है क्योंकि दोनों ही हजारों युवकों को प्रभावित करने की सुखद स्थिति में हैं। किन्तु इससे पूर्व कि कुछ किया जा सके सर्वप्रथम शिक्षकों को स्वयं शिक्षित होने की आवश्यकता है। विशेषतः शिक्षकों की श्रेणी जो संकीर्ण या आक्रामक राष्ट्रवाद के मूल्यों पर पोषित होती रही है, इसके संकीर्ण दृष्टिकोण से बाहर शिक्षित की जानी चाहिए। इस बात में शिक्षकों की विकासमान पीढ़ी के सम्बन्ध में परिस्थिति भाग्यपूर्ण है क्योंकि इसकी परम्परा में विश्व चेतना का एक बृहत् हिस्सा विद्यमान है। विश्व नागरिकता का हित प्रमुख करने के लिए शिक्षकों का प्रशिक्षण परिस्थिति का अत्याज्य तर्क है। मानवता के भाग्य का एक बड़ा हिस्सा इस बात पर निर्भर है कि किस प्रकार यह कार्य किया गया है। बालकों एवं युवकों की शिक्षा के विषय में जो कुछ थोड़े तथ्य हैं अधिकतम शिक्षकों की शिक्षा पर चरितार्थ होते हैं। इसलिए इस अध्याय में प्रस्तुत समस्या पर शिक्षकों के प्रशिक्षण का विवेचन अलग से करने का प्रयत्न

नहीं किया गया है, फिर भी आवश्यकतानुसार उद्देश्य पूर्ति के लिए जहाँ-तहाँ विस्तृत उल्लेख प्रस्तुत किये गये हैं।

परिवार के साथ-साथ आरम्भिक विद्यालय ऐसे स्थान हैं जहाँ बालकगण अपने जीवन के आधारिक नमूने निर्मित करते हैं। यह केवल इसी स्तर पर बालक प्रारम्भिक परन्तु चिरस्थायी अनुभवों को प्राप्त करते हैं। समाज-निर्माण में सहायक इन विद्यालयों की सम्भावना का अभी तक सामान्यतः अनुभव नहीं किया गया। आदान-प्रदान की सामाजिक प्रक्रिया में, सामान्य खेल, और शेष सभी जो इन विद्यालयों में होते रहते हैं, सहपाठियों के साथ-साथ स्वस्थ समायोजन के अत्यावश्यक सद्गुणों की आधारशिला है। प्रारम्भिक विद्यालय शिक्षकों के कार्यों में से यह एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वे न केवल बालकों की स्वस्थ समूह-निष्ठा विकसित करने में सहायता दें, बल्कि देखें कि इस निष्ठा का दायरा वृहत्तर समूहों तक विस्तृत होता चला जाये। अस्तु, प्रत्येक सम्भव तरीके व्यक्तिवाद एवं संकीर्ण समूह-निष्ठाओं का विकास अध्यवसायपूर्वक रोका जाना चाहिए।

खेल, साधारण अभिरुचि (हाँबी), सामान्य भोज और इसी तरह के अनुभव बालकों में समुदाय मनोवृत्ति को सुदृढ़ करने के लिए शिक्षकों द्वारा उपलब्ध किये जा सकते हैं। दूसरे देशों के बालकों के साथ पत्र-मित्रता और उपहार पैकेट विनिमय के लिए उन्हें उत्साहित किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के विकास के लिए शिक्षकों द्वारा दूसरे देशों के बच्चों को कहानियों एवं जानवरों एवं वनस्पतियों का वर्णन भी प्रस्तुत किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति के जीवन्त अनुभव रुचिकर वर्णनों एवं चलचित्र के द्वारा बच्चों के मन में ताजा रखे जाने चाहिए। बालकों के रुचिकर वर्णनों एवं चलचित्रों के द्वारा बच्चों के मन ताजा रखे जाने चाहिए। बालकों की रुचि के अनुरूप विषय जैसे चीन के बालकों के लिए भारत के हाथियों का उपहार और भारत के बालकों के लिए चीन का रंगीन मछलियों का उपहार अन्तर्राष्ट्रीय हित में समुचित रूप से प्रचारित किये जा सकते हैं। राष्ट्रीय महत्त्व के अवसरों पर किसी देश के विद्यालय के बालकगण दूसरे देशों के बालकों को अभिवादन-पत्र भेजें, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय भावना का अन्य मार्ग भी खुल जाए। शायद वह दिन दूर नहीं है जब देशों के बीच अपने शिक्षकों के अभिभावकत्व में बालकों का स्वतन्त्र विनिमय होगा। कुछ परिवार पहले ही विदेशी घरों में शिक्षा के लिए विश्व भर में बालकों का विनिमय कर रहे हैं और अन्तर्राष्ट्रीय सामंजस्य के ये लघु दूत किस प्रकार युद्ध-लोलुपों को शर्मिन्दा कर रहे हैं, देखने लायक है।

छोटे बालक कठोर तर्क और बुद्धि की भाषा नहीं समझते। वे अक्सर भावात्मक और मनोभावात्मक अनुभवों के जगत् में रहते हैं। उनके मनोभावों को बड़ी सावधानी से पोषित करने की आवश्यकता है। बचपन के सुखद अनुभव किसी भी समाज की स्थायी सम्पदा है। इसलिए शिक्षकों को देखना चाहिए कि उनके अधीन बालकगण अन्तर-व्यक्तिगत और अन्तर-समूह सम्बन्धों के माध्यम से जीवन के सुखद क्षणों को प्राप्त करें ! अब, बेचैनी, भय या कोई भी दूसरे रूप का व्यति-गत दोष बाद में जीवन के वृहत् क्षेत्रों में भयानक परिणामों में बदल सकता है। इस बात की सम्भावना अधिक है कि वे जो आरम्भिक बचपन में समायोजना की कमी अनुभव करते हैं सामान्यतः सम्पूर्ण जीवन में मानव-विद्वेषी बने रहते हैं और अपने क्रिया-कलाप के दायरा के अनुसार छोटे-बड़े संघर्ष उत्पन्न करते रहते हैं। सहयोग की कला जितनी जल्दी हो सके सिखायी जानी चाहिए, क्योंकि विद्यालय में सीखी हुई मित्रता समय की गति के अनुसार फलप्रद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को आसानी से निर्मित करने में सक्षम होगी। सामान्यतः शिक्षकों को चाहिए कि मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य-विज्ञान के अच्छे नियमों को सम्यक् रूप से समझें तथा उन्हें व्यवहार में लाएँ जिससे बालकों का सुखद संसार व्यर्थ के संघर्षों एवं विध्वंसक युद्धों से परे, प्रौढ़ों के सुखद संसार में अविच्छिन्न रूप से विकसित हो। इस बात पर बल देने की आवश्यकता अनुभूत नहीं होती कि राष्ट्रीय भाषा में सुपाठ्य सामग्री को जो विश्व समाज के आदर्श का पोषण कर रही है, पाठ्यक्रम के अन्दर रखे जाए। यदि इस विषय पर पुस्तकें कम हैं तो विभिन्न देशों के शिक्षक अवश्य आगे आएँ और विभिन्न आयु-स्तर के छात्रों के लिए पुस्तकें लिख कर इस अभाव की पूर्ति करें। सभी सरकारें जो स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रतिज्ञा कर चुकी हैं, ऐसे लेखकों को पुरस्कार देकर अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की प्रक्रिया को तीव्र कर सकती हैं।

मनःस्थिति का मानव व्यवहार पर गहरा असर होता है। मनःस्थिति के समूह को हम अपनी सद्बृत्ति से बना-बनाया ग्रहण कर लेते हैं। अतः यह देखना शिक्षक का प्रमुख दायित्व हो जाता है कि अवांछनीय प्रवृत्तियाँ निर्विरोध न रहने पाएँ। प्रवृत्तियों का मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान फलतः शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं के पाठ्यक्रम में प्रमुख रूप से प्रस्तुत किये जाने चाहिए। सम्यक् दृष्टिकोण सामाजिक कठिनाइयों को सरल बनाते हैं, जबकि गलत विचारधारा जगत को उलटा प्रस्तुत करती है। विद्यालय और कालेज स्तर पर विश्व इकाई के लिए अनुकूल मनःस्थिति शिक्षकों की सुविधानुसार सम्पूर्ण साधनों से निर्मित की

जानी चाहिए। इस प्रक्रिया में सहायक कुछ पद्धतियों पर विचार किया जा सकता है:

(१) **सम्यक् सूचना**—सम्यक् और पर्याप्त सूचना पूर्वग्रहों और कभी-कभी आक्रामक व्यवहार को प्रभावोत्पादक रूप से सुधारती है। सूचना और सुधार साथ-साथ चलते हैं और यह उपयुक्त ही है कि सम्पूर्ण विश्व के लोग सर्वसामान्य रूप से सत्य पर आधारित सूचना में भाग ले। बहुत दिनों तक व्यक्ति, राष्ट्रों एवं जातियों ने दूसरे देशों के सम्बन्ध में अपने अज्ञानपूर्ण विश्वासों और प्रवृत्तियों को स्पष्टतया अपने लिए स्वीकार कर लिया था और मुश्किल से उसमें सुधार कर पाये। यहाँ तक कि दूसरे लोगों के विषय में ठीक सूचना प्राप्त करने के विपरीत बाधाएं ही पहुँचायीं। परिणामतः ज्ञान और सत्य के मूल्य पर अज्ञान और अफवाह ने उन पर शासन किया। और जब अफवाह फैल जाए तो आप यह अच्छी तरह समझ लें कि श्रेष्ठ मानवीय मूल्य खतरे में है जैसा कि जोनाथन स्विफ्ट ने विशिष्ट रूप से कहा है, “असत्य तीव्रगति से फैलता है और सत्य इसके बाद लँगड़ा कर चलता है।”

जब कोई भी सूचना व्यक्तित्व में रिसने एवं दृष्टिकोण को प्रभावित करने का मार्ग खोजती है तो दुख उठाकर सूचना प्राप्त करने की ऐच्छिक आधारिक प्रवृत्ति शैक्षिक संस्थाओं में आवश्यकता से अधिक वांछनीय है। इस प्रकार के दृष्टिकोण को मानव युवक के मन में बलात् आरोपित नहीं किया जा सकता है। बल्कि सम्यक् सूचना सेवन की कुशल पद्धतियों के माध्यम से और उस प्रक्रिया से क्रमिक रूप से पर्याप्त रुचि निर्मित करके ही किया जा सकता है।

युनेस्को के सामाजिक विज्ञान विभाग के प्रकाशन से जो अनेक देशों की ‘जीवन शैली’ पर पुस्तिकाएँ प्रस्तुत कर रहा है, शिक्षक समुचित लाभ उठा सकता है। दूसरे निबन्ध वस्तुगत रूप से प्रभावित करते हुए सांस्कृतिक रूढ़ियों को तोड़ते हैं कि कोई भी जाति या समुदाय इतिहास काल में कभी भी अविकसित समूह रहा हो पर जातीय उच्चता के वैधानिक अधिकार रखता है। वास्तव में जातीय उच्चता की कहानी कुछ अज्ञानी और स्वार्थी व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत की गई है जिसका सम्बन्ध भूतकाल से है और इसका थोड़ा बहुत शेष सम्यक् सूचना के साधनों के कारण तीव्रता से नष्ट हो रहा है। विभिन्न देशों की जीवन-पद्धति के अध्ययन के परिणाम स्वरूप पुनः मानवता पर अधिकाधिक तीव्रगति से प्रभाव पड़ रहा है कि मूलतः वे एक ही प्रकार के मानवीय भावों की आकांक्षाओं में भाग लेते हैं। यह सिर्फ अज्ञान की एक मोटी पर्त है जिसने मानवता के एक ही हृदय को छुपा

रखा है। अतः ऊपरी धरातल पर विभिन्न संस्कृतियों में जो अन्तर है, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अलगाववाद, उच्चता, अज्ञान एवं आक्रामकता के अतीत दोषपूर्ण दृष्टिकोण के अवशेष के लिए सुरक्षात्मक दलील नहीं है। सचमुच आनेवाला समय प्रतीक्षा कर रहा है जब एक बृहत् विविधता के दृष्टिकोण प्रत्येक व्यक्ति को एक व्यापक जीवन-शैली में जाने देंगे, राष्ट्रों के बीच तब सिर्फ स्वरूप और नैतिक संस्कृति की प्रतियोगिता शेष रह जायेगी।

ऐसे पत्र और पत्रिकाएँ, वस्तुतः छात्रों के एकादमिक स्तरों के अनुकूल, जिस प्रकार एक से दूसरे देशों के सांस्कृतिक और भौतिक योगदान को ढँकते हैं, चाहे आज या अतीत में विद्यालय एवं कालेज के पुस्तकालय में उदार स्वागत के योग्य हैं। वास्तव में बालकों को चाहिए कि वे ऐसी सामग्रियों को दीवार सजाने के लिए एकत्र करें। बालकों के लिए हिन्दी पत्रिकाओं में विभिन्न देशों के बालकों के जीवन से सम्बन्धित समुचित लेखों की शृंखला प्रकाशित हो चुकी है जो युवक पाठकों के मनोविज्ञान से निर्यात होकर, उसके मानस ऐक्य पर गहन प्रभाव डालने में असफल नहीं हो पाई। इसके अतिरिक्त बालकों को विविध संकेतों सम्बन्धी सूचनाओं को एकत्र करने के लिए आसानी से प्राप्य सामग्री द्वारा अथवा शिक्षकों को प्रेरणा द्वारा उत्साहित करना चाहिए, कि किस प्रकार विभिन्न देशों में बालक और बूढ़े अपना जीवन व्यतीत करते हैं। पोस्टर, चित्र, सूचना, चलचित्र, रेडियो और कुछ देशों में टेलीविजन इस प्रक्रिया के लिए प्रयोग में लाये जा सकते हैं। मात्र संयुक्त राष्ट्र ने अपने विविध विभागों के माध्यम से, अनेक सेवाओं का संगठन कर लिया है। उदाहरण के लिए 'संयुक्त राष्ट्र आपको बुला रहा है', रेडियो डिविजन के कार्यक्रम के रूप में संसार में विद्यालयों की बृहत् संख्या द्वारा उपयोग में लाया जा रहा है। उसी प्रकार इसके प्रसारण पांडुलिपि एवं प्रकाशन 'संसार के लोगों को संयुक्त राष्ट्र की पुकार है' शीर्षक अतीव सूचनात्मक एवं निर्देशात्मक है। छात्रों को इन प्रसारणों एवं प्रकाशनों पर विचार-विमर्श एवं विवेचन करने के लिए नामावलियाँ बनाकर निमंत्रित किया जाना चाहिए।

जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कुछ उच्च संगठित क्षेत्रों में भावना के प्रतिनिधि रूप में तीव्र गतिविधियाँ कार्य कर रही हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि आर्थिक रूप से पिछड़े देशों में अभिकरणों की कमी है जो अन्यथा बिखरी हुई सामग्री को न केवल शैक्षिक समस्याओं के ध्यान तक ला सकते हैं बल्कि उनकी इच्छा पर सम्भव सीमा तक उन्हें प्रस्तुत करते हैं। इस सूचना-पोषण का दूसरा पहलू भी है और वह है गलत सूचनाओं एवं गलत अवधारणाओं से निपटना। युद्धलोलुपों एवं पथभ्रष्ट राष्ट्र-

वादियों द्वारा उपयोग में लाया गया है और विस्तृत प्रचार तकनीक में व्यापक रूप से तोड़-फोड़कर बहुत होशियारी से भ्रामक सूचनाएँ फैलाई जाती हैं जिससे साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति आसानी से गुमराह हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, मध्यम वर्ग के अंग्रेजों में से कोई १२ प्रतिशत लोगों की मान्यता थी कि, यहूदी उस प्रत्येक वस्तु को भ्रष्ट कर देते हैं जिसके वे सम्पर्क में आते हैं। ३१ प्रतिशत लोगों का विश्वास था कि यहूदी दूसरे के साथ अपने व्यवहार में एकदम क्रूर, धनलोलुप और सिद्धान्तशून्य हैं और ४० प्रतिशत लोगों का विश्वास था कि यहूदी मानव जाति की निम्नतम श्रेणी है जो इस धरती पर कीड़ों की तरह रेंगते हैं। इसके विपरीत अनेक लोग सोचते थे कि यहूदी अधिकतर उच्चतर किस्म के लोग हैं, इस प्रकार ६ प्रतिशत लोगों का विश्वास था कि यहूदी कठोर अत्याचारों के बाद भी इसलिए जीवित थे कि उनमें प्रशंसनीय गुण थे।”

फिर भी राष्ट्रीय रूढ़ियाँ जो ऊपर असंयमित पूर्वाग्रहों में व्यक्त की गई हैं वस्तुपरक परीक्षणों के निकष पर खरी नहीं उतरतीं। जब यहूदियों की बुद्धि एवं व्यक्तित्व की परीक्षा हुई, तो उन्होंने हृदय एवं मस्तिष्क के ऐसे गुणों का उद्घाटन किया, जो न केवल उच्च रूप से प्रशंसनीय ही थे, बल्कि आसानी से उनकी बराबरी भी नहीं की जा सकती।^१ अतः यह शिक्षकों, जो कि सत्य की भावना से युक्त कहे जा सकते हैं, का दायित्व है कि वे अपने छात्रों को सम्यक् रूप से प्रबुद्ध करें। प्राचीर पत्र तथा दैनिक समाचार संगठन सूचनाएँ शिक्षकों के कार्य के साथ-साथ सहज रूप से उपयोग में लाई जा सकती हैं।

(२) प्रत्यक्ष सम्पर्क—उन घटकों में जो मित्रता के स्वस्थ स्थायी मनो-भाव निर्मित करते हैं, प्रत्यक्ष सम्पर्क सहज रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण है जब कि किसी सामान्य कार्य के लिए लोग एक साथ कार्य करते हैं तो वे साधारणतया गहरे साहचर्यों के बन्धन विकसित कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, श्वेत और नीग्रो में जो अन्यथा कट्टर शत्रु हो सकते हैं सामान्य शत्रु के विपरीत इकट्ठे लड़ते हुए एवं कारखानों में काम करते हुए, परिणामतः एक दूसरे के प्रति आदर के साथ स्थायी भाव विकसित हो जाते हैं। व्यापक रूप से ऐसे सम्पर्क एक दूसरे के सम्बन्ध

१. H. J. Eysenck : Uses and Abuses of Psychology, p. 261
Penguin Books, London.

२. विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए, वही, अध्याय १४, Psychology of Anti-Semitism.

में पारस्परिक काल्पनिक भय, द्वेष एवं सन्देहों को दूर कर समूहों एवं व्यक्तियों के कठोर अलगाव को विच्छिन्न कर देते हैं। इनका मतलब राजनीतिक समझौतों में अच्छी प्रकार स्वीकार किया गया है। शैक्षिक सिद्धान्त एवं व्यवहार की सीमाओं के अन्तर्गत इस सिद्धान्त को उपयोगिता पूर्वक लागू किया जा रहा है; इसके विपरीत उपयोग के कुछ व्यावहारिक पहलू निम्नांकित हैं:

(क) अन्तर्राष्ट्रीय शिविरों की, जहाँ विभिन्न राष्ट्रों के छात्र एवं शिक्षक सर्व-सामान्य कार्य और रहन-सहन के लिए एकत्र होते हैं, पहले से ही उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है। विभिन्न देशों के स्वयंसेवक उस जनता के लिए जिन्हें उनकी अत्यन्त आवश्यकता है एक साथ कार्य करते हैं। साधारणतया कार्य-योजनाएँ सुनियोजित होती हैं और कार्यक्रम बिना संयमित कठोरता के उनके चारों ओर क्रियान्वित होते हैं। युनेस्को की पुस्तिका कार्य-योजना के चुनाव में मुख्य तीन बातों की ओर बल देती है:

(१) कार्य शिविर संगठन का विशिष्ट उद्देश्य—शान्ति, शिक्षा, विशिष्ट समूहों को एकत्र करने के लिए तात्कालिक आवश्यकताओं, समन्वय एवं कार्य में भौतिक सहायता देना।

(२) प्राप्य साधन—स्टाफ, स्वयंसेवक, धन, उपकरण, सामग्री और

(३) स्थानीय श्रम परिस्थिति।

जब स्वयंसेवक अपने प्रथम सम्मेलनों में एकत्र होते हैं तो सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण सामान्यतः तनाव या बेचैनी के कुछ संकेत प्रदर्शित करते हैं लेकिन जल्दी ही जैसे वे अपने काम में व्यस्त हो जाते हैं, उनकी शक्ति और ध्यान जीवन की अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं वास्तविक समस्याओं पर केन्द्रित हो जाता है, यानी पददलित के कल्याण के लिए कार्य करना। परिणामतः नगण्य या राष्ट्रीय चेतना मानवता की वृहत्तर समस्या में परिणत हो जाती है। निश्चय ही समूह नेता द्वारा अभिनीत भूमिका एकान्तिक है क्योंकि बहुत कुछ उसके कौशल पर निर्भर करता है कि जिस प्रकार बहुजातीय लोगों की मानवता की सार्वभौमिक मंगल प्रेरणाओं में भाग लेनेवाले एक एकजातीय मानवता में बदल दिये जाये।

(ख) उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय शिविर में सहाध्याय करने से भी सांस्कृतिक दीवारें टूटती हैं। यह देखने योग्य है कि कितने कम समय में, अन्तर्राष्ट्रीय शिविर में उपस्थित होने वाले छात्र एवं शिक्षक विभिन्न देशों के लोगों एवं संस्कृतियों के प्रति जीवन्त समादर भावना लेकर वापस लौटते हैं। उनकी अल्पकालीन सगोष्ठियाँ (सेमिनार) विश्व समाज के लिए शिक्षा के विविध पक्षों का एक साथ अध्ययन

करने, 'राष्ट्र संघ एवं इसके विशेष अभिकरणों के विषय में शिक्षा' पर सामग्री तैयार करने और राष्ट्र संघ एवं युनेस्को के कार्यों एवं उद्देश्यों से सहभागियों को परिचित कराने के लिए एक अद्भुत अवसर प्रदान करती हैं। और कम से कम वे अन्तर्राष्ट्रीय रहन-सहन एवं जानकारी में अनुभव के प्रथम कोटि के अवसर सिद्ध होते हैं। वादविवाद एवं अवबोधन समझ के माध्यम से स्वयं एक दूसरे के प्रति मानवीय बन्धनों से सम्बद्ध अनुभव करते हैं और अपने देश लौटने पर लगभग सभी लोगों को सूचित करते हैं कि उनकी संकीर्ण एवं कट्टर राष्ट्रीय निष्ठाएं मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीय रहन-सहन के स्वस्थ अनुभव के अभाव के कारण थीं। युनेस्को ने अभी हाल ही में सूचित किया है कि जबकि वैज्ञानिक तथ्य एवं अन्वेषण तीव्रता से फैलते हैं तथा मानव जीवन में प्रवेश करते हैं, शैक्षिक आदर्श व्यवहार उतनी तेजी से नहीं फैलते; शायद मुख्यतः इसलिए कि शिक्षक स्वयं नये विचारों एवं विधियों का विरोध करते हैं, और प्राचीन से चिपके रहने में सुविधा का अनुभव करते हैं। इस उच्चस्तरीय संकेतात्मक निरीक्षण को देखते हुए शिक्षकों को क्रम से अन्तर्राष्ट्रीय सगोष्ठियों (सेमिनारों) में भेजने की उपयोगिता सिद्ध हो जाती है कि वहाँ उन्हें हितकर संदेश मिलेंगे जिससे उनके अहंवाद एवं विक्षिप्त राष्ट्रवाद के रोगों का उपचार होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की संस्थाएं विश्व चेतना की लहरों के अग्रभाग पर क्रमिक रूप से स्थापित हो रही हैं। यहाँ १९२१ में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय जन-महाविद्यालय (International Peoples College) एलसिनोर (डेनमार्क) का उल्लेख किया जा सकता है। अब यह विश्व के अधिकतम देशों से प्रौढ़ों को आमन्त्रित करता है और अन्तर्राष्ट्रीय चेतना एवं शिक्षा में गहराई से शिक्षित कर उन्हें लौटाता है। जन-महाविद्यालय द्वारा उपयोग में लाये गये माध्यम संगीत, शारीरिक कार्य एवं भाषा अध्ययन हैं। वैसे भाषा अध्ययन केवल भाषा-शास्त्रीय अध्ययन तक ही सीमित नहीं रखा गया है बल्कि इतिहास और सामाजिक सामग्रियों से सम्बद्ध रहता है जिससे दूसरे व्यक्तियों की विचारधारा से छात्रगण स्वस्थ सम्पर्क कर सकें।

(ग) जगत की विभिन्न संस्थाओं के बीच छात्रों एवं शिक्षकों का आदान-प्रदान स्थायी हो जाता है। छात्र और शिक्षकगण विभिन्न देशों में न केवल व्यक्तिगत जानकारी के लिए ही जाते हैं, बल्कि सांस्कृतिक राजदूतों के रूप में अपने देश के लोगों की तरफ से उनकी सद्भावना भी ले जाते हैं और बदले में अपने देश के लोगों के लिए उसी का एक वृहत हिस्सा लाते हैं। हमारे जैसे विशाल देश में जिसे अब भी एक पूर्णरूपेण संगठित देश के रूप में विकसित होना है, छात्रों एवं

शिक्षकों का विश्वविद्यालयों के बीच विनिमय अत्यधिक फलदायक सिद्ध होगा, क्योंकि वास्तविकता तो यह है कि संकीर्ण घेरे में अनुदारता वृहत् अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का कभी भी संचालन नहीं करती।

अपने शिक्षकों के अभिभावकत्व में विभिन्न राष्ट्रों के विद्यालयीय बालकों का विनिमय भी, यदि आवश्यक हो, एक-विश्व-चेतना को सुदृढ़ करने में दूसरा प्रभावोत्पादक कदम हो सकता है।

(घ) कुछ सप्ताहों की अध्ययन-यात्राएँ भी मानव-चेतना एवं सहानुभूति को व्यापक बनाने में गहरा प्रभाव डालती हैं। प्रथम कोटि के निरीक्षण, व्यक्तिगत सम्पर्क एवं समूह विवाद के अवसर प्रदान करने से समुचित रूप से जीवन परिवर्तनकारी अनुभव सिद्ध होते हैं। अतः हैजलिट के कथन में सत्य का अनुभव होता है कि “स्थान परिवर्तन के साथ हमारे विचार भी बदल जाते हैं; इतना ही नहीं, अपनी अवधारणाएँ और अनुभूतियाँ भी।”

अध्ययन-यात्राओं का संगठन करने में कुछ थोड़े से अभिकरण ही व्यस्त हैं। अमेरिकी युवक छात्रावास एवं विश्वविद्यालय इस विषय में अग्रणी रूप से भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं। दूसरे देशों तक इस प्रणाली के उदार विस्तार से पर-राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अम्यास में एक व्यापक कदम उठाया जा सकेगा।

व्यापक रूप से उपरोक्त माध्यम उनके अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों के फलस्वरूप सहभागियों को नई दृष्टि एवं अवधारणाएँ प्राप्त करने में सहायक होते हैं।

(३) पाठ्यक्रम—एक विश्व के प्रति विकासमान सामाजिक व्यवस्था को सन्तुलित बनाये रखने में विद्यालय एवं विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों को स्वस्थ ढंग से सुधारा जाना चाहिए। यद्यपि सामान्यतया पाठ्यक्रम अगम्य एवं सैद्धा-न्तीकारक नहीं होना चाहिए फिर भी उन्हें अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के हित में बालकों एवं युवकों के मन को पुनः प्रतिबन्धित करने के लिए पर्याप्त सम्भावनाओं से युक्त होना चाहिए। विभिन्न विषयों से सम्बन्धित निम्नलिखित संकेतों का उल्लेख उपयुक्त दिखाई देता है:

(अ) तुलनात्मक धर्मों का अध्ययन उचित लाभ प्रदान करने के लिए बाध्य है। विभिन्न विश्वासों के उत्तराधिकारियों में अधिक भ्रम एवं अविश्वास हैं, यह अधिकतर इसलिए है कि वे सम्पूर्ण धर्मों की आधारिक एकता से अनभिज्ञ हैं। विशिष्ट प्रतिबद्धता के कारण सार्वभौम धार्मिक मनोवृत्ति की, जिसमें ईश्वर के पितृत्व और मनुष्य के भ्रातृत्व की शिक्षा है, और इस वैज्ञानिक और अविश्वास के युग में हमारी शिक्षा में सभी धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के प्रचलन की अत्य-

अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। वस्तुतः धर्म मनुष्य को मंगलमय उद्देश्य से प्रभावित करने की अधिक क्षमताएँ रखता है। यदि हमारी शिक्षा शान्ति के पक्ष में धर्मों को अंकित करने में असफल रही है तो यह अफसोस की बात होगी।

सभी महान् धार्मिक नेताओं के स्मरण-दिवस किसी भेदभाव के मनाये जाने चाहिए। उनकी शिक्षाएँ शिष्यों के मन पर बुद्धिमत्ता से अंकित की जानी चाहिए। संमूचे रूप से धर्म के विषय में शैक्षिक कार्यक्रम का उद्देश्य शिक्षार्थियों के मन में धार्मिक वृत्ति निर्मित करना होना चाहिए। धार्मिक मनोवृत्ति ईश्वर एवं जीवन के लिए पवित्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चाहे यह बुद्ध की अहिंसा हो या ईसा का प्रेम, उनका भावात्मक स्तर पर एक ही अर्थ है। धर्म का यही सार्वभौमिक पक्ष है, जिसे पाठ्यक्रम एवं धार्मिक अभ्यासों द्वारा प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

(आ) भूगोल और इतिहास की शिक्षा में भी पुनः सुधार की अत्यधिक जरूरत है। दोनों विषयों से सम्बन्धित तथ्य एवं घटनाएँ स्थानीय एवं वर्गीय संकीर्ण रूपरेखा की अपेक्षा मनुष्य जाति के वृहत्तर अनुद्घुष्ट से प्रस्तुत की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए भौगोलिक तथ्यों का उल्लेख करते हुए, भूगोल के शिक्षक कृषिमूलक सामग्रियों के विषय में देशों की परस्पर निर्भरता की व्याख्या कर सकते हैं—किस प्रकार जरूरत के समय अतिरिक्त क्षेत्र से अभावग्रस्त क्षेत्र के लिए खाद्य भेजा जाता है, आदि। जेनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय विद्यालय ने भूगोल पढ़ाने की परम्परागत ढंग को तोड़ दिया है। प्रारम्भिक अवस्था में छात्रों को स्थानीय राष्ट्रीय मानचित्र की जानकारी कराने के बदले विश्वमानचित्र की जानकारी करायी जाती है और फिर विश्व-मानचित्र से स्थानीय एवं राष्ट्रीय मानचित्रों तक बढ़ा जाता है। छात्रों के मन पर इस दृष्टिकोण का गहरा प्रभाव पड़ता है कि उनकी जमीन गोलाखंड का लघु अंश मात्र है और अनेक तरीकों से वे जगत के विभिन्न स्थानों पर निर्भर हैं। एक शिक्षक समुचित रूप से समझा सकता है कि किसी देश में तब तक वर्षा नहीं होगी, यदि हवा दूर देशों से वाष्पकण न लेकर आये और इसके परिणामस्वरूप अकाल होगा। शिक्षकों का कर्तव्य है कि यथासम्भव भूगोल के रेखाचित्रों को इस ढंग से प्रस्तुत करे कि जगत चेतना और आकांक्षा एक सी है तथा स्थानीय सीमाएँ या तो ऐतिहासिक घटनाएँ हैं या सामाजिक रहन-सहन में सुविधा के उपकरण मात्र। अद्वितीय एवं विशिष्ट मानसिक बनावट वाली विभिन्न जातियों के गठन में भौगोलिक घटकों की परम्परामूलक अतिरेक की प्रवृत्ति का विरोध किया जाना चाहिए जिससे विकास-मान विश्व संस्कृति में संगठनकारी शक्तियों का उन्नयन हो सके।

इसी प्रकार इतिहास की व्याख्या भी अन्तर्राष्ट्रीय सामञ्जस्य के लाभ के लिए होनी चाहिए। इतिहास के सन्दर्भ में यह सिद्ध करना सम्भव होना चाहिए कि युद्ध एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष जैसा कि कुछ लोगों का मत है कि वांछनीय जैविक आवश्यकताएँ नहीं हैं, बल्कि मनुष्यों के विशिष्ट समूहों द्वारा निर्मित परिस्थितियाँ हैं। युद्ध के कारण, विशेष रूप से, आलोचनात्मक विश्लेषण सहित विवेचित किये जाने चाहिए। आर्थिक घटक, धार्मिक और राजनैतिक कट्टरपन, भय एवं अविश्वास कुछ प्रधान कारणों में से हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष एवं युद्ध के लिए जिम्मेदार हैं। इतिहास पढ़ाते समय शिक्षक का अनुद्भूत राष्ट्रीय इतिहास के साथ मानवता पर ध्यान केन्द्रित करना अवश्य होना चाहिए।

इतिहास और अन्य विषयों की पाठ्य-पुस्तकों को संशोधित करने की जरूरत है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास किया जा सके। युनेस्को शिक्षा विभाग ने शिक्षा-सामग्रियों एवं पाठ्य-पुस्तकों के विकास पर हाल में एक पुस्तक तैयार की है। पाठ्य-पुस्तकों के मूल्यांकन के लिए अन्य निकषों में से पुस्तक में निम्न-लिखित तत्त्व होने चाहिए :

न्यायप्रियता—अल्पसंख्यक समूह, अन्य राष्ट्र तथा जातियों के साथ न्यायपूर्ण ढंग से व्यवहार करना चाहिए तथा उनके योगदान को समुचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। विद्वत्ता, न्याय एवं नैतिकता का वही मापदण्ड है जो अपने देश पर लागू होता है और वही जिनसे परस्पर शत्रुता हो उन पर लागू किया जाना चाहिए। दुःखदायी तथ्यों एवं अवांछनीय चरित्रों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए लेकिन उचित विचारधारा के अनुसार उपस्थित करना चाहिए तथा विवादास्पद समस्याओं को वस्तुपरक रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। यदि दो या अधिक देशों के विद्वान तथ्यों पर या एक दूसरे के साथ महत्वपूर्ण घटनाओं की व्याख्या पर सहमत नहीं हो सकते तो विभिन्न दृष्टिकोणों के स्पष्ट कथन प्रस्तुत किये जाने चाहिए। पारिभाषिक शब्दों एवं मुहावरों से, जो पूर्वाग्रह, भ्रान्त कारणों और संघर्षों को विकसित करते हैं एवं दूसरे लोगों को चोट पहुँचाते हैं, बचना चाहिए।

विश्व चेतना—मानवीय स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा एवं भ्रातृत्व के आदर्शों पर जोर दिया जाना चाहिए। परस्पर मानव व्यवहार के नैतिक विधान एवं विश्व परिस्थितियों के लिए सामान्य दायित्व-बोध की महत्वपूर्ण आवश्यकता पर बल देना जरूरी है। सम्यता का विकास, मानव प्रगति की बाधाएँ, विश्व आदर्श एवं

नायक, विश्व अन्तर्निर्भरता एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एवं सहयोग के लिए जरूरत स्पष्ट कर दी जानी चाहिए।^१

अधिक स्पष्टता के लिए अमेरिका एवं जर्मन इतिहासकारों ने निम्नलिखित प्रस्ताव, जिसे वुन्सविक वर्कशाप कान्फ्रेंस की सभा में तैयार किया था यहाँ दृष्टान्त के तौर पर उल्लेखनीय है :

“अमेरिका निवासियों के दो आधारिक प्रस्ताव थे कि जर्मनी की इतिहास पाठ्य-पुस्तकों में शिक्षा, दर्शन, साहित्य, चित्रकला, संगीत, शिल्पकला, स्थापत्य कला में अमेरिकी संस्कृति की मूल उपलब्धियों और प्रजातन्त्र की घनात्मक समझ जैसा कि संयुक्त राज्य में इसे कल्पित एवं व्यवहृत किया गया है, स्वतन्त्रता एवं उत्तरदायित्व को अधिकाधिक स्थान दिया जाये। अगली मान्यता यह थी कि पाठ्य-पुस्तकों लोगों एवं उनके दैनिक जीवन पर जोर दें; उदाहरणार्थ, पारिवारिक जीवन, कार्य, विद्यालय, चर्च, मनोरंजन, जन-पुस्तकालय, जन-स्वास्थ्य। यह संकेत किया गया कि संयुक्त राज्य में नैतिक, धार्मिक और एक साथ प्रभावोत्पादक रूप से रहते हुए सांस्कृतिक समूहों की विविधता विश्वव्यापी आधार के उपयोग में लायी जा सकती है। यह सोचा गया था कि जर्मन युवक स्वतन्त्रता एवं उनकी व्यवस्था के लिए सतत संघर्ष में रत संयुक्त राज्य के क्रान्तिकारी उद्भव के अर्थ को समझने की चेष्टा करें। यद्यपि अमेरिकी गृहयुद्ध निश्चय ही अमेरिकी इतिहास की घटनाओं में से एक है जिसे उस काल का स्पर्श करते हुए जर्मन विद्यालय इतिहासों में प्रस्तुत किया जाता है परन्तु उनका प्रस्तुत विवेचन अधिकतर (Uncle Tom's Cabin) के प्रभाव के अन्तर्गत ही है। इस सम्बन्ध में किंचित-मात्र कोई भी प्रमाण नहीं है कि दक्षिण में कृषिमूलक सम्यता एवं उत्तर में अधिक औद्योगिक सम्यता का पारस्परिक संघर्ष विश्वजनीन राष्ट्रीय एकीकरण के लिए था। स्वतन्त्रता की चेतना का यह संघर्ष जैसे-जैसे समाज की क्रमिक सीमाओं के आधार पर पुनर्जन्म लेता गया, समानता, व्यक्तिवाद और आत्म-निर्भरता के सिद्धान्त ध्वनित एवं निरन्तर उदार होते गये, पर अमेरिकन इतिहास में सम्बद्ध सीमा की अवधारणा की चेतना के अल्प संकेत प्राप्त हैं। अमेरिकनों ने विश्व इतिहास की अनिवार्यता पर जोर दिया है जिससे कि सम्यता का पाश्चात्य

१. “A Model Plan for the Analysis and Improvement of Text-books and Teaching Materials as Aids to International Understanding.” (March 1949) pp. 9-10.

एवं प्राच्य विभाजन न रहने पाये। शैक्षिक रूप में अमेरिकनों ने इस बात पर पुनः बल दिया कि मानवों एवं उनकी रहन-सहन की परिस्थितियों पर अधिक जोर दिया जाए यद्यपि सेना और राजनीति को सापेक्ष रूप में भी देखना अनिवार्य है। यह भी सुझाव प्रस्तुत किया गया कि पाठ्य-पुस्तकों बालकों के लिए लिखी जायें कि बजाए इसके वे शिक्षक के लिए हस्तपुस्तिका के रूप में तैयार की गई हों। पाठ्य-पुस्तकों और शिक्षक शिक्षार्थियों को अवश्य मार्ग प्रदर्शित करे कि वे स्वयं इतिहास के एक अंग हैं और न कि मात्र दर्शक। फिर वे वर्तमान को समझने के लिए अतीत के अध्ययन के उत्तरदायित्व के बोध को अवश्य सम्प्रेषित करें, जिससे वे बेहतर भविष्य निर्मित करने में समर्थ हों।

“पाठ्य-पुस्तकों को रुचिकर एवं अधिक सजीव बनाने के लिए नाटकीय घटनाओं, दृष्टान्तों, जीवनीमूलक रेखाचित्रों एवं विवरणों आदि के उपयोग की भी सिफारिश की गई है....।

“जर्मनी के पक्ष से बल दिया गया कि संयुक्त राज्य के औद्योगिक विकास में विशेषतः १८५० के बाद मध्य पाश्चात्य में जर्मनी के भाग को स्वीकार किया जाना चाहिए। अमेरिकन प्रतिनिधि मंडल ने इसे स्वीकार किया और मान्यता के क्षेत्र को विस्तृत करते हुए ऐसी चीजों को भी शामिल किया, जैसे पेन्सिल्वानिया का समझौता, सत्रहवीं और अठारहवीं शतियों के तथाकथित पेन्सिल्वानियाई डचों के सुदृढ़ सांस्कृतिक लक्षण जो आज भी दृष्टव्य हैं। अमेरिकनों द्वारा अब्राहम लिंकन के चुनाव में ‘अड़तालीसवालों’ की निर्णायक भूमिका के प्रति ध्यान आकर्षित किया गया। जर्मनों ने जर्मन इतिहास के विवेचन में ‘जंगली प्रतिक्रियावादी और सैन्यवाद’ जैसे संवेगात्मक या प्रचारवादी शब्दों के प्रयोग का बहिष्कार करने की सिफारिश की।... आक्षेप लगाये गये कि अमेरिकन पाठ्य-पुस्तकों सन् १५०० ई० से १८०० ई० तक यूरोपीय राष्ट्रों का एक-एक कर विवेचन करती गईं, लेकिन इस प्रकार का विवेचन यूरोपीय आधार पर परस्पर सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता और समझ के साथ हस्तक्षेप करता है। यह प्रस्तावित किया गया कि १९वीं शती में जर्मन इतिहास के निरूपण में स्कीन और उदारवादी प्रजातांत्रिक प्रवृत्तियों के सुधारों के प्रति अधिक ध्यान देना चाहिए जो स्वयं में किसानों की प्रत्याशा एवं नगरों की स्वतन्त्रता की स्वीकृति को व्यक्त करते हैं।”^१

१. ‘History Text-books and International Understandings’ by Robert LaFollette in ‘Social Education’, May 1953, pp. 203-204.

विश्वविद्यालय स्तर पर इतिहास-पाठ्यक्रम के रूप में इतिहास के दर्शन को प्रस्तुत करना लाभदायक प्रतीत होता है। अर्नाल्ड टायनबी का विचार कि इतिहास एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है, इतिहास की गहनतम अवधारणा के स्पष्टीकरण और सम्पूर्ण मानवीय कार्यों में आध्यात्मिक एवं नैतिक लय को रेखांकित करने के लिए एक स्वस्थ दृष्टान्त के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है। इतिहास की विषय-वस्तु पर विचारपूर्ण मनन अनिवार्यतः अन्तर्राष्ट्रीय सामंजस्य के महत्व एवं उच्चता की उद्घोषणा करते हैं।

विद्यालय एवं कालेज के विभिन्न स्तरों के कार्यक्रमों में नागरिक शास्त्र एवं राजनीति विज्ञान का अध्ययन उसी प्रकार व्यापक होना चाहिए जिस प्रकार छात्रों को नागरिकता की रूपरेखा प्रस्तुत करते समय नागरिक शास्त्र के शिक्षक को चाहिए वह विश्वनागरिकता की अवधारणा को भी प्रस्तुत करे। निष्ठा, अधिकार और कर्तव्य न केवल राष्ट्रीय सीमाओं से बंधे हुए दिखलाये जाने चाहिए, बल्कि ऐसा स्पष्ट किया जाना चाहिए कि इनका सम्बन्ध सम्पूर्ण विश्व से है।

पाठ्यक्रम विषय के रूप में राजनीति शास्त्र संकीर्ण राष्ट्र विशेष एवं तत्सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन तक सीमित न रहे बल्कि सच्ची वैज्ञानिक चेतना से युक्त विषयों की व्यापकतर श्रेणी का स्पर्श करे, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अर्थ-व्यवस्था और सब के ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय नीतिशास्त्र जो वस्तुतः प्रथम दोनों को अपने अधीन रखे। आधुनिक समस्याओं का जिनका गहरा प्रभाव विश्व पर पड़ सकता है, अणुशक्ति की अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना को ध्यान में रखकर अध्ययन किया जाना चाहिए। राजनीति शास्त्र के छात्रों के लिए एक मूलभूत समस्या होनी चाहिए विश्व समाज के सिद्धान्त एवं विवरण पर काम करना। इससे उन्हें न केवल एक-विश्व दृष्टिकोण प्राप्त होगा, बल्कि निरंकुश सरकारों से विश्व सरकारतक मार्ग को सुविधाजनक बनाने में अधिक व्यावहारिक सहायता मिलेगी।

इसी प्रकार साहित्य को व्याकरणों के नियमों एवं शाब्दिक संगठनों के नीरस कार्य तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार का प्रयास अब समाप्तप्राय हो चुका है। इसे अधिकतर रचनात्मक रूप से समझा जाना चाहिए जिससे यह जीवित भावों एवं मूल्यों के प्रति नतमस्तक और मानवतावाद एवं विश्वबन्धुत्व पर आधारित हो। दर्शन शास्त्र की तरह इसे महान् सांस्कृतिक अनुशासन के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए जो न केवल तथ्यों एवं मान्यताओं को ही सूचित करे बल्कि समुचित रूप से सुन्दरतर और शुभतर अनुभूतियों को उत्पन्न करे जो मानवीय सम्बन्धों को वास्तविक अर्थ प्रदान करने में सक्षम हो।

विज्ञान के तकनीकी पक्षों के अतिरिक्त विज्ञान के अध्ययन सामाजिक जरूरतों एवं मानवता की आकांक्षाओं की पृष्ठभूमि में कल्पित किये जाने चाहिए। सांस्कृतिक तथ्यों एवं वैज्ञानिक आविष्कारों का आधुनिक स्कूल पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। सत्य की खोज में निरपेक्षता, धैर्य एवं अध्यवसाय के गुणों को सन्निहित किये हुए वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास ही लक्ष्य होना चाहिए। विज्ञान की सरल शुरुआतों से आज की प्रयोगात्मक पद्धति पर अत्यधिक आधारित ऐतिहासिक प्रगति को दिखाने के लिए और किस प्रकार इसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों एवं समझ के प्रति समर्पित है, यह पढ़ाया जाना चाहिए। विज्ञान के क्षेत्र में विविध आविष्कार, उदाहरणार्थ वायुयान, रेडियो और प्रिंटिंग प्रेस आदि द्वारा किस प्रकार अव्यवस्थित गोलाघों को समय एवं काल के अन्तर तथा मानवीय विचारों तक शीघ्रतम पहुँच को सुगम बना दिया है, छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत किये जा सकते हैं। मानवीय प्रयोजन के लिए विज्ञान की सेवाओं को प्रकाश में लाना सम्भव होना चाहिए—यथा औषधि का योगदान, गृह एवं निर्माण योजनाएँ आदि।

विज्ञान के सांस्कृतिक अध्ययन के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक सहयोग के महत्त्व एवं अनिवार्यता पर सम्यक जोर देना चाहिए; जिससे दुराव एवं अस्वस्थ प्रतियोगिता के विरुद्ध शिष्यों को वैज्ञानिक ज्ञान में विश्वबंधुत्व एवं सहयोग की भावना की अनुभूति हो! विश्व के अग्रणी विचारकों ने सोचना प्रारम्भ किया है कि जगत के वैज्ञानिकों की परस्पर सम्यक् समझ मानवता के प्रति उनके सम्मिलित उत्तरदायित्व को विकसित करने में सहायक होगी। उनका संयुक्त कार्य एवं सहभागी अनुभव ही है जो मनुष्य जाति की भौतिक एवं सांस्कृतिक वैभव को संचालित कर सकता है। इस प्रकार के मतों एवं तथ्यों को विज्ञान तथा उससे इतर विद्यार्थियों को विज्ञान के सांस्कृतिक पक्षों को पढ़ाते समय उदारतापूर्वक प्रस्तुत करना चाहिए।

यांत्रिकीय सम्यता के विकास के अन्तर्गत पाठ्यक्रम में दर्शन के अध्ययन को अधिक उदारतापूर्वक प्रस्तुत करने की वकालत अनुभूत हो रही है। शिक्षकों को सबसे ऊपर प्रारम्भ में ही जान लेना चाहिए कि अन्तिम विश्लेषण में दर्शन और विज्ञान में कोई विरोध नहीं है और वे अधिकतर एक दूसरे के पूरक हैं। दर्शन का अध्ययन, जैसा कि प्रथम अध्याय में संकेत किया गया है, सार्वभौमिकता एवं व्यापक सहृदयता के लिए मार्ग प्रदर्शित करने के लिए बाध्य है।

पाठ्यक्रम विषय के रूप में समाजशास्त्र का मामला दर्शनशास्त्र के समान्तर

ही है। समाज के एक वस्तुपरक अध्ययन के रूप में समाजशास्त्र अनेक पूर्वाग्रहों का उन्मूलन कर सकता है। यह उनके मस्तिष्क पर मनुष्य की प्रकृति एवं व्यवहार के सार्वभौमिक तत्त्वों, साथ ही परस्पर प्रगति के लिए व्यक्ति और समाज की सहयोगिता के महत्त्व को मुद्रित करता है। जातीय आदतों एवं पूर्वाग्रहों के विषय में समाजशास्त्रीय अध्ययन को पाठ्यक्रम में प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए, जिससे हमारे मार्ग की भ्रान्त धारणाएँ दूर हों और अन्तर्राष्ट्रीय समझ का प्रयत्न सुविधाजनक हो।

यह निर्विवाद है कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर स्वस्थ साहित्य शैक्षिक संस्थाओं में प्रचुर रूप में मौजूद हो, जिससे छात्र स्वयं उससे सुविधापूर्वक शिक्षा ग्रहण कर सके। छात्रों के विविध स्तरों के योग्य सुविधाजनक सुपाठ्य सामग्री का प्रायः अभाव है। इस कमी को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के विविध पक्षों पर प्रतियोगिता मूलक लेख लिखने के लिए शिक्षकों एवं प्रौढ़ छात्रों को निमंत्रित किया जा सकता है। इनमें से सर्वोत्तम लेख को व्यापक प्रचार के लिए प्रकाशित किया जा सकता है। अस्तु शिक्षा का नेतृत्व अन्तर्राष्ट्रीय समझ के क्षेत्र में विश्वबन्धुत्व के कदम को अधिकाधिक लक्षित करेगा। इसका अर्थ है कि सर्वप्रथम शिक्षक अपने को अवश्य शिक्षित करे। तीव्रता से विकासमान आधुनिक समाज की नई परिस्थितियाँ एवं समस्याएँ प्राचीन पूर्वाग्रह एवं अवधारणाओं के आधार पर सुलझायी नहीं जा सकतीं। बालकों एवं युवकों को विश्व समाज की व्यापकतर अवधारणा की ओर प्रेरित करने के लिए शिक्षकों को अत्यधिक रचनात्मक एवं साधनपूर्ण होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आरम्भ अवश्य ही परिवार एवं विद्यालय के स्तरों से होना चाहिए जहाँ ऐसे अनुभव प्राप्य हों जो व्यक्तिगत एवं अन्तर-समूह सम्बन्धों के संचालक हों। अशान्त घर एवं विद्यालय विश्व शान्ति के लिए सहयोगी घटक नहीं हो सकते। स्वस्थ राष्ट्रीय निष्ठाओं को बिना किसी तरह की हानि पहुँचाये, शिक्षकों का उद्देश्य विश्व-मानसिकता युक्त नागरिकों को निर्मित करना होना चाहिए। 'द नेशनल एजुकेशन एसोसियेशन' यु० एस० ए० ने अमेरिकनों के लिए दस संकेतों को एक नमूने के रूप में प्रस्तुत किया है जिन्हें सभी राष्ट्रों के विद्यालयों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समझ के आधारिक निर्देशन के विकास के लिए समुचित रूप से अपनाया जा सकता है :

१—विश्वमना अमेरिकन अनुभव करता है कि दूसरे विश्वयुद्ध से सम्यता का विनाश हो सकता है।

२—विश्वमना अमेरिकन एक शान्त जगत चाहता है, जिसमें स्वतन्त्रता और न्याय सबके लिए सुनिश्चित हो।

३—विश्वमना अमेरिकन जानता है कि मनुष्य की प्रकृति में कोई भी ऐसी चीज नहीं है जो युद्ध को अनिवार्य बना दे।

४—विश्वमना अमेरिकन विश्वास करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय समझ प्राप्त करने में शिक्षा एक सशक्त उपकरण सिद्ध हो सकती है।

५—विश्वमना अमेरिकन जानता-समझता है कि दूसरे देशों में लोग कैसे रहते हैं और सर्व-सामान्य मानवता को मान्यता देता है जिसमें संस्कृति-गत विभिन्नताएँ समा जाती हैं।

६—विश्वमना अमेरिकन जानता है कि असीमित राष्ट्रीय प्रभुसत्ता विश्व-शान्ति के लिए एक खतरा है, इसलिए सभी राष्ट्रों को शान्ति एवं मानवीय प्रगति करने के लिए अवश्य आपसी सहयोग देना चाहिए।

७—विश्वमना अमेरिकन जानता है कि आधुनिक यांत्रिकी सुरक्षा की समस्या हल करने का व्रत लिये हुए है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग सभी मनुष्यों के लिए कल्याण की वृद्धि में योगदान दे सकता है।

८—विश्वमना अमेरिकन मानवता के कल्याण के लिए गहरी दिलचस्पी रखता है।

९—विश्वमना अमेरिकन विश्व कार्यों में सतत रुचि रखता है। वह यथाशक्ति अपने निरीक्षण, क्षमता एवं कौशल से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के विश्लेषण में स्वयं को व्यस्त रखता है।

१०—विश्वमना अमेरिकन विश्वशान्ति की व्यवस्था बनाये रखने के लिए सहयोगी है जिससे सभी के लिए स्वतन्त्रता और न्याय सुरक्षित हो।

अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी 'कोई दृष्टिकोण राष्ट्र संघ के एक अभिकरण, युनेस्को को सूचित करना पड़ता है। शिक्षकों एवं छात्रों को इस अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षिक अभिकरण के क्रियाकलापों एवं उद्देश्यों से पूरी तरह परिचित होना चाहिए। युनेस्को पाँच मुख्य विधियों से कार्य करता है' :

१—भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में यह विशेषज्ञों की विश्वव्यापी बैठकें बुलाता है, वैज्ञानिक खोजों का प्रकार करता है और विभिन्न योजनाएँ तैयार करता है।

२—समाज विज्ञानों में इसका कार्य अधिकतर वही है। इसका उद्देश्य है, आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर वैज्ञानिक पद्धति लागू करना तथा अध्ययन तकनीकों एवं उपलब्धियों को प्रकाशित करना।

३—सांस्कृतिक क्रियाकलापों में युनेस्को कलाकारों, संगीतज्ञों, लेखकों और अन्य रचनात्मक कार्यकर्ताओं के सहयोग को आगे बढ़ाता है। उदाहरण के लिए कला के विकास को उत्साहित किया गया है, कला-सामग्रियाँ सुरक्षित रखी गई हैं और कला-कौशलों और परम्पराओं का प्रदर्शन किया गया है।

४—व्यक्ति विनिमय विभाग विदेशों की यात्रा का अध्ययन एवं कार्य परिस्थितियों के आँकड़े प्रदान करता है। यह अपनी ओर से एवं अपने प्रति विश्वास रखने वालों की ओर से छात्रवृत्तियों का प्रबन्ध करता है।

५—इसके सम्प्रेषण विभाग का अभिप्राय प्रत्येक स्थान के लोगों को उनके अधिकार सूचित करना है। युनेस्को जन-माध्यम के उपयोगों एवं सुविधाओं का निरीक्षण करता है एवं जहाँ विपरीत प्रभाव होते हैं, उन्हें रोकता है। वह राष्ट्रों को सम्प्रेषण के विषय में शिक्षा देता है। यह सभी प्रकार विश्वव्यापी समाचारों एवं मत-निर्णयों के लिए सामग्री संग्रह करता है।

सहायक पुस्तकें :—

1. Christian O. Arndt and Samuel Everett (Editors): Education for a World Society, Harper and Brothers, Publishers, New York.

2. F. S. C. Northrop: The Meeting of the East and West, The Macmillan Company, London (1946).

3. National Education Association, Washington D. C.: Education for International Understanding in American Schools.

4. National Council for the Social Studies, Washington D. C., Citizenship for a New World.